* ओ३म् *

महर्षि कणाद प्रणीत

वैशेषिक दर्शन

परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८ स्वामी
अनुभवानंद सरस्वती जी के शिष्य
श्री स्वामी दर्शनानन्द जी सरस्वती
कृत अनुवाद सहित।

प्रकाशक—
प० शङ्करदत्तशर्मा

प० शिवशर्मा द्वारा सम्पादित।

—मुद्रक—
नेमीचन्द जैन,
शर्मा मशीन प्रिंटिङ्ग प्रेस मुरादाबाद।

द्वितीय संस्करण १००० | सन् १९२४ | मूल्य १॥)

* ओ३म् *

॥ विज्ञप्ति ॥
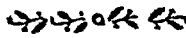
सब सज्जनों को विदित हो कि इस ग्रन्थ का भाषानुवाद प० शिवशर्मा आदि कई महानुभावोंने किया है। जिस में अधिकांश प० शिवशर्मा जी का है। मूल अनुवाद उर्दू में स्वर्गीय श्री स्वामी दर्शनानन्द जी महाराज का किया हुआ है, जिनकी प्रौढ़तर्क शैली से आर्य जगत् भली प्रकार परिचित है। इस अनुवाद में भाषा की शैलीके अनुसार कहीं २ शब्द परिवर्तन अवश्य हुआ है, पर स्वामी जी के भाव और आशय में कहीं हस्तक्षेप नहीं कियागया।

यह अनुवाद सर्वसाधारण में ऐसा रुचिकर हुआ कि प्रथम संस्करण की १००० प्रतियां अल्प काल में ही निकल गईं। अब यह दूसरा संस्करण छुपाया जाता है, आशा है कि इससे दार्शनिक साहित्य का उद्धार और जन साधारण का उपकार होगा।

विनीत—

शङ्करदत्त शर्मा

वैदिक पुस्तकालय

मुरादाबाद,

॥ ओ३म् ॥

वैशेषिक दर्शन

हिन्दी अनुवाद सहित

प्रस्तावना।

संस्कृत पदार्थ--विज्ञान में यह पुस्तक सबसे अधिक प्रमाणिक है। जहां तक विचार किया जाताहै इससे अधिक उत्तम पदार्थ विज्ञानका पुस्तक मिलना असम्भव है। इस ग्रन्थके रचयिता का मुख्य उद्देश्य यह है कि इस को पढ़ने वाला प्रत्येक वस्तु के तत्त्व को जान कर अपना अभीष्ट सिद्ध करे। क्योंकि सांसारिक पुरुष इस बात को नहीं जान सकते कि दुःख का कारण क्या है इस ही प्रकार सुख कैसे प्राप्त हो यह भी जानने में असमर्थ रहते हैं। यह उन की अल्पज्ञता का कारण है। यह जानना भी अत्यन्त कठिन है कि आत्मा के अनुकूल क्या वस्तु है और प्रतिकूल क्या? इस कारण रात दिन। कठिन परिश्रम करनेपर भी दुःखों से निवृत्त नहीं होते। इन सारी बातों से विदित होता है कि संसारको इस रोगका निदान ठीक २ ज्ञात नहीं। पश्चिमीय विद्वानों ने साइन्स के विषय में जितना अन्वेषण किया है वह सब प्राकृतिक है, उससे आत्मिक ज्ञान किञ्चिन्मात्र भी नहीं होता। दूसरे उन का ज्ञान कार्य पदार्थों का है जिससे उन अनादि सिद्ध तीन पदार्थों का कुछ भी ज्ञान नहीं होता। जिनको-ईश्वर-जीव-प्रकृति कहते हैं और जो होना आवश्यक है अतः सामयिक साइन्स के जानने वालों को, प्राकृतिक वस्तुओं के अतिरिक्त आत्मिक लाभ कुछ भी नहीं। वह ज्ञान दुःख दूर करने का कारण नहीं हो सकता। इसलिये कि दुःख का कारण प्रकृति का सम्बन्ध है। जिस वस्तु के सेवनसे रोग की अधिकता होती है, उस ही के सेवन से रोग दूर नहीं होसकता। संसार में दुःख और सुख

दोनों ही के गुण विपरीत देखे जाते हैं, अतः दोनों का कारण एकही नहीं हो सकता क्योंकि एक वस्तु में दो विरुद्ध गुण एकही समय नहीं रह सकते। जब तक दूसरी वस्तु का संयोग न हो तब तक एक ही प्रकार की वस्तु से विरुद्ध गुण उत्पन्न नहीं हो सकता अतः केवल जीवात्माही दुःख और सुखका अधिष्ठान नहीं हो सकता। यदि यह कहा जावे कि जीवात्मा का स्वाभाविक गुणही दुःख है, तबतो उसका दुःख किसी प्रकार दूर ही नहीं होसकता। क्योंकि स्वाभाविक गुण का नाश हो नहीं सकता। यदि उसका गुण सुख मानाजावे तो उसको सुखका यत्न नहीं करना चाहिये क्योंकि वह तो नित्य ही सुखी रहना चाहिये। जबकि जीवात्मा को दुःख दूर करने का और सुख के प्राप्त करने का यत्न करते देखते हैं तो विदित होता है कि जीव सुख और दुःख दोनों से पृथक् है, और ये दोनों गुण जीवात्मा में किसी अन्य वस्तु के आए हैं। इन दोनों के आने का कारण भी एक नहीं हो सकता, क्योंकि इन दोनों के गुण विरुद्ध हैं। इसलिये इन दोनों के अधिष्ठान भी जीवात्मा से कई विरुद्ध वस्तु हैं जिनके गुणोंमें भेद हैं। और जबकि दुःखसे कोई हानि और सुखसे लाभ होता है तो जीवात्मा के साधर्म्य वैधर्म्य और गुण वाली दो वस्तुएं सिद्ध हुईं। जो जीवात्मा के अनुकूल है उसके सम्बन्ध से सुख, और जो प्रतिकूल है उसके सम्बन्ध से दुःख प्राप्त होता है। इसलिये जीवात्माको उचित है कि साधर्म्य और वैधर्म्य का ज्ञान प्राप्त करे। बिना इस ज्ञान के प्राप्त किये कभी भी उद्देश्यपूर्ति नहीं हो सकती। सारे कर्मों का मूल यथार्थज्ञान है। बिना कर्म के फल कैसे प्राप्त हो सकता है? इसलिये महात्मा कणाद ने यह शास्त्र बनाया है कि जिस के द्वारा प्रत्येक वस्तु का यथार्थ ज्ञान हो जावे। इस शास्त्र में १० अध्याय हैं प्रत्येक अध्याय में दो आह्निक हैं। इस शास्त्र के पढ़ने वाले को आत्मिक और शारीरिक दोनों ही लाभ प्राप्त होंगे, इसी कारण यह देवनागरी अनुवाद आर्यभाषा के जानने वालों के लाभार्थ किया गया है परन्तु जबतक न्यायदर्शन भली प्रकार न समझ लिया जाये तब तक यह शास्त्र सरल प्रतीत नहीं होगा, क्योंकि शास्त्र परम्परा में न्यायदर्शन सबसे पहिला शास्त्र है, और यह वैशेषिक दूसरा शास्त्र है।

अनुवादक—

ओ३म्

वैशेषिक दर्शन।

प्रथमाध्याय।

प्रथम आन्हिक।

अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः ॥१॥

अर्थ—महात्मा कणाद जी कहते हैं कि प्रमाण इत्यादि सोलह पदार्थों के जानने के अनन्तर, प्रमेय ज्ञान की आवश्यकता है। क्योंकि धर्म के ज्ञानके विना अर्थ, काम और मोक्ष का ज्ञान होना और उस का प्राप्त होना असम्भव है। इसलिये सबसे पहिले धर्म की व्याख्या करते हैं। अर्थात् धर्म क्या वस्तु है इसका विवरण करके सर्व साधारण को, धर्म के जांचने के लिये अधिकारी बनाते हैं। क्योंकि जब तक किसी स्थान तक पहुंचने के लिये मार्ग का ज्ञान न हो, वा किसी वस्तुके गुण का ज्ञान न हो, तब तक उस स्थान व वस्तु का पाना असम्भव है। इस लिये दुःख के दूर करने का उपाय जो धर्म है, उसकी व्याख्या करते हैं। वा ऐसा समझना चाहिये कि जीवन के प्रश्न के अनन्तर उसके उत्तर में धर्म की व्याख्या करते हैं। इस सूत्र में "अथ" शब्द का अर्थ "मङ्गल" भी है।

प्रश्न—विज्ञान और धर्म का क्या सम्बन्ध है? यदि यह पुस्तक धर्म शास्त्र होता तब तो इसमें धर्म की व्याख्या की आवश्यकता होती; परन्तु यह पुस्तक तो पदार्थ विद्या का है, इस में धर्म की व्याख्या की क्या आवश्यकता थी?

उत्तर—जबकि प्रत्येक विद्या का जानना दुःखों के दूर करने के लिये है, और दुःखों का दूर होना धर्मानुष्ठान से होता है क्योंकि पाप से दुःख और पुण्य से सुख होता है, इसलिये प्रत्येक पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करना भी धर्म ही के लिये है जिससे दुःख से छूटकर सुख प्राप्त कर सकें।

प्रश्न—धर्म किसको कहते हैं?

उत्तर–यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः॥२॥

अर्थ—अभ्युदय—तत्वज्ञान अर्थात् जिससे प्रत्येक वस्तु का यथार्थ ज्ञान हो और मुक्ति, ये दोनों जिससे प्राप्त हों उसे "धर्म" कहते हैं। वा इस प्रकार भी इसका अर्थ हो सकता है कि तत्वज्ञान के द्वारा जो दुःख दूर करने का कारण है उसे "धर्म" कहते हैं।

प्रश्न—तत्वज्ञान के कहनेकी क्या आवश्यकता थी? क्योंकि "जिससे मुक्ति हो जावे वही धर्म है" ऐसा कह देना पर्याप्त था।

उत्तर—यदि ऐसा कहते कि जिससे मुक्ति हो जावे वह धर्म है, तो पहिले धर्म करना पड़ता तदनन्तर मुक्ति होती वा न होती। ऐसी अवस्था में अधर्म को धर्म कह सकते धर्म और अधर्म करने की पहचान न रहती, केवल फल मिलने पर ही जान सकते जिससे लाखों मनुष्यों के जीवन व्यर्थ ही जाते। द्वितीय कारण यह भी है कि यह ईश्वरीय नियम है कि जो देख भाल कर चलता है वह अपने अभीष्ट स्थान पर पहुंच जाता है। यदि उल्टा कार्य किया जावे तो हानि के अतिरिक्त लाभ कुछ नहीं होता। जैसे कोई कहे कि पहले चलकर देख लो, यदि जहां पहुंचना है वह स्थान नहीं मिला तो पुनः लौट आना। इसमें जो समय जाने और आने में लगा वह तो व्यर्थ ही गया न। इस लिये ऋषि बताते हैं कि जो प्रत्येक वस्तु के यथार्थ ज्ञानद्वारा मुक्ति का साधन विदित हो वही "धर्म" है।

प्रश्न—जबकि मनुष्य अल्पज्ञ है तो किसी वस्तु का ज्ञान होने पर भी यह निश्चय कैसे हो कि यह यथार्थ ज्ञान है?

उत्तर—यदि वह ज्ञान वस्तु के यथार्थ ज्ञान के विरुद्ध है तो वह तत्वज्ञानही नहीं हो सकता इसलिये उसके द्वारा मुक्ति न होगी।

प्रश्न—जबकि यह अल्पज्ञ जीवात्मा एक नगर की वस्तुओं को भी सम्यक्तया नहीं जान सकता तो सारी ही वस्तुओं का तत्त्व ज्ञान होना तो असम्भव है। और जब तत्त्वज्ञान ही नहीं हो सकता तो मुक्ति किस प्रकार होसकती है? इसलिये यह लक्षण ही असम्भव होने से दूषित है।

उत्तर–तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् ॥ ३ ॥

अर्थ-यद्यपि जीवात्मा का ज्ञान सान्त है, तथापि उस में दूसरे की सहायता लेने का गुण पाया जाता है।
ज्ञान से जो वस्तु किसी दूसरे ने देखी है, उस देखने वाले से सुनकर जीव अपने दिलमें उसका चित्र खेंच सकता है। अतः तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के लिये, जो ईश्वरीय ज्ञान वेद है, वही प्रमाण है। साराँश यह है कि यह आत्मा परामत्मा से तत्व ज्ञान प्राप्त करसकता है।

प्रश्न-यदि "तत्" शब्द से धर्म को ग्रहण होतो क्या हानि है ?

उत्तर-ऐसी अवस्था में तत्त्वज्ञान जिसको असम्भव बताया गया था, और तत्त्वज्ञान के द्वारा मुक्ति दिलाने वाले का नाम था, और तत्वज्ञान के असंम्भव होजाने से धर्म संदिग्ध अवस्था में प्रमाण की अपेक्षा रखता था। जो धर्म अपनी सत्ता को प्रमाणित करने में किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा रखता है, वह वेदों के लिये प्रमाण होने में कैसे समर्थ हो सकता है। इसलिये "तत्" शब्द का अर्थ ईश्वर ही हो सकता है।

प्रश्न-क्या ईश्वर अपनी सत्ता और वेदों के कर्त्ता होने में किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं रखता ? क्योंकि बहुत से लोग ईश्वर को नहीं मानते, और वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानने वाले भी बहुत कम हैं। इसलिये "तत्" शब्द से ईश्वर का अर्थ लेना ठीक नहीं।

उत्तर निस्सन्देह यह बात ठीक है कि इस समय बहुत कम लोग ईश्वर को मानते हैं और वेदों को भी ईश्वरीय ज्ञान बहुत कम लोग मानते हैं; परन्तु जिस समय यह शास्त्र रचा गया था उस समय सब ही ईश्वर और उसके ज्ञान वेदों को मानते थे। दूसरे यह भी है कि इससे पहिले न्यायशास्त्र में यह बात अच्छी तरह सिद्ध करदी गई है कि ईश्वर की सत्ता अवश्य है और वेद उसका ज्ञान है।

प्रश्न-वेदों में बहुत से दोष हैं जिनके कारण उनका प्रमाण नहीं माना जा सकता क्योंकि उस में अनृत, व्याघात और पुनरुक्त दोष हैं। इसलिये उनको ईश्वरीय ज्ञान नहीं मान सकते।

उत्तर-वेदों में इस प्रकार के कुछ भी दोष नहीं हैं; यह बात न्याय दर्शन के शब्द प्रमाण परीक्षा में अच्छे प्रकार पुष्ट कर चुके हैं।

यहां फिर दुहराकर लिखना व्यर्थ है। यहां तक ऋषि ने शास्त्र रचना का उद्देश्य बतलाकर आगे पदार्थ विद्या का आरम्भ किया है।

तत्वज्ञान के वास्ते, सिवाय वेद के कोई दूसरा प्रमाण नहीं होसकता क्योंकि वेद का बनानेवाला ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वव्यापक है। जो जहां होता है वह वहां के हाल को अच्छी तरह जान सकता है ईश्वर, जबकि, सर्वव्यापक है तोही सारी वस्तुओं का यथार्थज्ञाता है। इसलिये ईश्वर के सिवाय और कोई सर्वव्यापक नहीं अतः वह सर्वज्ञ है। ईश्वर के सर्वज्ञ होने से उसका ज्ञान वेद है। वह तत्त्वज्ञान के लिये प्रमाण समझा जाना चाहिये। और जो ज्ञान वेदानुकूल है वही तत्त्वज्ञान है। जो वेद के विरुद्ध है वह तत्वज्ञान नहीं।

प्रश्न-सूत्र में 'तत्' शब्द है, तुमने उससे ईश्वर अर्थ कैसे लिया?

उत्तर-'तत्' शब्द से दोही अर्थ लिये जा सकते हैं-१ ईश्वर २ धर्म क्योंकि तत् सर्वनाम है जो वेदों के कर्त्ता के लिये है। इस लिये 'तत्' शब्द वेदों के रचयिता की ओर संकेत करता है वेदों का बनाने वाला ईश्वर है, यह बात सारे ऋषियों ने मानली है इसलिये तत्-शब्द का अर्थ ईश्वर लिया गया। दूसरे जिस प्रकार न्याय भाष्य में शब्द प्रमाण की परीक्षा के समय वेदों का ग्रहण है इसी तरह इस स्थल पर भी ईश्वर के लिये तत्-शब्द ग्रहण किया गया है। वहां पर सर्वोत्तम-शब्द प्रमाण की परीक्षा अभीष्ट थी इसी प्रकार यहां पर सर्वोत्तम आप्तवचन प्रकट करने का आशय है। आगे चलकर जो ऋषि ने वेदों के विषय में लिखा है, उससे भी प्रमाणित होता है कि यहां 'तत्' शब्द से ईश्वर ही का ग्रहण है।

प्रश्न-यदि हम वेदों का कर्त्ता ईश्वर को न मानें तो 'तत्' शब्द से ईश्वर का ग्रहण कैसे होगा? क्योंकि हम वेद के बनाने वाले किसी ऋषि का ग्रहण करेंगे।

उत्तर-वेद ऋषियों के हृदय में प्रकट हुये हैं और वे ऋषि संख्या में चार हैं इस वास्ते 'तत्' शब्द से चारों का ग्रहण कर नहीं सकते। किसी एक की विशेषता सूत्र में विद्यमान है, इस लिये 'तत्' शब्द से कोई ऋषि नहीं लिया जासकता।

धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ॥ ४ ॥

अर्थ-धर्म, विशेष से उत्पन्न द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छः पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्य के ज्ञान से तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है उससे मुक्ति होती है।

प्रश्न-इस प्रकार का तत्त्वज्ञान कैसे होसकता है?

उत्तर-वैशेषिक दर्शनमें इस प्रकार के ज्ञान का उपदेश है, और वह ज्ञान मुक्ति का कारण है, क्योंकि जिससे किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान हो वही तत्त्वज्ञान है।

प्रश्न-वैशेषिक शास्त्र और मुक्ति से क्या सम्बन्ध है?

उत्तर-यह शास्त्र मुक्ति का कारण बताता है, बस यह कारण रूप ही इस शास्त्र का सम्बन्ध है।

प्रश्न-शास्त्र और तत्त्वज्ञान में क्या सम्बन्ध है?

उत्तर-शास्त्र और तत्त्व ज्ञान में विषय और विषयी (जिस में विषय रहैं) का सम्बन्ध है। शास्त्र विषयी है और तत्त्वज्ञान विषय है। इसही को प्रतिपादक और प्रतिपाद्य भी कहते हैं।

प्रश्न-मुक्ति और तत्त्वज्ञान में क्या सम्बन्ध है?

उत्तर-मुक्ति और तत्त्वज्ञान में कार्य और कारण का सम्बन्ध है तत्त्वज्ञान कारण है और मुक्ति कार्य है।

प्रश्न-द्रव्य आदि पदार्थों और इस शास्त्र में क्या सम्बन्ध है?

उत्तर-शास्त्र पदार्थों का वर्णन करता है अतः शास्त्र ज्ञापक है और पदार्थ ज्ञेय हैं। इस प्रकार के सम्बन्ध के ज्ञान प्राप्त करने के लियेही मुक्ति की इच्छा रखने वाले (मुमुक्षु) इस शास्त्र को पढ़ते हैं।

प्रश्न-मुक्ति किसको कहते हैं?

उत्तर-दुःख का बीज सहित नाश हो जाना मुक्ति कहाती है।

प्रश्न-कुछ लोग कहते हैं कि दुःख के अत्यन्ताभाव को मुक्ति कहते हैं अर्थात् तीनों कालों में दुःख न रहना मुक्ति कहाती है।

उत्तर-मुक्ति का अर्थ "छूटना" है। जो तीन काल में कभी बन्धन में आया ही न हो उसका "छूटना" कैसा? क्योंकि जब पहि-

ले जीव फँसले तब तो छूटे । जबकि छूटने से पहिले बँधा था एवं दुःखी भी था तो दुःख का अत्यन्ताभाव कैसे हो सकता है ? किसी असम्भव का अत्यन्ताभाव हो सकता है । जो किसी काल में विद्यमान हो, उसका अत्यन्ताभाव नहीं हो सकता इसलिये आत्मा में दुःखका अत्यन्ताभाव नहीं हो सकता किन्तु जड़ वस्तुओं में हो सकता है मुक्ति में दुःखका अत्यन्ताभाव मानने वाले जीव की मुक्ति न मानकर, जड़ पदार्थों की मुक्ति कह सकते हैं ।

प्रश्न-यदि मुक्ति में दुःख का अत्यन्ताभाव नहीं मानते तो "दुःखे नात्यन्त विमुक्तश्चरति" इस वाक्य का क्या अर्थ होगा ? क्योंकि इसका पदार्थ तो यही हुआ कि "दुःख से बिलकुल छूटकर विचरता है" ।

उत्तर-छूटने की चर्चा होने से इसके अर्थ ये होंगे कि "दुःख के बीज से रहित होकर विचरता है" क्योंकि मुक्त आत्मा को दुःख और उसके बीज मिथ्याज्ञान इन दोनों से ही कुछ सम्बन्ध नहीं रहता । और जबकि दुःख का अत्यन्ताभाव होना ही असम्भव है और इस अवस्था में जीव के उद्देश्य का भी नाश होजाता है अतः दुःख के अत्यन्ताभाव से मुक्ति कहना सत्य नहीं । और भविष्यत् में दुःख के स्वयं नाश हो जाने से, दुःख नाश होना मुक्ति नहीं, किन्तु दुःख उत्पन्न न होना ही मुक्ति है ।

प्रश्न-मनुष्य की इच्छा दुःख के दूर करने की नहीं होती, किन्तु यह समझ कर कि दुःख की विद्यमानता में सुख प्राप्त नहीं होगा, दुःख दूर करने का यत्न करता है ।

उत्तर-यह सत्य नहीं । क्योंकि इसके विरुद्ध भी युक्ति काम देती है । सुख की इच्छा दुःख के दूर करने के लिये होती है । क्योंकि देखा जाता है कि सुख के विरुद्ध दुःख से छूटने के लिये विष खाते हैं और फांसी दे लेते हैं । उस विष के खाने और फांसी दे लेने में सुख की इच्छा तो होती ही नहीं, केवल दुःख से छूटने की इच्छा होती है ।

प्रश्न-जबकि पुरुषार्थ या परिश्रम किसी वस्तु को जानकर उसके लिये कियाजाता है परन्तु दुःख के न होने को जो मुक्ति

कहते हैं, उस मुक्ति को तो किसी ने जाना नहीं अर्थात् दुःख के अभाव का किसी को ज्ञान नहीं। इसलिये मुक्ति कहना ठीक नहीं, यदि विना जाने ही हुए किसी वस्तु की इच्छा हो तो मूर्च्छावस्था में इच्छा क्यों नहीं होती ?

उत्तर-जबकि दुःख का अभाव श्रुति और अनुमान से सिद्ध है, तो वह विना जाना हुआ नहीं जो उसकी इच्छा होती है। एक श्रुति की तो इस सूत्र में चर्चा हो चुकी अनुमान यह है कि दुःख की समानता का अत्यन्ताभाव हो जाता है उसके लिये युक्ति यह है कि उत्पत्ति होने से दीपक की किरणों का नाश हो जाता है और भले प्रकार दुःख के नाश से एक क्षण के लिये उसका प्रत्यक्ष भी होता है योगी लोगों को योगशक्ति से आगामि दुःख के नाश का भी ज्ञान होजाता है।

प्रश्न-जबकि दुःख और सुख दोनों के आय और व्यय बराबर हैं अर्थात् हानि और लाभ समान हैं अतः यह मनुष्य जन्म का उद्देश्य नहीं हो सकता।

उत्तर-जो मनुष्य दुःख के भय से थोड़े से सुखको छोड़ देते हैं वही सांसारिक इच्छाओं से बचकर मुक्ति प्राप्त करते हैं। दुनियां में दुःख बहुत और सुख थोड़ा है अतः दुःख के दूर करने का यत्न अवश्यकरना चाहिये।

प्रश्न-यदि दुःख की अपेक्षा सुख न्यून भी, मान लिया जावे तो भी दुःख का दूर करना पुरुषार्थ नहीं, क्योंकि आने वाले दुःख को दूर करना तो असम्भव है, जो दुःख व्यतीत हो चुका वह तो गया हीं, और जो दुःख वर्तमान है वह पुरुषार्थ से नाश होगा, इस समय नाश हो नहीं सकता।

उत्तर-अनागत दुःख का नाश करना ही परम पुरुषार्थ है दुःख के कारण के दूर हो जाने से उसके कर्म का नाश हो जाना सम्भव है। मिथ्याज्ञान ही इच्छा आदि दोषों के साथ मिलकर दुःख का कारण होता है। और उस मिथ्याज्ञान का नाश आत्मा का यथार्थ स्वरूप जानने से होता है। और तत्वज्ञान योग की रीति पर चलने से होता है अतः योग की रीति पर चलना आवश्यकीय है।

प्रश्न—दुःख का नाश मुक्ति नहीं किन्तु नित्य सुख का होना ही मुक्ति है।

उत्तर—नित्य सुख को मुक्ति मानना ठीक नहीं, क्योंकि प्रथम तो नित्य सुख के मानने में कोई युक्ति ही नहीं, दूसरे यदि जीवात्मा को नित्य सुख प्राप्त होना मान भी लिया जावे तो मुक्त जीव और बद्ध जीव में कोई अन्तर नहीं रहेगा।

प्रश्न—परमात्मा में जीवात्मा का लय अर्थात् मिलजाना मुक्ति है।

उत्तर—यह भी ठीक नहीं। क्योंकि यदि मिलजाने का अर्थ दोनों का एक होजाना लिया जाय तो नितान्त भूल है। क्योंकि दो विरुद्ध गुणवाली वस्तुएं एक हो नहीं सकतीं यदि लिङ्ग शरीर का पृथक् होजाना ही एक मानाजावे तो ग्यारह इन्द्रियों के नाश हो जाने से दुःख की सामग्री का नाश होना ही मानना पड़ेगा। इसलिये दुःखका नाश होनाही मुक्ति है इन्द्रियों के पृथक् होने से अविद्या की पृथक्ता और अकेले आत्मा का रहना ही मुक्ति है। यह एक दण्डी का मत है।

आत्मा ज्ञान सुख वाला है, परन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि आत्मा ज्ञान और सुख वाला है इस में कोई प्रमाण नहीं। और जो श्रुति प्रमाण में दी जाती है वह यह है—नित्य विज्ञान आनन्द ब्रह्म है इस से ब्रह्म, ज्ञान वाला सिद्ध होता है। जीवात्मा कभी ऐसा नहीं कहता कि "मैं सुख हूँ या ज्ञान हूं"; किन्तु इस प्रकार कहता है कि "मैं सुखी हूं" "मैं जानता हूं" यदि जीव को भी ब्रह्म ही मानाजावे तो ब्रह्म के उस समय भी ज्ञान और आनन्द वाला होने से मुक्त और फंसे जीव एक हो जायगे जब कि अविद्या का नाश करना मनुष्य जीवन का परमोद्देश्य है ब्रह्म के नित्य होने से उस में अविद्या की उत्पत्ति और नाश सम्भव नहीं क्योंकि ब्रह्म से ज्ञान और आनन्द का दूर होना सम्भव नहीं, वह स्वाभाविक गुण है अतः सुख और ज्ञान की प्राप्ति जीव के लिये है। ब्रह्म में अविद्या का आना भी सम्भव नहीं। ब्रह्म न तो आनन्द को भोगता है और न उस से पृथक् होता है। अतः जीव को ब्रह्म मानने से पुरुषार्थ का नाश हो जायगा।

प्रश्न—हम चित्त की वृत्तियों का शान्त होना ही मुक्ति मानते हैं।

उत्तर—दुःख रूप जो चित्त का चाञ्चल्य है यदि उस ही को दूर

करना मुक्ति है, तो केवल उस के दूर करने को ही पुरुषार्थ माननेमें कोई प्रमाण नहींहै, अतः दुःख दूर करनाही मुक्ति है

प्रश्न—क्या छः पदार्थों के अतिरिक्तऔर कोई पदार्थ नहीं है ?

उत्तर—संपूर्ण वस्तु जो सत्ता रखती हैं, इन छः पदार्थों में आजाती हैं इन से पृथक् कोई नहीं रहती।

प्रश्न—द्रव्य कितने हैं ?

उत्तर—द्रव्य नौ हैं, और वे ये हैं:—

पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि ॥ ५ ॥

अर्थ—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये नौ द्रव्य हैं।

"इति" शब्दसे यह सूचित करदिया कि द्रव्य नौही हैं न्यूनाधिक नहीं

प्रश्न—ये नौ द्रव्य कैसे हैं, हम तो इन से अधिक भी पाते हैं। यथा—सुवर्ण। इस को न तो पृथिवी ही कह सकते हैं, क्योंकि इस में गन्ध नहीं है। न इस को जल कह सकते हैं, क्योंकि चिकनाहट और बहने का गुण नहीं। न इसको तेज कह सकते हैं, क्यों कि इस में गुरुत्व (बोझ) है और अग्नि में गुरुत्व नहीं। इसी प्रकार वायु, आकाश, समय, दिशा, आत्मा और मन भी नहीं कह सकते क्योंकि इन सब, में भी विरुद्ध गुण पाये जाते हैं। अतः सुवर्ण नौ से अलग दसवां द्रव्य है।

उत्तर—यह आक्षेप ठीक नहीं क्योंकि सुवर्ण मिश्रित द्रव्य है भला मिश्रित की एक द्रव्य के साथ किस प्रकार तुलना हो सकती है ? सुवर्ण में तेजका अंश अधिक है, अतः सुवर्ण तैजस कहाता है।

प्रश्न—अन्धकार असंयुक्त भी है और नव द्रव्यों में भी नहीं है। अतःवह अलग दसवां द्रव्य क्यों नहीं ?

उत्तर—अन्धकार तमोगुण अर्थात् पृथिवी का धर्म है धर्म गुण में सम्मिलित होता है। अतः अन्धकार धर्म है द्रव्य नहीं।

प्रश्न—साइन्स वाले या और लोग भी सुवर्ण को पृथक् नहीं, द्रव्य मानते हैं।

उत्तर—सामयिक साइन्सों से केवल गैस तक ही द्रव्य बताया जाता है, जो पारिमाण्डल (वे अणु जो झरोकों से आये हुए सूर्य के प्रकाश से चमकते हैं) की अवस्था में होता है और वह संयुक्त होता है। इसलिये उनका कथन सत्य नहीं उन्होंने परमाणु की जाँच नहीं की है। परमाणु के अतिरिक्त कोई भी असंयुक्त तत्त्व नहीं, और जो असंयुक्त तत्व न हो वह अपने कारणों से पृथक् कोई वस्तु नहीं केवल अपने कारणों का विकार मात्र है।

प्रश्न—इन पदार्थों में से कितने व्यापक हैं और कितने परिच्छिन्न (एकदेशी) हैं?

उत्तर—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, और मन, ये पांच परिच्छिन्न (एकदेशी) हैं और आकाश, काल, दिशा, आत्मा ये चार द्रव्य सब वस्तुओं से सम्बन्ध रखने वाले व्यापक हैं।

प्रश्न—क्या जीवात्मा भी विभु है? यदि जीवात्मा और परमात्मा दोनों ही विभु मान लिये जावें तो उन दोनों में अन्तर ही क्या रहेगा?

उत्तर—परमात्मा एक और विभु है, किन्तु जीवात्मा संख्या में अनन्त होने से विभु हैं स्वरूप से विभु नहीं। यहां विभु से आशय यह है कि जिसका प्रत्येक शरीर के साथ सम्बन्ध हो अर्थात् संसार में कोई ऐसा शरीरधारी नहीं जिस के साथ जीव का सम्बन्ध न हो।

प्रश्न—क्रिया का प्रभाव किन द्रव्यों पर पड़ता है? अर्थात् कौन से द्रव्य जो क्रिया के कारण अपनी अवस्थाओं को बदलते हैं?

उत्तर—[illegible] च द्रव्य जो परिच्छिन्न हैं पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, और मन ये अपनी अवस्थाओं को क्रिया से प्रभावित होकर परिणत करते हैं। दूसरे चार विभु द्रव्य अपनी अवस्थाओं को क्रिया से प्रभावित होकर नहीं बदलते।

प्रश्न—उरे और परे के गुण किन २ द्रव्यों में हैं?

उत्तर—सान्त (परिच्छिन्न वा एकदेशी) वस्तुओं में ही उरे और परे का गुण रहता है। विभु में नहीं।

प्रश्न—गुण कितने हैं और कौन २ से हैं?

उत्तर—गुण २४ हैं, और वे ये हैं:—

रूप,रसगन्धस्पर्शाःसंख्याः परिमाणानिपृथक्-त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुख-दुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः ॥६॥

अर्थ—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथकत्त्व, संयोग, विभाग, परत्त्व अपरत्त्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा,द्वेष, प्रयत्न गुरुत्त्व, द्रवत्त्व, स्नेह, संस्कार, धर्म अधर्म और शब्द। इनमें प्रयत्न तक १७ सूत्र में बतलाये गये हैं, और शेष ७ "च" से बतलाये हैं। ये चौबीसों गुण नव द्रव्यों में रहते हैं। इन मेंसे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श संख्या परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्त्व, गुरुत्त्व और संस्कार ये विशेषतया विख्यात गुण हैं।

प्रश्न—रूप किसको कहते हैं?

उत्तर—जो आंख से दीखे उसको रूप कहते हैं। वह काला, पीला, श्वेत और हरा आदि नाना प्रकार का है।

प्रश्न—रस किसको कहते हैं।

उत्तर—जिस गुणका रसना इन्द्रियसे अनुभव हो वह रस है यथा-खट्टा, मीठा और खारा आदि।

प्रश्न—गन्ध किसको कहते हैं?

उत्तर—जिस गुण का नाक से अनुभव हो वह गुण गन्ध है। वह दो प्रकार का है १—सुगन्ध और २—दुर्गन्ध।

प्रश्न—स्पर्श किस को कहते हैं?

उत्तर—जिस का त्वचा के द्वारा अनुभव कियाजावे। परन्तु स्पर्श गर्म और सर्द से नितान्त पृथक् होता है। संयोग होनेपर शीत उष्ण प्रतीत होता है।

प्रश्न—संख्या किस को कहते हैं?

उत्तर—एक से लेकर अर्बों आदि तक संख्या कहाती है।

प्रश्न—गुरुत्व किस को कहते हैं?

उत्तर—जिस के कारण वस्तु भूमिपर गिरती हैं वही गुरुत्व है। यह गुरुत्व पृथिवी की आकर्षण शक्ति से उत्पन्न होता है। जबतक एक वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ संयोग रहता है

तवतक दूसरी वस्तु की ओर से भी आकर्षण होने से, वस्तु नहीं गिरती। जब संयोग नहीं रहता तब गुरुत्व के कारण वस्तु नीचे गिर पड़ती है।

प्रश्न—द्रवत्व किसको कहते हैं?

उत्तर—किसी वस्तु में वहनेके गुण को द्रवत्व कहते हैं। यह द्रवत्व विशेष कर जलमें रहता है।

प्रश्न—संस्कार किसको कहते हैं?

उत्तर—किसी कर्मके करने से जो स्वभाव पड़ता है वह, या जो मनके भीतर कर्मकी वासना उत्पन्न हो जाती है वह संस्कार कहलाता है। इसी प्रकार और गुणों के भी लक्षण समझ लेने चाहिये।

प्रश्न—रूप आदि कितने गुण संयुक्त पदार्थों में रहते हैं और कितने असंयुक्त पदार्थों में?

उत्तर—रूप रस गन्ध और स्पर्श जिनकी प्रतीति प्राकृतिक इन्द्रियों से होती है वे पाकज अर्थात् संयुक्त (संयोगजन्य) के गुण हैं

प्रश्न—पृथक्त्व का अलग क्यों वर्णन किया?

उत्तर—संख्या एक दो और बहुत होने के कारण सन्देह हो सकता था, इस कारण पृथक्त्व अर्थात् सबसे अलग या एकत्वका वर्णन किया।

प्रश्न—परिमाणके साथ वहुवचन क्यों लगाया?

उत्तर—अणु, मध्यम और विभु ये तीन प्रकार के परिमाण होते हैं, और उनसे भी अपेक्षा से छोटा और बड़ा लगा रहता है, इसलिये बहु वचन का प्रयोग किया है परिमाण अनेक हैं।

प्रश्न—पृथक्त्व, जो कि प्रत्येक में रहने से बहुत हैं, उसको एक वचन से क्यों कहा?

उत्तर—यद्यपि संख्या की तरह पृथक्त्व को भी अनेकों में रहने से, बहु वचन युक्त कहना चाहिये था, तो भी सीमाको बतलाने वाला गुण संख्यासे भिन्न है, इस बातको जतलानेके लिये एक वचन का प्रयोग किया है।

प्रश्न—संयोग विभाग में द्विवचन क्यों कहा है

उत्तर—संयोग अर्थात् मिलना, विभाग अर्थात् अलग होना ये दोनों एकही कर्मसे उत्पन्न होते हैं, अतः द्विवचनसे पुकारे गये।

प्रश्न—परत्व और अपरत्व में द्विवचन क्यों कहा ?

उत्तर—परत्व और अपरत्व, ये दोनों सापेक्ष्य होने से एक दूसरे के सहारे रहते हुए, दिशा काल और चिन्ह को बताने में प्रयोग किये जाते हैं, अतः द्विवचन से बतलाये गये।

प्रश्न—बुद्धि को बहुवचन से क्यों कहा ?

उत्तर—विद्या और अविद्या के भेद से बुद्धि बहुत प्रकार की है; इस लिये बुद्धि के साथ बहुवचन का प्रयोग किया जिससे मनुष्य बुद्धि को एक ही और द्रव्य न समझ लें किन्तु गुण और बहुत सी समझें।

प्रश्न—सुख और दुःख के साथ द्विवचन क्यों दिया ?

उत्तर—सुख दुःख दोनों वचन हैं और विशेष कर पूर्वजन्म के फल को प्रकट करते हैं, और ज्ञानी मनुष्यों के विचार में सुख भी एक प्रकार का दुःख ही है, इस पर कहीं आगे चलकर विचार होगा, अतः द्विवचन कहे गये हैं।

प्रश्न—इच्छा और द्वेष को द्विवचन से क्यों कहा ?

उत्तर—इच्छा और द्वेष दोनों एक ही कार्य में लगानेका कारण है जिस वस्तु को इच्छा होती है उसको प्राप्त करने की इच्छा और जिससे द्वेष होता है उसको दूर करने का यत्न किया जाता है इस कारण द्विवचन कहा।

प्रश्न—प्रयत्न को बहुवचन से क्यों कहा ?

उत्तर—प्रयत्न बहुत प्रकार का है। कोई पाप का कारण है और कोई पुण्य का; उनमें भी प्रत्येक नाना प्रकार का है, अतः बहुवचन से कहा।

प्रश्न—कर्म कितने प्रकार के हैं।

उत्तर—उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि ॥ ७ ॥

अर्थ—कर्म पांच प्रकार के हैं १–उत्क्षेपण=ऊपर को जाना या उछालना, २–अवक्षेपण=नीचे को गिरना, ३–आकुञ्चन =सुकड़ना, ४–प्रसारण=फैलाना, ५–गमन=तिरछा चलना

प्रश्न—क्या घूमना आदि कर्म नहीं हैं, फिर उनकी चर्चा सूत्र में क्यों नहीं की ?

उत्तर—ये सब गमन के अन्तर्गत बता दिये गये हैं, अतः उनको पृथक् नहीं गिना था जो लोग पांच तत्वों के स्थान में चार बताते हैं, वा अङ्गरेज़ी वालोंके समान जो बहुत से तत्व बताते हैं वे भूलपर हैं। उनको ध्यान रखना चाहिये कि तत्व पांच हैं। और प्रत्येक तत्व का एक २ कर्म एक इन्द्रिय है जिससे उनके गुणों का पता लगता है। ऊपर चलना अग्नि का कर्म है और आंख उसके गुणों का अनुभव करने वाली इन्द्रिय है, नीचे गिरना पानी का कर्म है और रसना उसका गुण अनुभव करने वाली इन्द्रिय है। संकोच अर्थात् सुकड़ना पृथ्वी का कर्म है; नासिका उसको अनुभव करनेवाली इन्द्रिय है। फैलना आकाश का कर्म है कान उसको अनुभव करने वाली इन्द्रिय है। बराबर चलना वायु का कर्म है, त्वचा उसको अनुभव करने वाली इन्द्रिय है।

प्रश्न—गमन और कर्म ये दोनों पर्यायवाचीशब्द हैं, इसलिये कर्म के चार ही भेद हो सकते हैं। गमन को उस में सम्मिलित नहीं करना चाहिये।

उत्तर—यद्यपि चलना (गमन) और कर्म पर्यायवाची शब्द हैं, परन्तु उसका पृथक् भेद इस कारण माना गया है कि उससे घूमना आदि नाना प्रकार के शेष कर्मों का ग्रहण किया जाता है। चलने के भीतर तो घूमना आदि का ग्रहण हो सकता है दूसरे, एक के भीतर सब कर्म नहीं आसकते।

प्रश्न—निष्क्रमण और प्रवेशन=निकलना और प्रवेश करना भी दो प्रकार के कर्म हैं उनकी गणना क्यों नहीं कराई ?

उत्तर—ये दोनों भी एक ही कर्म हैं। एक घरसे निकल कर दूसरे घर में जाना एक बात है, ये भी गमन में ही आजाते हैं।

प्रश्न—उत्क्षेपण आदि को दृष्टान्त के साथ समझाओ

उत्तर—धान कूटते समय जब मूसल ऊपर को जाता है उसे उत्क्षेपण कहते हैं, जब नीचे को जाता है तब अवक्षेपण कहते हैं। जब रुई के बोरे को कल में दबा कर छोटा करते हैं, तो उसको

आकुञ्चन=संकोचन कहते हैं। जब उसी रुई को धुनते समय फैलाते हैं तो उसको प्रसारण कहते हैं। घूमना, चलना, बहना आदि ये सब गमन कहाते हैं।

अब आगे उद्देश्य अर्थात् नाम बताकर इन सबका साधर्म्य और वैधर्म्य बताते हैं। ये सब मुमुक्षु के जानने के योग्य हैं।

सदनित्यं द्रव्यवत्कार्यं कारणं सामान्यविशेषवदिति द्रव्यगुणकर्मणामविशेषः ॥ ८ ॥

अर्थ—द्रव्य, गुण और कर्म में ये बातें अविशेष अर्थात् सामान्य रीत्या हैं दोनों में सत्ता सामान्यतया पाई जाती है, अर्थात् यह कहा जाता है कि द्रव्य है; गुण है, कर्म है। इसी प्रकार अनित्यता और नित्यता अर्थात् कार्य द्रव्य अनित्य हैं, और कारण द्रव्य नित्य है। इसी प्रकार कार्य गुण और कर्म अनित्य हैं और कारण गुण कारण कर्म नित्य हैं। कारण गुणसे आशय स्वभाविक गुण से है, और कार्य गुण से नैमित्तिक गुण का आशय है कारण कर्म चेतन का है कार्य कर्म चेतन के सहारे जड़ प्रकृति का है।

कारण कर्म नित्य है और कार्य कर्म अनित्य है। इस ही प्रकार द्रव्य, गुण कर्म ये तीनों द्रव्य के सहारे रहनेवाले हैं। बिना द्रव्य के ये तीनों नहीं रह सकते, ये बात तीनों में समान है। आशय यह है कि इन तीनों को आधार की आवश्यकता है अर्थात् एक द्रव्य का प्रत्यक्ष बिना दूसरे द्रव्य के हो नहीं सकता। इसी प्रकार गुण कर्म भी बिना किसी द्रव्य के अनुभव में नहीं आसकते और न अकेले रह ही सकते हैं। जिस प्रकार सामान्य और विशेष होना, द्रव्य गुण कर्म तीनों में समान है इसी प्रकार कार्य और कारण होना भी तीनों में समान हैं ऊपर की कही हुई बातों में ये तीनों समान हैं और अन्य बातों में भिन्न हैं।

प्रश्न—कारण किसको कहते हैं ?

उत्तर—ज्ञान के अतिरिक्त, जो कार्य्य के लिये नियत हो अर्थात् जिसकी सत्ता की आवश्यकता अवश्य हो। जिसके बिना किसी प्रकार कार्य्य न बन सके उसे कारण कहते हैं

प्रश्न—कार्य किसको कहते हैं ?
उत्तर—जो पूर्व विद्यमान न हो, कारण के सम्बन्ध से उत्पन्न होकर एक पृथक् व्यक्ति को उत्पन्न करे उसको कार्य्य कहते हैं ।

द्रव्यगुणयोः सजातीयारम्भकत्वं साधर्म्यम् ॥ ९ ॥

अर्थ—द्रव्य और गुण में ये बातें समान हैं कि वे अपने सजातीय की उत्पत्ति के कारण होते हैं अर्थात् कारण द्रव्य से कार्य द्रव्य की उत्पत्ति होती है और कारण गुण से कार्य गुण की उत्पत्ति होती है, द्रव्य से गुण की उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती। परन्तु इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि यह गुण उन्हीं द्रव्यों में होगा जो परिणामी होते हैं. जैसे पृथवी, जल वायु और अग्नि परन्तु आकाश आदि द्रव्यों में जो परिणामी नहीं, यह बात नहीं होसकती । आशय यह है कि जिस वस्तु के परमाणु होते हैं उनमें संयोग वियोग होने से परिणाम होसकता है । जिस वस्तु में परमाणु नहीं उनमें ये सम्भव ही नहीं, जैसे मट्टी के परमाणु किसी अवस्था में मिलकर घट बन सकते हैं, परन्तु आकाश के परमाणु ही नहीं उससे क्या बनसकता है ? जैसे जलसे बर्फ बन सकता है किन्तु देश से कोई भी कार्य्य नहीं बन सकता इसको अगले सूत्र में विस्तार पूर्वक वर्णन करते हैं ।

द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभंन्ते गुणाश्च गुणान्तरम् ॥ १० ॥

अर्थ—द्रव्य के परमाणु मिलने से उसका कार्य घड़ा और कपड़ा बन सकते हैं । इसी प्रकार द्रव्य के परमाणु में जो गुण हैं उनके संयोग से कार्य गुण की उत्पत्ति होती है । यथा-अग्नि के एक अणु में जो उष्णता और प्रकाश थे वह सूक्ष्म होने के कारण दृष्टि में नहीं आता था जब अग्नि के परमाणु मिलकर एक रूप में आगये जिससे उसका प्रत्यक्ष होगया । इसी प्रकार गुण प्रकाश आदि का भी प्रत्यक्ष होने लगा ।
आशय यह है कि जो मनुष्य शब्द से जो गुण है, कार्य जगत् की जो द्रव्य है, उत्पत्ति मानते हैं, वे भूलपर हैं । जो लोग अभाव से भाव की उत्पत्ति मानते हैं और दृष्टान्त देते

हैं कि जिस प्रकार हल्दी और चूना मिलकर लाली उत्पन्न हो जाती है और यह गुण उन दोनों में न था यह भी उनकी भूल है क्योंकि गुणों के संयोग से इस गुण का प्रत्यक्ष (उदय) हुआ है, अभाव से भाव नहीं हुआ ?

कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते ॥ ११ ॥

अर्थ--कर्म से कर्म की उत्पत्ति नहीं होती, अर्थात् जिस प्रकार कारण द्रव्य अपने कार्य द्रव्य को उत्पन्न करता है और कारण गुण कार्य गुण को उत्पन्न करता है परन्तु कर्म कर्म को उत्पन्न नहीं कर सकता। यह द्रव्य और गुण से कर्म में विशेपता है।

प्रश्न—कर्म का कारण कर्म क्यों नहीं होता ?

उत्तर—कर्म संयोग और विभाग का कारण है यदि कर्म से कर्म की उत्पत्ति मानीजावे तो पहिले कर्म होकर दूसरे कर्म को पैदा करेगा। जिस प्रकार एक शब्द के उपरान्त दूसरे शब्द की उत्पत्ति होती है। अब सोचना चाहिये कि कि कर्म सदैव रहने वाला तो है नहीं फिर पहिले कर्म की उत्पत्ति किस प्रकार होगी ? यदि कहो द्रव्य से तो कहीं कर्म को उत्पति द्रव्य से और कहीं कर्म से, इसप्रकार कर्म के कारण की व्यवस्था ठीक नहीं रहेगी। अतः कर्म का कारण कर्म किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता। अब इस बातपर विचार करते हैं कि कारण द्रव्य का कार्य द्रव्यनाशक होता है वा नहीं और कार्य द्रव्य कारणका नाश करता है वानहीं ?

द्रव्य में यह गुण औरों से विशेष है।

न द्रव्यं कार्यं कारणं च बधति ॥ १२ ॥

अर्थ—कोई कार्य-द्रव्य अपने कार्य का नाश नहीं करता और न कोई कारण द्रव्य कार्य का नाश करता है। आशय यह है कि कार्य कारण द्रव्य एक दूसरे के (परस्पर) विरोधी नहींहैं। कार्य के बनने पर भी कारण वैसा ही रहता है। जिस प्रकार सुवर्ण से आभूषण बनता है, परन्तु आभूपण में सोना रूपी कारण बना ही रहता है। आभूपण सोने का नाश नहीं करता। सोना भी बनाहुआ है और आभूपण भी कहाता है। या यह

कहो कि द्रव्य का कारण जो परमाणु है वह भी उसका नाशक नहीं है और जो उससे बने हुए कार्य घड़ा कपड़ा आदि हैं वे भी नाश नहीं करते किन्तु कार्य द्रव्य को नाश करने वाला कर्म ही हो सकता है। जिस कर्म से संयोग वियोग होते हैं वह कर्म ही द्रव्य के नाश का कारण हो सकता है। यह सदैव ध्यान रखना चाहिये कि नाश सदैव कार्य द्रव्य का ही हुआ करता है कारण द्रव्य का कभी नाश नहीं होता।

प्रश्न--नाश किसको कहते हैं ?

उत्तर--जिस कारण के अवयवों के संयोग से कार्य की उत्पत्ति हुई है उसी कारण में कार्य का अवयव होकर मिलजाना ही नाश कहाता है।

प्रश्न--क्या नाश का अर्थ बिलकुल न रहना अर्थात् अभाव नहीं है ?

उत्तर--नाश शब्द 'णश' अदर्शने धातु से बना है जिसके अर्थ बिलकुल न रहने के नहीं हैं किन्तु प्रत्यक्ष न होने के हैं। यदि कोई नाश के अर्थ अभाव के करता है तो उससे पूछना चाहिये कि अभाव चार प्रकार का होता है ।

१-प्रागभाव २-विध्वंसाभाव, ३-अन्योन्याभाव, ४-अत्यन्ताभाव

प्रागभाव—जैसे घड़े की उत्पत्ति से पूर्व घड़े का अभाव था।

विध्वंसाभाव—घड़े के टूटने पर उसका अभाव होगया।

अन्योन्याभाव—जिस प्रकार घड़े में कपड़ापन नहीं और कपड़े में घड़ापन नहीं है।

अत्यन्ताभाव—जिसका कभी अस्तित्व नहीं जैसे मनुष्य के सींग, यदि कहो कि नाश के अर्थ अत्यन्ताभाव के हैं, तो किसी प्रकार सम्भव नहीं। क्योंकि नाश से पूर्व वह वस्तु विद्यमान थी। यदि इसके अतिरिक्त कोई अभाव सिवाय ध्वंसाभाव के मानोगे तो भी ठीक नहीं। न तो कोई वस्तु अत्यन्ताभाव से उत्पन्न हो सकती है और न किसीका अत्यन्ताभाव होसक्ता है।

उभयथा गुणाः ॥१३॥

अर्थ—द्रव्य और गुण में यह भेद दिखलाया कि गुण दोनों को नाश करता है। जैसे वह ध्वनि जोकि अर्थवत् शब्दों के निकलने

से पूर्व होती है यह शब्दमयी वाणी का कारण है परन्तु शब्दों के निकलने से उसका नाश होजाता है। शब्दों की समाप्ति पर फिर वही ध्वनि उत्पन्न होकर शब्दों का नाश कर देती है। अतः गुण अपने कार्य का भी नाश करदेता है और अपने कारण का भी नाशक है। कुछ आचार्यों के मत में शब्द नित्य है; परन्तु न्याय और वैशेषिक के मत में शब्द आकाश का गुण है; और गुणों के समान नित्य और अनित्य दोनों ही है।

कार्य विरोधि कर्म ॥ १४ ॥

अर्थ—कर्म का नाश उसके कार्यही से होता है। आशय यह है कि संयोग और वियोग कर्म से ही उत्पन्न होते हैं, परन्तु अन्तिम संयोग या वियोग से कर्म का नाश होजाता है, अर्थात् जिस देश को पहुंचने के लिये कर्म किया जाताहै, उस देश में पहुंचने से कर्म का नाश होजाता है। इन सूत्रों में द्रव्य, गुण और कर्म का वैधर्म्य दिखलाया कि द्रव्य तो अपने कार्य और कारण दोनों का नाश नहीं करता है, गुण दोनों का नाश करता है, कर्म का नाश करनेवाला उसका कार्य है। अब आगे द्रव्यादि के लक्षण कहते हैं। क्योंकि बिना लक्षण के किसी वस्तु की सिद्धि नहीं होसकती। प्रथम, क्रमानुसार द्रव्यका लक्षण करते हैं।

क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम् ॥१५॥

अर्थ—जिसमें क्रियाको ग्रहण करनेकी शक्ति हो वा क्रिया करने की शक्ति या गुण हो अथवा गुणहों जिसमें विद्यमानहो, या किसी वस्तु का उपादान कारण होसके, उसको द्रव्य कहते हैं। उपादान को ही समवायि कारण कहते हैं क्योंकि जिसका कार्य के साथ नित्य सम्बन्ध रहे वही समवायि कारण कहाता है। उपादान कारण के अतिरिक्त और किसी कारण का कार्य के साथ नित्य सम्बन्ध नहीं रहता। जिस प्रकार एक घड़े के बहुत से कारण हैं-एक कुम्हार है, दूसरा मट्टी या दोनों कपालों का संयोग है, तीसरा दण्ड और चाक आदि हैं। इनमें से घड़ा बनने पर सब कारण अलग होजाते

हैं, केवल मट्टी वा दोनों कपलों का संयोग ही घड़े के साथ रहता है जिस प्रकार कुम्हार के मरजाने से उसके बनाये हुये घड़े की कोई हानि नहीं; जिस प्रकार दण्ड और चक्र के टूटने से घड़े को कोई हानि नहीं पहुंचती। परन्तु जिस मट्टी से घड़ा बना है उस मट्टी के न रहने से घड़ा किसी प्रकार नही रह सकता। इस कारण मट्टी ही समवायि कारण है; वही उपादान कारण भी कहलाता है। आशय यह है कि जिसमें क्रिया हो, जिसमें गुण हो, जो समवायि कारण होसकता हो वही द्रव्य है क्योंकि गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवायि आदि दूसरे पद में गुण और क्रिया नहीं रहती, अतः उनसे पृथक् करनेवाला लक्षण किया गया। द्रव्यों में कुछ द्रव्य क्रियासहित (सक्रिय) हैं। यथा-पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और मन। गुण सब ही द्रव्यों में रहता है।

अब गुण के लक्षण कहते हैं:—

द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम् ॥ १६ ॥

अर्थ—द्रव्य के सहारे रहनेवाला हो, अर्थात् विना द्रव्य के न रह सके, जिसमें कोई अन्य गुण न हो और वस्तुओं के संयोग और वियोग में कारण न हो। अपेक्षा रहित हो अर्थात् क्रिया और विभाग की अपेक्षा न रखता हो।

यही गुण का लक्षण है। यद्यपि "द्रव्य में रहनेवाला" कहने से गुण का लक्षण होजाता परन्तु द्रव्य के सहारे कर्म रहता है इसलिये कहा गया कि "कोई गुण न रखता हो, जब इतना कहने पर भी लक्षण ठीक नहीं हुआ, क्योंकि कर्म में भी गुण नहीं है, अतः लक्षण में अतिव्याप्ति दोष आगया। इसलिये पुनः यह कहना पड़ा कि "संयोग विभाग में कारण न हो" क्योंकि कर्म संयोग और विभाग में कारण है। अतः कर्म से पृथक् गुण का निर्दोष लक्षण होगया।

अब कर्म का लक्षण कहते हैं:—

एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम् ॥ १७ ॥

अर्थ—एक द्रव्य अर्थात् द्रव्य के सहारे रहने वाला हो गुण न रखता हो, संयोग विभाग बिना किसी दूसरे की अपेक्षा के कारण हो अर्थात् स्वयं ही संयोग और विभाग का कारण हो। यह कर्म का लक्षण है। गुण और कर्म में भी भेद है, वह भेद यह है कि गुण संयोग विभाग का कारण नहीं होता और कर्म कारण होता है। दूसरे जिस प्रकार संयुक्त द्रव्य संयोग आदि गुण कई द्रव्यों के सहारे रहते हैं ऐसे कर्म नहीं रहता, किन्तु वह एक ही के सहारे रहता है अर्थात् उसका प्रभाव एक ही पर पड़ता है। यह विशेषता कर्म में है।

द्रव्यगुणकर्मणां द्रव्यं कारणं सामान्यम् ॥ १८ ॥

अर्थ—द्रव्य गुण और कर्म इन सबका सामान्यतया एक कारण होता है। जैसे एक माता के कई पुत्र होते हैं ऐसे ही एक एक उपादान कारण द्रव्य में कार्य द्रव्य, गुण और कर्म रहते हैं द्रव्यसे उत्पन्न होना इन तीनों में समान है। जिस प्रकार जिस मट्टी से घड़ा उत्पन्न होता है, उसीमें जड़ता और गन्ध गुण भी रहते हैं और संकोच कर्म भी रहता है। इसी प्रकार जिस अग्नि से दीपक उत्पन्न होता है, उसी में रूप गुण भी रहता है और ऊपर चलना रूप कर्म भी रहता है। इसी प्रकार और भी समझलेना। परन्तु ऐसा उपादान कारण में ही पाओगे अन्य में नहीं।

तथा गुणाः ॥ १९ ॥

अर्थ—जिस प्रकार द्रव्य कारण है उसी प्रकार गुण भी कारण होते हैं। परन्तु अन्तर इतना है कि द्रव्य समवायि कारण होता है और गुण असमवायि कारण होता है। अर्थात् द्रव्य का नित्य सम्बन्ध होता है और गुण का अनित्य। आशय यह है कि द्रव्यत्व तो असंयुक्त और संयुक्त दोनों अवस्थाओं में बना

रहता हैं; परन्तु गुण संयुक्त अवस्था में होता है तो कारण बनता है। अर्थात् गुण असंयुक्त अवस्थामें कारण नहीं होगा। आशय यह है कि जब दो वस्तुओं के संयोग से एक वस्तु बनेगी तो संयोग में जो गुण है उसका कारण होगा। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श; संख्या; परिमाण और पृथक्त्व आदि एक वस्तु में रहने वाले गुणों का कारण असमवायि होगा। अग्नि के संयोगसे जो पारे में कर्म और सोनेके पिघलने और बनने आदि की क्रिया होती है उसका भी असमवायि कारण है। कहीं केवल गुणही द्रव्य, कर्म गुण के आरम्भ का कारण होता है। इसी प्रकार समयानुसार विचार करना चाहिये।

संयोगविभागवेगानां कर्म समानम् ॥ २० ॥

अर्थ—संयोग, विभाग और वेग से चलने का कारण कर्म है। जिस द्रव्य में कर्म उत्पन्न होता है, उस का जिन से पूर्व में मेल था, पहिले उनसे पृथक्ता उत्पन्न होती है। अर्थात् जिस कमान से पहले तीर मिला हुआ था, जब तीर में क्रिया उत्पन्न हुई तो कमान से पृथक् होगया और फिर तेजी से चला, फिर अपने लक्ष्यपर जाकर मिलगया। एक ही कर्म ने तीन गुणों को उत्पन्न किया। पूर्व यह बता चुके हैं कि कर्म से कर्म की उत्पत्ति नहीं होती। अगले सूत्र में यह बतलाते हैं कि कर्म से द्रव्य की उत्पति नहीं होती।

न द्रव्याणां कर्म ॥ २१ ॥

अर्थ—कर्म से गुण तो उत्पन्न होता है, परन्तु कर्म से द्रव्य किसी प्रकार उत्पन्न नहीं हो सकता, द्रव्य या तो द्रव्य से उत्पन्न होता है या गुण से कर्म से द्रव्य कभी भी उत्पन्न नहीं होता। यदि कहो कि कर्त्ता ने जो कर्म किया उससे संयोग उत्पन्न हुआ और संयोग से वस्तु बनेगी तो उस वस्तु का कर्म कारण क्यों नहीं ? इसका उत्तर यह है कि न तो कर्म समवायि और असमवायि कारण हो सकता है, और न सीधा कारण है क्योंकि वह तो संयोग गुण का कारण है। इसकी परीक्षा आगे होगी।

व्यतिरेकात् ॥ २२ ॥

अर्थ—द्रव्य की उत्पत्ति के समय कर्म का अभाव होता है अर्थात् कर्म का नाश हो जाता है। क्योंकि कर्म केवल संयोग को उत्पन्न करके नाश को प्राप्त हो जाता है, और द्रव्य के अनन्तर होता है, अतःद्रव्य का कारण कर्म नहीं हो सकता। कारण का लक्षण बता चुके हैं कि जो नियत हो और पूर्व में उपस्थित हो। जब द्रव्य की उत्पत्ति के पूर्व कर्म विद्यमान नहीं तो कारण कहला नहीं सकता। आशय यह है कि कर्म संयोग उत्पन्न होते ही नाश हो जाता है और द्रव्य संयोग के उपरान्त होता है ।।इस में प्रमाण कोई नहीं कि जो उत्पत्ति के समय विद्यमान ही न हो वह कारण कहला सके।

प्रश्न--कर्म को उत्पति का कारण मानना उचित है, क्योंकि छः कारणों मे कर्म को भी गिनाया है। और कर्म कर्ता से उत्पन्न होता है यदि कर्म ही उस वस्तु की उत्पत्ति का कारण न होगा तो कर्ता किस प्रकार कारण कहला सकेगा? वे छः कारण यह है:—

१--कर्ता २--कर्म ३-करण ४-सम्प्रदान ५-उपादान और ६—अधिकरण।

उत्तर—इन छः कारकों का कर्म हमारे कर्म का पर्यायवाची नहीं है। अतः द्रव्य की उत्पत्ति से पूर्व न होने से कर्म को कारण नही कह सकते उस में कर्म का लक्षणही नहीं घटसकता।

द्रव्याणां द्रव्यं कार्यं सामान्यम् ॥ २३ ॥

अर्थ--बहुत से कारण द्रव्य से मिलकर एक कार्य द्रव्य उत्पन्न होता है। जैसे बहुत से सूत के तार मिलने से एक कपड़ा बन जाता है। अब तार भी द्रव्य है और कपड़ा भी द्रव्य है खांड और पानी मिलकर शरबत बन जाता है अतः बिना संयोग के कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती।

प्रश्न--जीवात्मा और प्रकृति की उत्पत्ति किन वस्तुओं के संयोग से हुई?

उत्तर--सत्ता तीन प्रकारों के भीतर आ जाती है। वे तीन प्रकार ये हैं नित्य, अनित्य और असम्भव। नित्य, पदार्थ अपनी सत्ता के लिये किसी की अपेक्षा नहीं रखता, उसका नाश भी तीन काल में नहीं होता। अनित्य पदार्थ अपनी सत्ता में दूसरे चेतन की अपेक्षा रखता है उसकी उत्पत्ति और नाश दोनों सम्भव हैं। असम्भव जिसका होना किसी प्रकार सम्भव न हो जहाँ कहीं उत्पत्ति और कार्य कारण की चर्चा हो, वहां अनित्य पदार्थ को ही समझना उचित है। जीव और प्रकृति नित्य हैं अतः उत्पत्ति की सम्भावना से बाहर हैं।

प्रश्न—एक बड़े कपड़े को फाड़कर हम उसके चार कपड़े बनाते हैं अब ये छोटे कपड़े तो संयोग से नहीं बने ? किन्तु वियोग से बने हैं।

उत्तर---संपूर्ण कपड़ा जिन अवयवों के संयोग से बना हो उसकी अपेक्षा वियोगसे बनाहुआ विदित होता है। वास्तव में टुकड़ा भी तारों के संयोगसे बनाहै।

गुणवैधर्म्यान्न कर्मणां कर्म ॥ २४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार द्रव्य और गुण द्रव्य और गुणको उत्पन्न करते हैं कर्म इस बात में इनसे भिन्न हैं, अर्थात् कर्म से कर्म उत्पन्न नहीं होसकता, यह बताचुके हैं।

प्रश्न--जब पहिले बताचुके हैं तो पुनः क्यों कहा ?

उत्तर—किससे कौन उत्पन्न होता है इसका यहां प्रसंग था, अतः प्रसङ्ग वश कहा। अब आगे नैमित्तिक गुणों की उत्पत्ति के कारण द्रव्य को बताते हैं।

द्वित्वप्रभृतयः संख्याः पृथक्त्वसंयोगविभागाश्च॥२५॥

अर्थ--दो या उससे अधिक संख्या, पृथक्त्व, संयोग और विभाग ये गुण बहुत से द्रव्यों से उत्पन्न होते हैं। आशय यह है कि जहां एक द्रव्य होगा वहां ये गुण नहीं होंगे।

प्रश्न--इनका एक द्रव्य में न रहने का क्या कारण है ?

उत्तर---ये गुण स्वभाविक नहीं हैं जो एकमें रहें किन्तु ये संयोग की अवस्था में रहने से नैमित्तिक हैं। जब एकसे

अधिक संख्या वाली वस्तु होंगी तब ही दो वा दोसे अधिक संख्या का प्रयोग होगा। एक में इस का प्रयोग हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार संयोग भी जब होगा कि जब वस्तु एक से अधिक होंगी। एक में संयोग कैसा? विभाग भी उसी अवस्था में होसकता है जब कि एक वस्तु किसी दूसरी वस्तु से मिली रहे, इसी प्रकार पृथक्त्व भी किसी दूसरी वस्तु से मिले रहने पर हो सकता है।

असमवायात् सामान्यं कार्यं कर्म न विद्यते ॥ २६ ॥

अर्थ--जिस प्रकार और कार्य सामान्य होते हैं ऐसेही कर्म सामान्य कार्य नहीं होता। क्योंकि और सब कार्य समवाय अर्थात् बहुत से द्रव्यों से उत्पन्न होते हैं, परन्तु कर्म एक द्रव्य से होता है। आशय यह है कि जो लोग संयोगसे कर्म की उत्पत्ति मानते हैं वे भूल करते हैं कर्म एक चेतन से जड़परमाणु और संयुक्त पदार्थों में हो रहा है। जिस प्रकार हमारी विद्यमानता से हमारे शरीरों में कर्म होते हैं, हमारे (जीवोंके) पृथक् होतेही शरीर में कर्म होना बन्द होजाता है। इसी प्रकार जगत् में जो संयुक्त पदार्थ वा जड़ और असंयुक्त परमाणु आदि कर्म करते हैं जिसके संयोग और वियोग से जगत् की उत्पत्ति और नाश पायाजाता है, उन सबको चलानेवाला अर्थात् कर्म कराने वाला सबसे सूक्ष्म और सर्वव्यापक एक परमात्मा है।

संयोगानां द्रव्यम् ॥ २७ ॥

अर्थ--प्रत्येक सावयव पदार्थ संयोग से उत्पन्न होता है। अर्थात् जब अनेक अवयव किसी प्रकार परस्पर मिलते हैं तो कार्य उत्पन्न होता है। अतः प्रत्येक सावयव पदार्थ का कारण संयोग है। बिना संयोग के कोई सावयव पदार्थ उत्पन्न नहीं हो सकता। परन्तु, यह ध्यान रखना चाहिये कि जो द्रव्य स्पर्श गुण से रहित हैं और जिनके परमाणु नहीं होते, उनके संयोग से कोई कार्य द्रव्य उत्पन्न नहीं हो सकता, और न ये किसी के संयोग से बने हैं।

रूपाणां रूपम् ॥ २८ ॥

अर्थ--परमाणु में रहने वाले सूक्ष्म रूप आदि गुणोंसे बहुत बड़े गुण उत्पन्न होते हैं। आशय यह है कि जो गुण कारण में होते हैं, उन्हीं गुणों का कार्य में प्रादुर्भाव होता है। इसलिये रूप आदि गुणों का कार्य गुण है। कारण गुण के संयोग से कार्य गुण उत्पन्न होते हैं। सूत्र में यद्यपि रूपही बतलाया है परन्तु यह केवल निदर्शन मात्र है; शेष गुणों का भी ग्रहण करलेना उचित है ॥

गुरुत्वप्रयत्नसंयोगानामुत्क्षेपणम् ॥ २९ ॥

अर्थ--गुरुत्व (बोझ) प्रयत्न और संयोग का कार्य उत्क्षेपणरूप कर्म है। अर्थात् जब तक कोई वस्तु ऊपर को नहीं उठे तब तक वह भारी नहीं प्रतीत होती, क्योंकि जो वस्तु पृथ्वी पर है उसपर पृथ्वी की आकर्षण शक्ति अपना प्रभाव नहीं डालती। गुरुत्व पृथ्वी की आकर्षण शक्ति से उत्पन्न होता है और पृथ्वी की आकर्षण शक्ति के विरुद्ध जो परिश्रम होता है वह भी उस गुरुत्व से होता है और उस से थकना जो प्रयत्न है इन तीनों से उत्क्षेपण होता है, परन्तु उत्क्षेपण का उत्पत्ति कर्त्ता जीव ही है।

संयोगविभागाश्च कर्मणाम् ॥ ३० ॥

अर्थ--संयोग और विभाग ये सब कर्म के कार्य हैं। बिना कर्म के संयोग और विभाग सम्भव ही नहीं। अतः जहां पर संयोग पाया जावे वहां पर समझ लेना चाहिये कि यह सब कर्म से हुआ है और कर्म कर्त्ता से होता है इसलिये प्रत्येक संयुक्त का असंयुक्त होना असंयुक्तों का संयुक्त होना, कर्म के कारण से है यह आवश्यक नहीं कि कर्म के कर्त्ता को देख करही माने किन्तु कार्य को देखकर भी कर्त्ताका अनुमान कर सकते हैं तीव्र चलना, लचकना आदि सब कर्म कार्य हैं।

कारणसामान्ये द्रव्यकर्मणां कर्माकारणमुक्तम् ॥ ३१ ॥

अर्थ--सामान्यतया कारण के बयान में द्रव्य और कर्म इनका कारण कर्म नहीं हो सकता यह वर्णन किया गया है, परन्तु निता-

न्त ही कारण न होने का खण्डन नहीं किया गया क्योंकि वह संयोग विभाग आदि गुणों का कारण है। अतः द्रव्य और कर्म को छोड़कर गुणोंका कारण कर्म होसकता है।

प्रश्न--इस सूत्र में इस बात के वर्णन की आवश्यकता ही नहीं थी क्योंकि पहिले सूत्र में कर्म को गुणों का कारण सिद्ध कर चुके हैं।

उत्तर—इस सूत्र से यह भी ज्ञात होता है कि सामान्यतया कर्म द्रव्य कर्मोंका कारण नहीं है, किन्तु किसी विशेष अवस्था में कारण हो सकता है। जैसे कर्म संयोग विभाग कारण है और संयोग विभाग द्रव्य की उत्पत्ति के कारण हैं, इसलिये जैसे परम्परा से दादा पोते की उत्पत्ति का कारण है, कर्म भी द्रव्य की उत्पत्ति का कारण हो सकता है। जिस प्रकार यह सम्भव है कि दादा पोते की उत्पत्ति के समय मर जावे तो उत्पत्ति से पूर्व विद्यमान न होने से कर्म कारण नहीं, परन्तु यदि दादा न हो तो बाप की उत्पत्ति न हो और बाप न हो तो बेटा भी न हो। इस प्रकार से दादा पोते की उत्पत्ति का कारण है। इसी प्रकार कर्म भी परम्परा से द्रव्य की उत्पत्ति का कारण है। कर्म कर्म का भी विशेष अवस्थाओं में कारण हो सकता है जैसे घोड़े के चलने से गाड़ी चलती है। यहां घोड़े का चलना जो कर्म है वह गाड़ी के चलनेका कारण है।

प्रश्न—फिर यह क्यों कहा कि कर्म का कारण कर्म नहीं?

उत्तर—घोड़े का चलना घोड़े में और गाड़ी का चलना गाड़ी में पृथक् २ है इसलिये उन में कारण और कर्म का सम्बन्ध नहीं हो सकता किन्तु गाड़ी के चलने का कारण गाड़ी और घोड़े का संयोग है। यदि यह संयोग न हो तो बिना घोड़े के अकेली गाड़ी चल नहीं सकती। और यदि घोडे जुड़े भी हों और चलें नहीं तो गाड़ी में चलना नहीं होगा, अतः किसी विशेष अवस्था में कर्म कर्म का कारण कहा जासकता है सामान्यतया नहीं।

प्रथम अध्यायका प्रथम आन्हिक समाप्त हुआ

[दूसरा आन्हिक]

कारणाभावात कार्याभावः ॥ १ ॥

अर्थ—कारण के न होने से कार्य का भी अभाव होता है। बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। पूर्व सूत्रों में कार्य कारण को केवल बताया था, अब इस सूत्र में उनका सम्बन्ध बताया है। जब तक सम्बन्ध न बताया जावे तब तक कार्य नहीं चलता।

प्रश्न—सृष्टि अनादि काल से चली आती है, इसलिये कोई किसी का कारण व कार्य नहीं। जब कारण कार्य नहीं तो उनका सम्बन्ध कैसा?

उत्तर—यह प्रत्यक्ष दीखता है कि विना कारण के कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती। कुम्हार विद्यमान हो। मिट्टी विद्यमान हो, परन्तु दण्ड और चाक न हो तो घड़ा उत्पन्न नहीं होगा। जब कि कारण के न होने पर कार्य नहीं होता, यह प्रत्यक्ष है, तो उसका खण्डन किसी प्रकार नहीं होसक्ता। यदि कारण पूर्व नहो तो "मकान बन गया, वा घड़ा बन गया, ऐसा कहना ही नहीं बनता। परन्तु मकानों का बनना और उसकी नियत सामग्री का होना उस सामग्री के विना कार्य का न बनना, सिद्ध करता है कि कार्य और कारण दोनों विद्यमान हैं और विना कारण के कार्य नहीं बन सकता। यदि कारण के बिना कार्य बनसका जिस प्रकार अभाव से उत्पत्ति मानने वाले मानते हैं तो विना बीज के भी वृक्ष होजाता और किसी रोग की चिकित्सा भी नहीं हो सकती, क्योंकि इस समय तो रोग का निदान देखकर उसकी चिकित्सा करते हैं और जब रोग का कोई कारण ही नहो तब उसका विरोधी कौन है जिसके द्वारा रोग का नाश किया जावे। अतः कार्य कारण का सम्बन्ध आवश्यकीय है। कारण के होने पर कार्य की उत्पत्ति होती है, और कारण के न होने पर कार्य की उत्पत्ति नहीं होती।

प्रश्न--जब कारण विद्यमान हो तो कार्य का होना आवश्यकीय है, परन्तु ऐसा देखा जाता है कि प्रायः कार्य उत्पन्न नहीं होता इससे विदित होता है कि कार्य कारण का सम्बन्ध नहीं ?

उत्तर--जब नियम में यह आवश्यकीय नहीं कि कारणकी उपस्थिति में कार्य अवश्य ही उत्पन्न हो, किन्तु कार्य की उत्पत्ति के लिये कारण होना आवश्यकीय है, चाहे कार्य भी उत्पन्न हो चाहे नहो। जब होंगे तब विना कारण के अकस्मात् नहीं होंगे। आशय यह है कि अभाव से भाव उत्पन्न नहीं होता किन्तु भाव से भावकी उत्पत्ति होती है। जब आकाश के पुष्प की सुगन्धि को किसीने नहीं सूंघा. और न वन्ध्या के पुत्रका विवाह किसीने देखा, इसी प्रकार विना कारण के कार्यको भी किसीने नहीं देखा। अब आगे यह दिखाते हैं कि कारण की सत्ताके लिये कार्य की सत्ताकी आवश्यकता नहीं; जिस प्रकार सन्तानकी उत्पत्ति के लिये माता पिताका होना आवश्यक है किन्तु माता पिता की सत्ता के लिये सन्तान की सत्ता की आवश्यकता नहीं।

न तु कार्याभावात् कारणाभावः ॥ २ ॥

अर्थ--परन्तु कार्य के नहोने से कारण का अभाव नहीं होसकता। आशय यह है कि कारण के आश्रित कार्य की सत्ता है किन्तु कार्य के आश्रित कारण की सत्ता नहीं। क्योंकि कारणमें जो कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति है वह दो अवस्थाओं में रहती है। पहिली स्वाश्रय और दूसरी कार्मिकी। जिस प्रकार जिह्वा में बोलने की शक्ति-जब चाहे बोले जब चाहे न बोले. परन्तु बिना जिह्वा के बोलना सम्भव नहीं और भी जिस प्रकार जीव में कर्म करने की शक्ति है। चाहे करे चाहे न करे कर्म के न करने से कर्म के अभाव में जीवका अभाव नहीं होसकता। वैशेषिक शास्त्र के नवीन पुस्तक बनाने वालोंने जो अभाव को पदार्थ मानकर सात पदार्थ बतलाए हैं, यह उन्होंने सूत्रकार के आशय को न समझकर यह मान लिया है।

जब यह निश्चय हो जाता है कि कारण के न होने से कार्य नहीं होता तो मोक्ष अर्थात् दुःख से छूटने की इच्छा रखने वाला मनुष्य यह सोचसकता है कि यदि दुःखों के कारण का नाश हो जावे तो अवश्य दुःखका नाश होगा जहांतक पता लगता है यह ठीक २ ज्ञात होता है कि दुःखों का कारण विपरीतज्ञान है। क्योंकि यह जड़ जगत् चेष्टारहित है, जीवात्मा को सुख दुःख नहीं देसकता। जीवात्मा अपनी अल्पज्ञता से किसी वस्तु को सुखका कारण मानता है किसी को दुःख का कारण मानता है। इस विपरीतज्ञान से राग-द्वेष और दोष उत्पन्न होते हैं। जिसमें राग है उसको प्राप्त करनेकी और जिससे द्वेष है उसको त्यागने की इच्छा होती है। इससे धर्म और अधर्म दो प्रकार के कर्म होते हैं जिनसे जन्ममरण होते हैं जो दुःख का कारण होते हैं। यदि किसीको सन्देह हो कि इस मिथ्याज्ञान का कारण जो अल्पज्ञ जीवात्मा की अल्पज्ञता है इस मिथ्याज्ञान के नाश से जीवात्मा का भी नाश होजावेगा। यह सत्य नहीं है। क्योंकि कार्य के नाश से कारण का नाश नहीं होता द्रव्य, गुण और कर्म के लक्षणों के उपरान्त सामान्य विशेष का लक्षण करते हैं।

सामान्यं विशेषइतिबुद्ध्यपेक्षम् ॥ ३॥

अर्थ—सामान्य और विशेष यह बुद्धि की अपेक्षा से लिये जाते हैं। जो बहुतों से सम्बन्ध रक्खे वह सामान्य है, जो थोड़ीवस्तुओं से सम्बन्ध रक्खे वह विशेष है इसका आशय यह है कि जो गुण बहुत देश वा व्यक्तियों से सम्बन्ध रक्खे सामान्य कहलावेगा जो गुण थोड़े से देश वा थोड़े व्यक्तियों में रहै, वह विशेष कहलावेगा। आशय यह है कि जो गुण बहुत देश व्यक्तियों में पाये जावें वे सामान्य कहावेंगे, और जो गुण थोड़े देश वा थोड़े व्यक्तियों में रहें उनको विशेष कहेंगे, अब न्यून वा अधिक बुद्धि से जाना जाता है। जैसे कहा जावे कि 'सजीव' तो यह गुण सम्पूर्ण प्राणियों में पाया जाता है, इसलिये सामान्य है। और यदि कहाजावे "मनुष्य" तो यह गुण केवल नरोंमें ही पाये जाते हैं शेष जानदार इससे

पृथक् होजाते हैं। इसलिये इसको विशेष कहते हैं। इसी प्रकार "हिन्दुस्तानी आदमी" यह सामान्य हैं परन्तु उस में ब्राह्मण विशेष हैं। ऐसे ही ब्राह्मण सामान्य हैं और गौड़ ब्राह्मण विशेष है। वही मनुष्य जो जानदार की अपेक्षा विशेष था, हिन्दोस्तानी की अपेक्षा से सामान्य होगया क्योंकि वह सम्पूर्ण मनुष्यों को लिये हुए था। और यह केवल हिन्दोस्तान के रहनेवाले का लिये हुये है हिन्दोस्तानी जो सम्पूर्ण मनुष्यों की अपेक्षा से विशेष था, वह ब्राह्मण की अपेक्षा से सामान्य होगया क्योंकि हिन्दोस्तानी शब्द संपूर्ण हिन्दोस्तानियों के लिये प्रयोग किया जासकता है, किन्तु ब्राह्मण शब्द केवल ब्राह्मण वर्ण के लिये ही प्रयुक्त हो सकता है। आशय यह है कि सामान्य और विशेष केवल बुद्धि ही पर निर्भर हैं। क्योंकि एक ही वस्तु एक की अपेक्षा से सामान्य है तो दूसरे की अपेक्षा से विशेष है परन्तु जो सबके लिये प्रयुक्त होता है वह सदैव सामान्य ही रहता है, क्योंकि उससे अधिक देश में रहने वाला कोई अन्यगुण ही नहीं जिसकी अपेक्षा से वह विशेष हो सके। जैसे सत्ता का गुण प्रत्येक वस्तु में रहता है, इस लिए वह सामान्य है यह कभी विशेष नहीं हो सकता। आशय यह है कि कोई सर्वव्यापक वस्तु विशेष नहीं हो सकती वह सदैव सामान्य ही रहेगी। सर्वव्यापक पदार्थों को छोड़कर शेष पदार्थों में सामान्य और विशेष बुद्धि से निश्चित किया जाता है इसीको आगे और भी पुष्ट करते हैं:—

भावोऽनुवृत्तेरेव हेतुत्वात् सामान्यमेव ॥ ४ ॥

अर्थ—अनुवृत्ति अर्थात् बार २ लौटपौट कर प्रत्येक वस्तु के मिलने से यह विदित होता है कि भाव अर्थात् सत्ता सामान्य है, क्योंकि जिस पदार्थ को हम देखते हैं उसमें सत्ताको विद्यमान पाते हैं कोई वस्तु ऐसी नहीं जो सत्तासे रहित हो। जब सम्पूर्ण विशेषों में सत्ता विद्यमान है तो उसको सामान्य मानना पड़ेगा, क्योंकि जो एक पदार्थ में सत्ता है उसको दूसरी वस्तु की सत्तासे पृथक् करनेवाला कोई गुण नहीं है।

द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं च सामान्यं विशेषाश्च ॥५॥

अर्थः—द्रव्य में द्रव्यत्व गुण है जिसके कारण वह और पदार्थों से भिन्न जानाजाता है इसही प्रकार गुण में गुणत्व है जो औरों से उसे पृथक् करता है। ऐसे ही कर्म में कर्मत्व है जो उस को अन्यों से पृथक् करता है। वह सामान्य और विशेष दोनों प्रकार का है। जिस प्रकार पृथिवी आदि प्रत्येक द्रव्य में जो गुण है, वह सामान्य द्रव्यों में रहने से सामान्य है, परन्तु जो पृथिवी में विशेषता उत्पन्न करनेवाले गुण हैं, जो पृथिवी को दूसरे द्रव्यों से पृथक् करते हैं, और वे विशेषकर पृथिवी में होनेसे और द्रव्यों में न होनेसे विशेष हैं, और एक द्रव्य के बहुत कार्य द्रव्यों में जानेसे, जोगुण, एक कार्यद्रव्य को दूसरे कार्यद्रव्य से भिन्न करते हैं, उनके कारण और भी होजाते हैं ऐसेही गुणकर्म में भी समझलेना कि सामान्य गुणोंमें जो धर्म मिलते हैं उनके कारण से गुण सामान्य हैं किन्तु रूप आदि गुणों में जो धर्म, एक गुणको दूसरे गुणसे पृथक् करते हैं, उनके कारण से विशेष हैं इसी प्रकार कर्मों में जानलेना चाहिये।

अन्यत्रान्येभ्यो विशेषेभ्यः ॥ ६ ॥

अर्थः—यह विशेषता कार्य द्रव्यों में ही रहती है क्योंकि उसी समय एक दूसरे से भिन्न होना जानाजाता है, किन्तु परमाणुओं की अवस्था में यह भेद नहीं कर सकते इसलिये उस अवस्था में सम्पूर्ण द्रव्यों का सामान्य होनाही पाया जाता है कार्यावस्था में भिन्न २ गुणों की प्रतीति होनेसे विशेषता होजाती है। अतः सामान्य और विशेष का जो भेद वर्णन किया गया है, यह जगत् की कार्यावस्था में समझना चाहिये परमाणु अवस्था में केवल सामान्य ही समझना चाहिये। अब सत्ता की परीक्षा आरम्भ होती है।

सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता ॥७॥

अर्थः—जिसके कारण द्रव्य, गुण और कर्म में "यह द्रव्य है, कर्म है, गुण है" यह व्यवहार या ज्ञान होता है, उसका नाम सत्ता है।

द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं सत्ता ॥ ८ ॥

अर्थः—सत्ता द्रव्य, गुण और कर्म से पृथक् है, क्योंकि सत्ता यदि गुण होती तो कर्म में पायी जाती। गुण में नहीं पाई जाती कारण कि गुणमें गुण नहीं होता यदि द्रव्य होती तो भी ठीक नहीं क्योंकि गुणमें द्रव्य नहीं होता। द्रव्य में गुण रहता है। और यदि कर्म होती तो कर्म में विद्यमान न होती क्योंकि कर्म में कर्म नहीं होसकता। दोनों के बराबर गुण होने से व्याप्य व्यापक का सम्बन्ध नहीं रहसकता। इसको और पुष्ट करने के लिये अगला सूत्र कहते हैं।

प्रश्न—द्रव्य गुण कर्म से पृथक् सत्ता कोई वस्तु सिद्ध नहीं होती, क्योंकि उसको (सत्ता को) उनसे पृथक् नहीं करसकते।

उत्तर—गुणकर्मसु च भावान्न कर्म न गुणः ॥९॥

अर्थ—सत्ता द्रव्य तो होही नहीं सकती क्योंकि उसमें न तो गुण है न क्रिया है। न वह समवाय कारण हो सकती है। यही द्रव्य के लक्षण हैं जब द्रव्य नहीं तो गुण और कर्म में रहने से गुण और कर्म भी नहीं होसकते। इसलिये सत्ता द्रव्य गुण और कर्म से भिन्न सब वस्तुओं में रहनेवाली और सबसे भिन्न है। इसपर और भी युक्ति देते हैं।

सामान्यविशेषा भावेन च ॥ १० ॥

अर्थः—जिस प्रकार द्रव्य, गुण और कर्म में सामान्य और विशेष पाया जाता है, यदि सत्ता भी द्रव्य गुण और कर्मों में से कोई होती तो उसमें भी सामान्य और विशेषता पाई जाती जबकि सत्ता में ये दोनों (सामान्य और विशेष) नहीं पाये जाते इसलिये द्रव्य गुण कर्मसे सत्ता एक भिन्न वस्तु है।

प्रश्न—पहिले सूत्र सं० ४ में बतलाचुके हैं कि सत्ता सामान्य है, विशेष नहीं अब इसको सामान्य और विशेष से पृथक् क्यों कहा?

उत्तर—पूर्व जो सामान्य होना कहा है, वह द्रव्य गुण और कर्म में रहनेवाले गुण की अपेक्षा से जो सामान्य और विशेष हैं, कहा है। जबकि सामान्य और विशेष का लक्षण बताचुके

हैं कि वे बुद्धि से निश्चित किये जाते हैं। इसलिये अपेक्षा रखनेवाले गुण एक ही पाये नहीं जाते अतः एक सत्ता में इन दोनों गुणों का न होना ही सिद्ध होता है। सामान्य की अपेक्षा से विशेष होता है और विशेष की अपेक्षा से सामान्य होता है। जहां विशेष न हो तो किसकी अपेक्षा से सामान्य कहावेगा? इसलिये सामान्य और विशेष का शब्द सत्ता के लिये आही नहीं सकता अतः केवल सत्ता में सामान्य और विशेष का प्रयोग नहीं होसकता।

अनेकद्रव्यवत्वे द्रव्यत्वमुक्तम् ॥ ११ ॥

अर्थः—जिसतरह द्रव्य, गुण और कर्म में सत्ता रहती है, जो न द्रव्य है न गुण न कर्म, ऐसेही अनेक द्रव्योंमें रहने वाला द्रव्यत्व है, जिससे द्रव्य की गुणकर्म से पृथक् पहिचान होजावे अर्थात् गुणकर्म सामान्य विशेष इत्यादि से, जिसगुणके कारण द्रव्यको भिन्न मानते हैं और वह द्रव्यमें सदैव रहनेसे नित्य है। वह द्रव्यत्वभी, द्रव्य गुण और कर्म से नितान्त भिन्न है, और अनेक द्रव्यों में रहने से सामान्य ही है। यदि द्रव्यपन को विशेष मानाजावे तो अनेक द्रव्यों में एक द्रव्यपन नहीं रहना चाहिये किन्तु अनेक में अनेक गुण होने चाहिये। जैसे एक द्रव्य दूसरे से भिन्न है, परन्तु द्रव्यत्व दोनों में समान और एकही है। इसलिये द्रव्यत्व, द्रव्य से भिन्न है जो सारे द्रव्यों में समान भावसे रहता है। द्रव्य में, कारण और कार्य होने से, नित्यता और अनित्यता पाई जाती है, किन्तु द्रव्यत्वमें यह बात नहीं है। वह सदैव समान भाव से रहता है इसके सम्बन्ध में युक्ति देते हैं:—

सामान्यविशेषाभावेन च ॥ १२ ॥

अर्थः—क्योंकि द्रव्यत्व में, जो उसको गुण कर्म से पृथक् करता है, सामान्य और विशेष नहीं है किन्तु वह सारे द्रव्यों में समानतया रहता है। जिस प्रकार सत्ताको, सामान्य और विशेष न होनेके कारण, द्रव्य, गुण और कर्म से भिन्न सिद्ध कर चुके हैं, इसही प्रकार द्रव्यत्व, सामान्य और विशेष न होने

से, द्रव्य गुण और कर्म से पृथक् है। जिस प्रकार की सत्ता सिद्ध कीगई है उसही प्रकार यहां भी जानलेना चाहिये।

तथा गुणेषु भावात् गुणत्व मुक्तम् ॥ १३॥

अर्थः—जिस प्रकार सम्पूर्ण द्रव्यों में रहनेवाला द्रव्यत्व द्रव्यगुण कर्म से पृथक् है, इसही प्रकार सम्पूर्ण गुणों में रहने वाला गुणत्व भी द्रव्य गुण कर्म से पृथक् है और सत्ता के समान नित्य है। इस पर युक्तिदेते हैं:-

सामान्यविशेषा भावेन च ॥ १४ ॥

अर्थः...यदि द्रव्य गुण कर्म से गुणत्व भिन्न नहो, तो, द्रव्यों में रहने वाला द्रव्यत्व, गुणों में रहनेवाला गुणत्व और कर्म में रहने वाला कर्मत्व, जिनसे (उनकी भिन्नता प्रतीत करते हैं, पृथक् २ कैसे जाना जावे ? इसलिये सामान्य और विशेष के न होने से गुणत्व भी नित्य है।

कर्मसु भावात् कर्मत्वमुक्तम् ॥ १५ ॥

अर्थ—प्रत्येक कर्म में रहनेवाला होने से कर्मत्व कहागया है। यह भी द्रव्यत्व और गुणत्व के समान सामान्य और नित्य है क्योंकि वह हरेक कर्म में रहता है। इन सूत्रों में जिनको हमने द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व कहा है, उससे हमारा आशय जाति से है, जो द्रव्य, गुण और कर्म में रहती है। प्रत्येक जाति को दूसरी जाति से पृथक् करनेवाला जो जातित्व है, वह सब जातियों में समानतया पाया जाता है। ऐसे ही कर्म जो जातित्व है वह भी नित्य है। इन सूत्रों से जाति को नित्य बतलाया है।

सामान्यविशेषा भावेन च ॥ १६ ॥

अर्थ—यदि कर्म में रहने वाला जातित्व, द्रव्य होता तो द्रव्य में रहने वाले सामान्य और विशेष उस में पाये जाते जबकि उस में सामान्य और विशेष नहीं पाये जाते इस लिये कर्म में रहने वाली जाति द्रव्य, गुण, और कर्म से पृथक् है।

प्रश्न—द्रव्य गुण और कर्म में रहने वाली सत्ता द्रव्य गुण और

कर्म में रहनेवाली होने से पृथक् २ क्यों न मानी जावे, क्यों कि भिन्न २ जाति में भिन्न २ प्रकार की सत्ता होसकती है।

उत्तर–सदिति लिंगाविशेषाद् विशेषलिंगाभावा- च्चैको भावः ॥ १७ ॥

अर्थ—सत्ता का लक्षण "है" कहाता है अर्थात् यह कहना कि द्रव्य है, गुण है कर्म है, ऐसा कहने से सत्ता का ज्ञान होता है और "है" कहना सब स्थानों पर समानतया पाया जाता है इसमें विशेषता करने वाला कोई भी लक्षण नहीं पाया जाता। जबकि सत्ता, किसी प्रकार से भी सामान्य और विशेष नहीं हो सकती। यथा "द्रव्य है" ऐसा कहने में जैसे 'है' कहा जाता है, ऐसेही 'कर्म है' कहनेमें कहाजाता है। जहां चाहो प्रयोग करो "है" अवश्य हा आवेगा और वह समान होगा। जबकि "है" में भेद उत्पन्न करके, विशेषता करने वाली कोई बात ही सिद्ध नहीं होती तो सत्ता को भिन्न २ प्रकार का मानना किस प्रकार स्वीकार किया जासका है। कहीं पर छोटे बड़े परिणाम ही भेद का कारण होते हैं जिनसे विशेषता होजाती है। जैसे बड़ा दीपक और छोटे दीपक एक ही जाति है, परन्तु छोटाई, बड़ाई के भेदसे विशेषता उत्पन्न हो सकती है, किन्तु सत्ता में किसी प्रकार तो भेद होही नहीं सकता। इसलिये विशेषता उत्पन्न करने वाले किसी लक्षण के न होने से सत्ता एक सी ही माननी चाहिये। यही आशय है।

वैशेषिक दर्शन भाषानुवाद

अध्याय २ आन्हिक १

रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथ्वी ॥ १ ॥

अर्थः पृथ्वी, में, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श, ये गुण रहते हैं। जैसे नीला, पीला काला और लाल आदि जो रङ्ग है, रूप कहाते हैं। खट्टा मीठा कड़वा कसैला, नमकीन फीका और चरपरा आदि रस हैं। सुगन्ध और दुर्गन्ध आदि गन्ध कहाते हैं। वह प्रथ्वी में ही रहते हैं। स्पर्श जैसे ठंडा, गर्म, कठोर, कोमल और न गर्म न सर्द आदि पृथ्वी में पाये जाते हैं।

प्रश्न—पत्थर में गन्ध और रस नहीं पाया जाता है और पत्थर को पार्थिव माना जाता है।

उत्तर—पत्थर में गन्ध और रस दोनों विद्यमान है। पत्थर की यदि भस्म करदी जावे तो दोनों का प्रत्यक्ष होसकता है, क्योंकि यदि पत्थर में रस न होता तो जलाने से उसकी भस्म न होती। जो परमाणु पत्थर में थे वही उसके भस्म में है। जब भस्म में गन्ध का प्रत्यक्ष होता है तो पत्थर में भी हैं यह अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि ये गुण जो पृथ्वी के वत लाये गए हैं ये संयुक्त के गुण हैं उनमें से जो रूप गुण है वह अग्नि का है रस जल के संयोग से है, गन्ध पृथिवी संयुक्त का स्वाभाविक गुण है और स्पर्श वायु के संयोग से है। जो पञ्च भूत हमें दृष्टिगत होते हैं वे सब संयुक्त हैं, उनमें जो स्थूल हैं उनमें सूक्ष्म के गुण रहते हैं। पृथ्वी सब से स्थूल है इसलिये उस में सब भूतों के रहने से उन सब के गुणों का प्रत्यक्ष पृथ्वी में होता है। जो जिससे सूक्ष्म है, उसमें अपने से स्थूल के गुणों की प्रतीति नहीं होती, जो अगले सूत्रों में सिद्ध किया जावेगा। जिन मनुष्यों ने इन संयुक्त भूतों को देखकर, आर्य पदार्थविद्या पर कटाक्ष किये हैं कि आर्य

लोग जिन भूतों को तत्व मानते हैं वे मुरक्कब (संयुक्त) हैं, यह उनकी अज्ञानता का कारण है । आर्य लोग इन स्थूल भूतों को तत्व नहीं मानते किन्तु इनको संयुक्त ही मानते हैं । अब यह स्थूल पृथ्वी के स्वाभाविक और नैमैत्तिक गुण बतला दिये आगे उसकी विशेष व्याख्या करते हैं ।

रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः ॥ २ ॥

अर्थ—इनमें से रूप, गन्ध, रस और गुण पानी में रहते हैं, और वह बहने वाला चिकना होता है । जल, जबकि पृथ्वी से सूक्ष्म है इसलिए गन्ध जो पृथिवी का गुण है वह उसमें नहीं रहता किन्तु वायु का स्पर्श और अग्नि का गुण रूप उसमें रहते हैं इसलिए वायु और अग्नि जल से सूक्ष्म हैं । जिन लोगों ने पानी को तत्व नहीं माना, और यह बतला दिया कि जल दो अवयवों से संयुक्त है । एक औक्सिजन, और दूसरा हाइड्रोजन अर्थात् उन्होंने इस संयुक्त जल में एक तो ओक्सिजन बतलाया, जिसको प्राणप्रद वायु बतलाया है, वास्तव में जोकि अग्नि से मिली हुई एक सूक्ष्म वायु है, दूसरा हाइड्रोजन जो कि एक जल से मिली हुई वायु है । यदि इस संयुक्त जल से वायु और अग्नि के भाग पृथक् करदिये जावें जो परमाणु अवस्था में लाने के अतिरिक्त और किसी प्रकार सम्भव नहीं, तो जो जल बचेगा । वह जल के परमाणु होंगे, चाहे इस समय के साइन्स जानने वाले, अपने साधनों की न्यूनता से, पांच से पांचसौ तत्वों तक पहुंच जावें, परन्तु अन्त में पुनः पांच ही पर आना पड़ेगा ।

प्रश्न—जल का रूप कैसा है ?

उत्तर—जल का रूप श्वेत है । जहां कहीं कोई नैमित्तिक दोष का संयोग होता है तो उससे और रंग दीखने लगते हैं और रस जल का मीठा है । जहां खारी प्रतीत होता है, वह किसी दोष के कारण से है । स्पर्श जल का शीत होता है । जब जल का उष्ण स्पर्श होता है तब उसमें अग्नि का संयोग होता है । यद्यपि बहना जल का स्वाभाविक गुण है किन्तु किसी कारण से हिम (बर्फ) व ओला बन जाता है, जल में मिलाने का भी गुण है ।

तेजो रूपस्पर्शवत् ॥ ३ ॥

अर्थ—तेज अर्थात् अग्नि का गुण रूप और स्पर्श है। जबकि पृथिवी और जल दोनों अग्नि से स्थूल हैं, इसलिए उनके गुण गन्ध और रस अग्नि में नहीं होते. आशय यह है कि जिसमें चमकदाररूप और गर्म=उष्ण स्पर्श होता है वह तेज है।

प्रश्न—यदि स्पर्श उष्ण होता है यही अग्नि का लक्षण है, तो चन्द्रमा हीरा, मणि सोना और चाँदी में तेज होता है, परन्तु उनमें स्पर्श उष्ण नहीं होता।

उत्तर—यदि चन्द्रमा आदि सबों में स्पर्श उष्ण होता है, परन्तु जल का गुण जो शीत है उसके अधिक होने से उष्णता प्रतीत नहीं होती, क्योंकि जो बलवान् होता है वह दूसरे की शक्ति को तिरोभूत कर देता=दबा देता है। इसी प्रकार कहीं जल की अधिकता से जैसे चन्द्रमा में कहीं मिट्टी की अधिकता से जैसे मट्टी आदि में उष्णता प्रतीत नहीं होती।

तेज चार प्रकार का है-एक वह जिसमें रूप और स्पर्श दोनों प्रत्यक्ष होते हैं, जैसे रूप और अग्नि दूसरा जिसमें रूप का प्रत्यक्ष होता है स्पर्श का नहीं, जैसे चन्द्रमा इसमें उष्णता का प्रत्यक्ष नहीं होता।

तीसरे जिसमें उष्णता का प्रत्यक्ष होता है रूप का नहीं होता जैसे गरम घड़ा व गरम हवा। चौथे वह जिसमें रूप और उष्ण दोनों का प्रत्यक्ष नहीं होना-जैसे आँख। ये चार प्रकार ही श्री स्वामी शङ्कराचार्य ने लिखे हैं। प्रशस्तपाद ऋषि ने अपने भाष्य में इस प्रकार विभाग किया है, पहिली भौम जो लकड़ी आदि पार्थिव पदार्थों के जलने से प्रतीत होती है। दूसरी दिव्य जो सूर्य और बिजली आदि से प्रत्यक्ष होती है तीसरी औदर्य्य अर्थात् वह अग्नि जो खाये हुए को पेट में पचाती है। चौथी आकरज अर्थात् वह अग्नि जो सुवर्ण आदि चमकीले पदार्थों में होती है। अग्नि के गुण के उपरान्त अब वायु का गुण वर्णन करते हैं।

स्पर्शवान् वायुः ॥ ४ ॥

अर्थ--यद्यपि वायु का गुण केवल स्पर्श है तथापि शीत और उष्ण वायु का स्वाभाविक गुण नहीं जब हवा पानी के अंश को लेकर चलती है तब ठण्डी हो जाती है, और जब अग्नि के अंश को लेकर चलती है तब गरम होजाती है । वायु का गुण सरदी गरमी से पृथक् कोमल स्पर्श है । जिसका त्वचा से प्रत्यक्ष होता है । वायु का इन्द्रिय त्वचा है ।

त आकाशे न विद्यन्ते ॥ ५ ॥

अर्थ--जो पृथिवी अप, तेज और वायु के गुण गन्ध, रस, उष्णता और स्पर्श हैं, वे आकाश में नहीं पाये जाते ।

प्रश्न--आकाश में भी नीलापन होता है जो रूप है जिसका प्रतिबिम्ब स्वच्छ जल वा दर्पण में दीखता है । यदि आकाश में रूप नहीं होता तो उसका प्रतिबिम्ब किस प्रकार होता ।

उत्तर--जो नीला रूप आकाश में प्रतिबिम्ब से दीखता है, वह आकाश का रूप नहीं है किन्तु आकाश में रहने वाले जल कणों का है । और नियम यह है कि सूक्ष्म के गुण स्थूल में नहीं आते, क्योंकि गुण और द्रव्य में ऐसा ही सम्बंध है कि एक दूसरे के बिना नहीं रह सकता । इसलिए जब तक सूक्ष्म द्रव्य के भीतर स्थूल द्रव्य न आजावे तबतक उसके गुण नहीं आसकते । जबकि आकाश पञ्चतत्त्वों में सूक्ष्मतर है इस लिए आकाश में चारों तत्त्वों के गुण नहीं आसकते । जैसे पानी तो गर्म हो सकता है, क्योंकि अग्नि पानी से सूक्ष्म है परन्तु आग ठण्डी नहीं होसकती क्योंकि पानी अग्निसे स्थूल है वह अग्नि में नहीं आसकता, इसलिये अग्नि में उसका गुण सरदी नहीं हो सकती । आशय यह है कि स्थूल तत्त्वों में सूक्ष्मों के गुण मिले हुए हैं, इस कारण उन में उनके गुणों का प्रत्यक्ष होता है ।

प्रश्न--पानी में जो बहने का गुण बतलाया गया है, सो ठीक नहीं क्यों कि घी लाख और मोम भी बहने वाले पदार्थ हैं ?

उत्तर--सर्पिः जतुमधूच्छिष्टानामग्निसंयोगाद् द्रवत्वमद्भिःसामान्यम् ॥ ६ ॥

अर्थ--यद्यपि घी, लाख, और मोम आदि वस्तुओं में बहना पाया जाता है। परन्तु उनमें बहना अग्नि के संयोग से है । बिना अग्नि के संयोग के उनमें बहने का गुण नहीं पाया जाता। इसलिए उनमें यह गुण नैमित्तिक है. स्वाभाविक नहीं। पानी में गुण सामान्य है अतः उसका स्वाभाविक गुण है।

प्रश्न--रांग और चाँदी आदि में भी बहने का गुण पाया जाता है

उत्तर—त्रपुसीसलोहरजतसुवर्णानामग्निसंयोगाद्
द्रवत्वमद्भिः सामान्यम् ॥ ७ ॥

अर्थ—रांग सीसा और लोह आदि में भी बहना अग्नि के संयोग से पाया जाता है। उनमें भी यह गुण नैमित्तिक है स्वाभाविक नहीं परन्तु पानी में बिना किसी कारण के होने से, स्वाभाविक गुण है। इसी प्रकार और वस्तुओं में भी जान लेना उचित है। यद्यपि बहने का गुण, पानी और अन्य वस्तुओं में सामान्य है, किन्तु स्वाभाविक और नैमित्तिक होने से अन्तर है।

विषाणी ककुद्मान् प्रान्ते बालधिः सास्नावान्
इति गोत्वे दृष्टं लिंगम् ॥ ८ ॥

अर्थ—सींगवाला होना, कटे खुर वाला, पूंछ के अन्तिम भाव में बाल होना और गले में कांवर अर्थात् खाल जो गले के नीचे लटका करती है, यह गौके प्रत्यक्ष चिन्ह हैं। प्रथम कहा कि गाय सींगवाली है, परन्तु यह भैंस आदि अन्य पशुओंमें भी विद्यमान था इस लिये कहा फटे पाँव वाला होना, यह गुण भी दूसरे पशुओं में विद्यमान थे इसलिये फिर कहा कि पूंछ के अन्त:में बाल होना यह भी भैंस आदिमें था। अन्तमें कहा कि जिस के गले के नीचे खाल लटकती हो यह लक्षण अन्य पशुओं में नहीं अतः लक्षण समाप्त हो गया।

प्रश्न—यहां इस सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि द्रव्यों की परीक्षा में गौ के लक्षणों की क्या आवश्यकता है?

उत्तर—यह सूत्र अगले सूत्र की पुष्टि के लिये लिखा है; जिस में यह बतलाया गया है कि केवल स्पर्श ही वायु का गुण है।

प्रश्न—इस स्थलपर विना आवश्यकता के क्यों रक्खा गया, क्योंकि जिस स्थान पर और द्रव्यों का लक्षण किया गया था उसी प्रकार वायु का लक्षण भी हो सकता था ।

उत्तर—जबकि वायु का रूप न होने से प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता और स्पर्शकी परीक्षा की जा रही है, इसलिये स्पर्श को वायु का गुण सिद्ध करने के लिये अनुमान करते हैं । क्योंकि रूप रहित पदार्थों का ज्ञान और उन के गुण अनुमान से ही जाने जा सकते हैं । पक्ष के रूप युक्ति और दृष्टान्त की भी आवश्यकता पड़ा करती है इसलिये गौका दृष्टान्त देकर बताया कि जिस प्रकार गौके प्रत्यक्ष चिन्ह सींग आदि हैं परन्तु गले की खाल किसी दूसरेमें न रहने से उस का विशेष लिंग है इसी प्रकार यद्यपि वायु में शीत और उष्ण स्पर्श होता है,परन्तु ये पानी और आग के होने से वायु का केवल स्पर्श ही गुण सिद्धहै । गौके दृष्टान्त से वायु के गुणों को सिद्ध किया गया है ।

स्पर्शश्च वायोः ॥ ६ ॥

अर्थ—पस्र्श, शब्द और धृति तथा कम्प, ये वायु के अदृष्ट लिंग हैं यहाँ स्पर्श से अपाकज अनुष्ण शीत स्पर्शका ग्रहण है, अन्य आशय के बिना आकाश में तृणादिके धारण का नाम "धृति" है वायु के चलते समय वृक्षादि में होने वाले शब्द का नाम "शब्द , है और शाखादि के हिलने का नाम "कम्प" हैजैसे गौके साथ सींग आदि सम्बन्ध है वैसे ही वायु के साथ शीत आदि का सम्बन्ध है गौका जैसे गले वाली खाल का सम्बन्ध है इसी प्रकार वायु का स्वाभाविक सम्बन्ध स्पर्श मात्र से है।

प्रश्न—उक्त स्पर्श वायु का नहीं किन्तु पृथ्वी आदि का है ?

उत्तर—नच दृष्टानां स्पर्श इत्यदृष्टलिंगो वायुः ॥१०॥

अर्थ—उक्त स्पर्श पृथ्वी आदि का नहीं, इसलिये वायुका ही वह लिङ्ग है । क्योंकि जल का शीत, तेज का उष्ण और पृथ्वी का पाकज अनुष्ण शीत स्पर्श है और यह स्पर्श अपाकज अनुष्ण.

हीन होने के कारण उनसे विलक्षण है। इस लिये यह पृथ्वी आदि का न होने से वायु का ही लिङ्ग है।

प्रश्न--वायु के द्रव्य होने पर ही उक्त स्पर्श वायु का लिंग हो सकता है।

उत्तर–अद्रव्यवत्वेन द्रव्यम् ॥ ११ ॥

अर्थ--वायु द्रव्य है क्योंकि वह द्रव्य भिन्न का आश्रय है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि पृथवी आदि की भांति वायु का द्रवत्व प्रत्यक्ष नहीं है तथापि अनुमान द्वारा उसकी सिद्धि होसकतीहै जैसे समवाय सम्बन्धसे द्रव्य अर्थात् गुणकर्म आदि आश्रय होने से घटादि पृथ्वी द्रव्य रूप हैं वैसे स्पर्श तथा क्रिया का आश्रय होनेसे वायु भी द्रव्य ही है, इसलिये उक्त स्पर्श वायु-सिद्धि में लिंग है।

प्रश्न--जो "अद्रव्य" का आश्रय होता है वह द्रव्य ही होता है यह नियम नहीं, क्योंकि गुण कर्म भी अद्रव्य का आश्रय हैं परन्तु द्रव्य नहीं ?

उत्तर–क्रियावत्वाद् गुणवत्वाच्च ॥ १२ ॥

अर्थः--क्रियावाला और गुणवाला होने से वायु द्रव्य है। तात्पर्य यहहै कि गुण तथा कर्मके गुणकर्म आश्रय नहीं होसकते इस लिये "गुणवत्व" तथा "क्रियावत्व" हेतु का कहीं भी व्यभिचार नहीं। अतएव उक्त हेतुओं से वायु सिद्धि में कोई बाधा नहीं और अद्रव्य का आश्रय होने पर भी गुण कर्म का अद्रव्य होना सिद्ध है। अब वायु का नित्यत्व कथन करते हैं।

अद्रव्यत्वेन नित्यत्वमुक्तम् ॥ १३ ॥

अर्थः--वायुनित्यहै, क्योंकि उसकी उत्पत्ति का कारण कोई द्रव्य उपलब्ध नहीं होता। जैसे पृथ्वी आदि तीनो अवान्तर प्रलयमें नष्ट होजाते हैं और पुनः अवान्तर सर्ग में अपने कारण द्रव्यसे उत्पन्न होते हैं, वैसे वायु नहीं होता, इसलिये वह नित्यहै अब पृथ्वी आदि भांति वायुका अनेक होना सिद्ध करते हैं।

वायोर्वायु संमूर्छनं नानात्वे लिङ्गम् ॥ १४ ॥

अर्थः--वायुका एक दूसरे से भिन्न दिशाओंसे चलना बहुत वायुओं को सिद्ध करता है। क्योंकि प्रायः देखाजाता है कि परस्पर विरोधी दिशाओं से वायुके चलने से हवाका चक्र उत्पन्न होकर, वस्तु तिरछी चलने के स्थान में ऊपर को जाने लगती है। उस उडाने वाली वायुका भी ऊपर जाना अनुमान किया जाता है। यद्यपि वायुका रूप न होनेसे उसका ऊपर जाना प्रत्यक्ष नहीं होता, परन्तु तृणों के ऊपर जानेसे, वायुके ऊपर जानेका अनुमान होताहै, परन्तु तिरछा चलने वाला वायु अपने स्वाभाविक गुणके विरुद्ध ऊपर चलने से प्रतीत करता है कि यह चेष्टा आपस के टकरानेसे होरहीहै। वायु का एक दूसरेको रोकना, उसको एक से अधिक होना सिद्ध करताहै। जब वायु एक व्यापक द्रव्य नहीं किन्तु नानाहै,तो उसका संयोग वियोग होना भी सम्भवहै, जिससे वायुका परमाणु रूप और संयुक्त होना दोनों सिद्ध होतेहैं। इसलिये परमाणु रूप वायु तो नित्य है और कार्य रूप संयुक्त होने से अनित्य है।

प्रश्न--हवाका लिंग अदृष्ट क्यों बतलाया? क्योंकि वायुका अदृष्टलिंग प्रमाणित नहीं होता।

उत्तर-वायुसन्निकर्षे प्रत्यक्षाभावाद् दृष्टलिंगं न विद्यते ॥ १५ ॥

अर्थः--वायुके सम्बन्धका ज्ञान प्रत्यक्षसे नहीं जाना जाता अर्थात् दो वायुओं का मिलना आंख आदि इन्द्रियों से नहीं अनुभव किया जाता, इसलिये उसका लिंग स्पर्श अदृष्ट ही कहाजावेगा।

प्रश्न--यदि अदृष्ट शब्द का यह अर्थ कियाजावे कि जो किसी प्रमाण से न जानाजावे तो वह लिंग होही नहीं सकता। क्योंकि प्रत्येक भाव पदार्थ की सिद्धि प्रमाणसेही होतीहै। जब निशानके लिये कोई प्रमाण ही नहीं तो उसकी सत्ताही सिद्ध नहीं। और अभाव किसी पदार्थ का लिंग हो नहीं सकता।

उत्तर--यहाँ अदृष्ट शब्दका अर्थ केवल बाह्य इन्द्रियों से न जानने योग्य, होता है

प्रश्न--यह कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि वायुका त्वचाद्वारा ज्ञान होताहै,और त्वचा इन्द्रिय है,इसलिये वायुका बाह्य इन्द्रियोंसे ज्ञान होना पायाजाता है?

उत्तर—त्वचासे उष्ण शीत वा कोमल और कठोरका ज्ञान होता है जो वायुका लिंग नहीं है किन्तु अग्निआदि का गुण है। उष्ण शीतसे भिन्न केवल स्पर्शका ज्ञान त्वचासे नहीं होता। इस लिये वायुका लिंग अदृष्ट है जिसका अनुभव इन्द्रियों से नहीं कर सकते किन्तु उसका ज्ञान अनुमान और शब्द से सिद्ध होता है।

प्रश्न-अनुमान तीन प्रकार का होता है एक पूर्ववत् दूसरा शेषवत् और तीसरा सामान्यतोदृष्ट. उनमें से वायु में कौनसा लिंग है

उत्तर—सामान्यतोदृष्टाच्चाविशेषः ॥ १६ ॥

अर्थः—वायु के द्रव्य और अदृष्ट लिंगवाला होने से सामान्यतो दृष्ट लिंग होता है, जिसकी परीक्षा न्यायदर्शन में कर चुके हैं। जिस प्रकार अन्य वस्तुओं के कार्य नाना प्रकार के गुण व विशेषतायें प्राप्त करते हैं अर्थात् उनके रूप, रस और रङ्ग में बहुत प्रकार का भेद पाया जाता है, वैसे ही वायु कार्य कारण रूप में सामान्य दशा में रहती है, उसमें कोई भी एक दूसरे से विभेद करने वाली विशेषता उत्पन्न नहीं होती।

प्रश्न—क्या कारण है कि और द्रव्यों के कार्य बहुत प्रकार के होसक-ते हैं और वायु नानाप्रकार के कार्य पैदा नहीं करती ?

उत्तर—इसलिये कि स्थूल द्रव्यों में सूक्ष्म प्रवेश करसकते हैं और इसी कारण से कि उनमें न्यूनाधिक प्रवेश करने से विविध प्रकार के कार्य उत्पन्न होते हैं। परन्तु वायु सूक्ष्म है उसमें दूसरा द्रव्य प्रवेश नहीं करसकता, इसलिये उसके कार्य सब एक ही समान होंगे। उनमें सामान्य रूप से स्पर्श ही होगा और कुछ विशेषता नहीं होगी।

प्रश्न—वायु में शीत और उष्ण दोनों गुण सम्मिलित होजाते हैं. जिससे वायु गर्म वा सर्द कहाती है, इसलिये यह कहना ठीक नहीं कि वायु में दूसरे द्रव्य प्रवेश नहीं करते।

उत्तर—यद्यपि वायु उनको उठाकर लेजाती है, जिससे शीत वा उष्ण वायु प्रतीत होने से प्रायः लोग यह विचार कर लेते हैं, कि शीतता व उष्णता वायुमें सम्मलित होगई। सत्य तो यह है कि वायु उनको एक स्थान से दूसरे स्थान पर लेजा

रही है। जैसे चुम्बक पत्थर की शक्ति लोहे को उठा लेजाती है क्या उस समय यह मान सकते हैं कि लोहा चुम्बक पत्थर की शक्ति में प्रवेश करगया ? आशय यह है कि जो द्रव्य दूसरे द्रव्य में प्रविष्ट होजाता है, उसे सम्मलित होना कहना चाहिये, और जो किसी शक्ति से चले, वह उस में सम्मिलित नहीं कहा जावेगा।

तस्मादागमिकम् ॥ १७ ॥

अर्थ—जब कि वायु का होना अनुमान से सिद्ध है, इसलिये वेद में भी वायुकी सत्ता मानी गई है और वायुको द्रव्य कहा गया है क्योंकि शब्द वही प्रमाण हो सकता है जिसके अर्थों का होना प्रत्यक्ष व अनुमान से सिद्ध होजावे। वायु का द्रव्य होना अनुमान से सिद्ध है, इसलिये वेद में वायु को नित्य वस्तुओं (देवताओं) में गिनाया है। वायु का नित्य होना तो वेद में प्रकृति के नित्य होने से सिद्ध है और अनित्य होना उत्पत्ति के लिखने से सिद्ध है, इस लिये नित्य और अनित्य दोनों प्रकार की वायु, जिसका लिंग, चाहे अदृष्ट हो, अनुमान और वेद से पाया जाता है।

संज्ञा कर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिंगम् ॥१८॥

अर्थ—अब स्पर्श गुण वाले वायु के प्रकरण को समाप्त करके इस बात को दिखलाते हैं कि हमसे बड़ों के होने का चिन्ह क्या है जिससे उनके बनाये हुए शास्त्र और उनके किये हुए पदार्थ का पता लग सके। इसका उत्तर कणाद जी देते हैं कि उनके नाम और कर्म ही उनके होने का चिन्ह है। आशय यह है कि वेदमन्त्रों के अर्थ करने वाले ऋषियों के होने का प्रमाण वेदमन्त्रों के साथ उनका नाम आने से: और उनकी बनाई हुई वेदों की शाखा ब्राह्मण और वेदांगों से मिलता है।

प्रश्न—ईश्वर के होने में क्या प्रमाण है ? जिससे उसके ज्ञान वेद को प्रमाणित माना जावे ?

उत्तर—ईश्वर अनुमान प्रमाण से सिद्ध है।

प्रश्न—अनुमान के लिये व्याप्ति की आवश्यकता है।

उत्तर—प्रत्येक जड़ वस्तु में क्रिया उत्पन्न करने से, जो ईश्वर के अतिरिक्त अन्य से असम्भव है और नाम होने से जो सत्ता के विना नहीं हो सकता ईश्वर की सत्ता सिद्ध है वेद जैसे पूर्ण ज्ञान का प्रकाश होना किसी मनुष्य से असम्भव है, इस लिये वेदरूपी कर्म से भी ईश्वर की सत्ता सिद्ध है क्योंकि सृष्टि की आदि में विना गुरु के मनुष्यों का शिक्षा पाना सम्भव ही नहीं। जबकि इस समय भी विना गुरु के कोई विद्वान नहीं होसकता, जैसे बीज के बोने से तो मनुष्य वृक्ष को उत्पन्न कर सकता है परन्तु बीज को उत्पन्न नहीं कर सकता। इसलिये विद्या के बीज बनाने वाले परमात्मा का होना सिद्ध है, अधिक वाद विवाद अन्य स्थल पर मिलेगा।

प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात् संज्ञाकर्मणः ॥ १६ ॥

अर्थ—जो जिस वस्तुका ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से करता है वही उस का नाम रख सकता है, वही उस प्रकार की वस्तु बना सकता है। मोक्ष इत्यादि का मनुष्यों को प्रत्यक्षसे ज्ञान नहीं होता, इसलिये जिसने उनका प्रत्यक्ष किया वही उनके नाम रख सकता है, और वही उनके साधन भी बतला सकता है, इसलिये मोक्ष आदि प्रत्यक्ष पदार्थों के नाम और उनके साधनों का वर्णन हमसे अधिक योग्य ऋषियों और सर्वज्ञ ईश्वर की सत्ता का चिन्ह है।

क्योंकि हम दुनियाँ में देखते हैं कि प्रथम हम एक चीज़को पैदा करके उसके गुणों का ज्ञान प्राप्त करते हैं, फिर उसका नाम उसके गुणों के अनुसार, रखते हैं। इसलिये प्रत्येक प्रकार का नाम रखना ईश्वर के नियम के साथ सम्बन्ध रखता है। यह लेख यौगिक नामों के लिये है। रूढ़ि शब्द जो विना गुणों के ज्ञान के सर्वसाधारण बोलते हैं वह पृथक् हैं। जिस प्रकार की औषध को ले के दांतों के अनुकूल होने से सांप को मारती है, इस प्रकार की बातों को ज्ञात करके उसका गौण सम्बन्ध दिखाना, पुराने योगियों की विद्याको प्रकट करता है। इसी प्रकार चन्द्र, सूर्य और पृथिवी आदि जो दृश्य जगत् है उसको बनाने वाला और चे छादेने वा ला

कोई मनुष्य तो होही नहीं सकता, और वही जड़ जगत् में स्वाभाविक कर्म विद्यमान है इसलिये उसका कर्म, जो उस की चेष्टा से प्रतीत होता है, ईश्वर के होने का लिंग है ।

निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिंगम् ॥ २० ॥

अर्थः—आकाश की विद्यमानता का लिंग निष्क्रमण और प्रवेशन निकलना और घुसना है । क्योंकि जहां दिवाल आदि होती है वहां कोई मनुष्य प्रवेश करना नहीं चाहता । प्रत्युत द्वार आदि से जहाँ २ पर आकाश होता है । वहीं से निकलता है और जहाँ से निकलता है वहाँ पर भी आकाश को छोड़ता है जहाँ तक आकाश होता है वहीं तक जा सकता है ।

प्रश्न—आकाश का होना असम्भव है, क्योंकि वायु, अग्नि, जल, और पृथिवी के परमाणुओं से सारी जगह घिरी हुई है ।

उत्तर—यह विचार ठीक नहीं । क्योंकि यदि सारी जगह भरी होती कहीं खाली नहीं होती तो चीजों में सुकड़ना नहीं पाया जाता क्योंकि सुकड़ने की अवस्था में आकाश में परमाणु भर कर द्रव पदार्थों को ठोस बना देते हैं, यहाँतक कि प्रत्येक ठोस से ठोस पदार्थ में आकाश को विद्यमानता पाई जाती है, जिसका प्रमाण यह है कि लोहे से गरमी पार होजाती है, पीतल से पार होजाती है, सोने से पार हो जाती है, यहाँतक कि प्रत्येक ठोस पदार्थ में अग्नि के परमाणुओं के प्रवेश करने के लिये अवकाश होना पाया जाता ह । आशय यह है कि निकलने और जाने से ही नहीं प्रत्युत प्रत्येक कर्म से ही आकाश का होना सिद्ध होता है । निष्क्रमण और प्रवेशन केवल उदाहरणार्थ बतलाया है । इस पर प्रतिपक्षी शङ्का करता है कि:

तदलिंगमेकद्रव्यत्वात्कर्मणः ॥ २१ ॥

अर्थः—निकलना अग्नि का कर्म, कारण और कार्य होने के अनुसार संयोगसे, आकाश की सत्ता का प्रमाण नहीं होसकते क्योंकि पूर्वही सिद्ध कर चुके हैं कि कर्म एक द्रव्य के सहारे रहता है और संयोग से उत्पन्न नहीं होसकता क्योंकि क्रिया मूर्त्तिमान्

द्रव्य ही कर सकता है। आकाश न तो मूर्त्तिमान् है जो क्रिया करे और नहीं असमवाय कारण होसकता है। इसका प्रतिवाद अगले सूत्र से होता है।

कारणान्तरानुकॢप्तिवैधर्म्याच्च ॥ २२ ॥

अर्थ—आकाश कर्म का असमवाय कारण भी नहीं होसकता, क्योंकि द्रव्य असमवाय कारण नहीं होसकता, प्रत्युत संयोग गुण असमवाय कारण होता है। इन दो सूत्रोंका अभिप्राय यह है कि जब आकाश निकलने और प्रवेश होने आदि दोनों प्रकार का कारण नहीं तो उनसे आकाश का अनुमान कैसे होसकता है? क्योंकि उनका आकाश के साथ का ण कार्यका सम्बन्ध नहीं है, और अनुमान या तो कारण का कार्य से होता है, या कार्य का कारण से। यदि कोई यह कहे कि आकाश कर्म का निमित्त कारण है तो भी ठीक नहीं। उसका प्रतिवाद अगले सूत्र से करते हैं।

संयोगादभावः कर्मणः ॥ २३ ॥

अर्थ - कर्म का आकाश निमित्त कारण भी नहीं हो सकता, और नहीं कर्म, आकाश का समवाय, असमवाय और निमित्त कारण हो सकता है, इसलिये आकाश का अनुमान कर्म से नहीं होसकता। क्योंकि नतो कार्य कारण सम्बन्ध ही सिद्ध होता है। अगर कहो कि निमित्त कारण क्यों नहीं! क्योंकि जो जिस के बिना न हो और उसके होने से हो, वही उसका कारण होता है और कोई कर्म आकाश के विना हो नहीं सकता इसलिये आकाश को कारण मानना चाहिये लेकिन कारण वह होता है जो कार्य से पूर्व होकर भी उसके लिये नियत हो। आकाश सबके साथ सम्बन्ध रखने से किसी का नियत कारण नहीं हो सकता। क्योंकि व्यापक होने से उसका कहीं अभाव ही नहीं। इसलिये चाहे कार्य हो या नहो, आकाश रहेगा और केवल आकाश से कोई कार्य नहीं उत्पन्न हो सकता। इसलिये आकाश को कोई कारण नहीं कह सकते। इन तीनों सूत्रों में आकाश के कारण होने का खंडन

कियागया है। हम आकाश को क्रिया करने का कारण या जिसमें कर्म हो वह द्रव्य नहीं मानते किन्तु उसका आधार वतलाते हैं। यदि आकाश न हो तो कोई मूर्तिमान् पदार्थ किसी में कर्म करेगा कहां से? निकल कर कहां जायगा? जब कि प्रतिवादीने भी आकाश की सत्ता से इनकार नहीं किया किन्तु उसको सर्वव्यापक माना है। केवल कर्म से उसके कारणकार्यभाव होने का विरोध किया है, इसलिये वाद विवाद को अधिक न बढ़ाकर, आकाश के गुण शब्द को बतलाते हैं।

कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः ॥ २४ ॥

अर्थ—कारण के गुण के अनुसारही कार्यके गुण देखे जाते हैं। क्योंकि पृथिवी आदि में जो गुण पाये जाते हैं, केवल उपादान कारण के अनुसार ही होते हैं। जो किसी कारीगर की बनाई हुई सुन्दर वस्तुओं में रूपमत्ता आदि गुण पाये जाते हैं वह निमित्त कारण के गुण के अनुसार ही होते हैं। जैसा कर्ता होगा वसी ही कार्य के भीतर श्रेष्ठता देखी जावेगी परन्तु रूप आदि गुण के समान कोई कारण शब्द का ज्ञान नहीं होता न तो उसकी उत्पत्ति पृथिवी से होती है और न पानी से न आग और हवा का वह गुण सिद्ध होता है इस पर युक्ति देते हैं।

कार्यान्तराप्रादुर्भावाच्छब्दः स्पर्शवतामगुणः ॥२५॥

अर्थ—जब कि शब्द बांसुरी, शंख और बीन आदि कार्यों से उत्पन्न होता है, इसलिये वह कारण के गुण के अनुसार ही होता है जैसा बाजाहोता है वैसाही शब्द भी होता है यदि ऐसा होकि शब्द उनका कार्यहो, तो जैसे तारोंके मिलने से कपड़ा बनजाना है या दो कपालों से मिलकर जैसे घड़ा बनता है, वैसे ही समान जातीय परमाणुओं के मिलने से रूप रस आदि के उपरान्त घट आदि का प्रत्यक्ष होता है, ऐसे ही बीन, सितार आदि ऐसे अवयव हैं कुछ भी शब्द नहीं, शब्द की उत्पत्ति देखते हैं; परन्तु रूप रहित तार और कपालों से घट आदि

की उत्पत्ति नहीं देखते, इसलिये यदि शब्द स्पर्श वालों का गुण होता: अर्थात् मट्टी, पानी, आग और वायु जिनका स्पर्श से ज्ञान होता है, ऐसे द्रव्यों का गुण होता तो उसमें तीव्र से तीव्र और मन्द से मन्द होना न पाया जाता। इसलिए यह स्पर्श करने योग्य द्रव्य का गुण नहीं। आगे और बतलाते हैं–

परत्र समवायात् प्रत्यक्षत्वाच्च नात्मगुणो न मनो गुणः ॥ २६ ॥

अर्थः—शब्द आत्मा और मन का गुण नहीं है. इस पर विचार करते हैं कि यदि शब्द आत्मा का गुण होता तो जिस प्रकार कहा जाता है कि "मैं सुखी हूं" "मैं दुःखी हूं" और मैं चाहता हूं इसी प्रकार मैं बजता हूं, मैं शब्द वाला हूं, इस प्रकार का ज्ञान भी होता किन्तु ऐसा ज्ञान कभी नहीं होता। ऐसा तो कहा जाता है कि शंख बजता है, बीन बजती है!

प्रश्न—शब्द के आत्मा का गुण न होने में क्या प्रमाण है?

उत्तर-इसलिए कि शब्द बाह्य इन्द्रियों से ग्रहण किया जाता है, इस लिये वह आत्मा का गुण नहीं हो सकता। यदि शब्द आत्मा ही का गुण होता तो बहरे भी सुन सकते। शब्द आत्मा और मन का गुण नहीं इसलिए बाह्य इन्द्रियों से सुना जाता है।

प्रश्न—क्या कारण है कि शब्द को मन का गुण न माना जावे।

उत्तर-शब्द का प्रत्यक्ष कान से होता है. इसलिए प्रत्यक्ष होने से मन का गुण नहीं। किन्तु प्रत्यक्ष बतलाने से यह सूचित कर दिया कि वह दिशा और काल का भी गुण नहीं।

प्रश्न—शब्द जब पृथिवी. जल. वायु. अग्नि, दिशा, काल और मन का गुण नहीं तो फिर किसका गुण है।

इसका उत्तर महात्मा कणाद जी देते हैं—

परिशेषाल्लिंगमाकाशस्य ॥ २७ ॥

अर्थः—शब्द गुण है, जिसको किसी न किसी द्रव्य के सहारे रहना आवश्यक है। जब वह स्पर्शवाली मट्टी, पानी वायु, अग्नि का गुण नहीं. और नहीं मन, दिशा और आत्मा का गुण है, इसलिए नौ द्रव्यों में से जो शेष रहा आकाश उसका गुण मानना पड़ेगा।

प्रश्न—क्या प्रमाण है कि शब्द गुण है ?

उत्तर-इसलिए कि वह एक बाह्य इन्द्रिय से ग्रहण किया जाता है और इन्द्रियां गुण के अतिरिक्त किसी द्रव्य का ग्रहण करती नहीं, इसलिए यह स्पष्ट है कि शब्द गुण है ।

प्रश्न—शब्द नित्य है वा अनित्य ?

उत्तर-शब्द अनित्य है ।

प्रश्न – विभु होने और सबके साथ सम्बन्ध रखने वाले आकाश का गुण शब्द अनित्य कैसे हो सकता है ?

उत्तर-जिस प्रकार ज्ञानादि विभु आत्मा के गुण अनित्य होते हैं, उसी प्रकार शब्द भी अनित्य हो सकता है । यहां ज्ञान से बाह्य ज्ञान को समझना चाहिए ।

द्रव्यनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥ २८ ॥

अर्थः—जिस प्रकार किसी द्रव्य के सहारे न रहने से वायु नित्य है ऐसे ही आकाश भी नित्य है क्योंकि वह अपनी सत्ता के लिए किसी दूसरी वस्तु की अपेक्षा नहीं करता, और शब्द के गुण होने के कारण उसका द्रव्य होना भी सिद्ध है ।

प्रश्न—क्या आकाश भी वायु के समान अनेक हैं ?

उत्तर—तत्त्वम्भावेन ॥ २९ ॥

अर्थः—जिस प्रकार प्रत्येक द्रव्य, गुण और कर्म आदि में रहने वाली सत्ता का गुण एक है, उसका सामान्य और विशेष न रहने से भेद नहीं पाया जाता । इसी प्रकार आकाश भी एक है, क्योंकि न तो वह परमाणुओं से मिलकर बनता है और नहीं सूक्ष्म होने के कारण किसी अन्य द्रव्य का उसमें समावेश ही हो सकता है । जब दूसरे द्रव्यों के कारण उसमें विशेषता हो ही नहीं सकती, न उसमें कारण कार्य का सम्बन्ध होता है, इसलिये आकाश को एक ही मानना ठीक है ।

शब्दलिंगाविशेषाद्विशेषलिंगाभावाच्च ॥३०॥

अर्थः—जिस सत्ता का ज्ञान बिना किसी गुण के होता है, उसकी तरह आकाश का एक होना किस प्रकार सिद्ध हो सकता है ? इसके उत्तर में कहते हैं—

जब कि शब्द ही आकाश का लिंग है तो उसके सामान्य होने से कोई विशेष लिंग होना तो आकाश को आकाश से पृथक् करना, परन्तु शब्द में कोई भेद विशेषता करने वाला नहीं इसलिये आकाश को एक ही मानना पड़ेगा, जबतक कि कोई दूसरा विशेष लिंग एक आकाश को दूसरे आकाश से भेद करने वाला सिद्ध न हो।

प्रश्न—जिस प्रकार आत्मा में सामान्य गुण ज्ञान है, परन्तु आत्मायें अनेक हैं, तो क्या शब्द गुण एक होने से आकाश अनेक नहीं हो सकते ?

उत्तर—आत्मा में यद्यपि ज्ञान गुण सामान्य है, परन्तु सुख दुःख की व्यवस्था से उनका बहुत होना सिद्ध है जिस तरह ज्ञान में सुख का ज्ञान और दुःख का ज्ञान हो सकता है अर्थात् कोई आत्मा सुख का अनुभव कोई आत्मा दुःख का अनुभव करता है, ऐसे ही शब्द में कोई विशेषता नहीं। इसलिये आकाश एक ही है।

तदनुविधानादेकपृथक्त्वञ्चेति ॥ ३१ ॥

अर्थः—जबकि आकाश में विभु होने से सब से बड़ा होना पाया जाता है, क्योंकि वह शब्द का समवाय कारण है, इसलिये उसमें संयोग और विभाग होसकता है, यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि फिर उसको सब से पृथक् क्यों कहा ? उत्तर में कहते हैं कि आकाश को सत्ता के समान प्रत्येक में रहने पर भी एक कहा है और यह नियम है कि जो एक होगा, वह दूसरों से पृथक् भी होगा, अभिप्राय यह है कि किसी वस्तु को एक कहने से ही उसका पृथक् होना सिद्ध होता है। सूत्र में जो इति शब्द आया है वह आन्हिक की समाप्ति का सूचक है, इस आन्हिक में पृथिवी, पानी, अग्नि, वायु और आकाश आदि का लक्षण कहा और प्रसंगवश ईश्वर की सत्ता भी सिद्ध की।

❀ ओ३म् ❀

वैशेषिकदर्शन भाषाटीकासहित

अध्याय २ आन्हिक २

पुष्पवस्त्रयोः सति सन्निकर्षे गुणान्तराप्रादुर्भावो वस्त्रे गन्धाभावलिङ्गम् ॥ १ ॥

अब पञ्चभूतों के गुणों का वर्णन करने के लिये प्रथम स्वाभाविक गुण और नैमित्तिक गुणों का वर्णन करते हैं कि जिससे ज्ञात हो जावे कि यह स्वाभाविक है, और यह नैमित्तिक है। स्वाभाविक गुण वह कहाता है कि जो भूत के अवयवों में होता है और अवयवों के संयोग से उसका प्रत्यक्ष होता है, और नैमित्तिक वह है जो उस में दूसरे तत्व के मिलने से प्रत्यक्ष होता है।

सूत्रार्थ—वस्त्र और पुष्प के संयोग विशेष से किसी दूसरे गुण का प्रत्यक्ष न होना, कपड़े में गन्ध के न होने का लिङ्ग है। क्योंकि पुष्प के संयोग से गन्ध का अनुभव होता है और उसके अभाव में गन्ध का भी अभाव रहता है। अभिप्राय यह है कि रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि गुण जहां स्वाभाविक रीत्या पाये जावें वही लक्षण कहाते हैं। इसके विरुद्ध लक्षण नहीं कहे जासकते हैं। जैसे वायु में गन्ध, पत्थर के नीचे सरदी, पानी में गरमी, ये लक्षण नहीं कहे जासकते, इसलिये स्वाभाविक गुण ही लक्षण होसकता है।

प्रश्न—किसी ने पूछा कि देवदत्त का मकान कौनसा है? उत्तर में उसने कहा कि कौवे वाला अर्थात् जिस पर कौवा बैठा है। वह मनुष्य वहीं जा पहुंचा। क्या यह लक्षण नहीं?

उत्तर—यह स्वरूप लक्षण नहीं, किन्तु नैमित्तिक है। यदि कौवा उस के पहुंचने से पूर्व ही उड़जावे तो कैसे पहिचान सके कि यह देवदत्त का गृह है? इसलिये स्वाभाविक गुण ही लक्षण होसकता है, नैमित्तिक नहीं।

प्रश्न—जो कपड़े में गन्ध का न होना बतलाया गया है, यह ठीक नहीं क्योंकि कपड़े के जलाने से गन्ध का प्रत्यक्ष होता है?

उत्तर—यहाँ पुष्प के समान सुगन्ध से आशय है, सामान्य गन्ध से नहीं, क्योंकि वस्त्र पृथिवी=मट्टी से बना है, उसमें उसके कारण का गुण गन्ध अवश्य होगा।

प्रश्न—क्या प्रमाण है कि पृथिवी का गुण गन्ध है?

उत्तर—व्यवस्थितः पृथिव्यां गन्धः ॥ २ ॥

अर्थः—पृथिवी का स्वाभाविकगुण, जो उसको दूसरे द्रव्यों से पृथक् करता है वह गन्ध है। शेष गुण तो दूसरों के निमित्त से पाये जाते हैं। यह पृथिवी अकेली मट्टी के परमाणुओं का ही संघात नहीं है किन्तु उसमें आप्य, आग्नेय और वायव्य=पानी, आग और वायु के परमाणु भी सम्मिलित हैं, जिससे उनके गुणों का भी प्रत्यक्ष होता है, अर्थात् वायु का स्पर्श, अग्नि का रूप और जलका का रस भी, इसमें अपने गुण के अतिरिक्त पाया जाता है। पांच गुणों और आठ द्रव्यों से, पृथिवीके गुण को पृथक् करने वाला, गन्ध है।

एतेनोष्णता व्याख्याता ॥ ३ ॥

अर्थः—जिस प्रकार पृथिवी में गन्ध गुण है, उसी प्रकार अग्नि आदि द्रव्यों में विशेषतया एक ही गुण समझ लेना चाहिये अर्थात् अग्नि में केवल उष्णता को समझ लेना चाहिये।

प्रश्न—इस सूत्र में केवल उष्णता लिखा है; अग्नि का तो नाम भी नहीं। फिर अग्नि का गुण उष्णता समझलेना चाहिये, यह कैसे निश्चय हुआ?

उत्तर—अगले सूत्र में इसको स्पष्ट करते हैं।

तेजस उष्णता ॥ ४ ॥

अर्थः—तेज का स्वाभाविक गुण उष्णता है, इसलिये अग्नि का लक्षण उष्णता ही मानना योग्य है। क्योंकि जो जिसका स्वाभाविक गुण है वही उसका स्वाभाविक लक्षण हो सकता है,

प्रश्न—क्या रूप तेज का लक्षण नहीं?

उत्तर--रूप भी तेज का गुण है किन्तु इन्द्रिय से अनुभव करने के योग्य गरमी भी अग्नि का लक्षण है।

अप्सु शीतता ॥ ५ ॥

अर्थः--जल का मुख्य लक्षण शीत है क्योंकि शीत पानी का स्वाभाविक गुण है। अब पृथ्वी, जल और अग्नि का मुख्य लक्षण बताकर, काल का गुण बताते हैं।

अपरस्मिन्नपरं युगपत् चिरं क्षिप्रमिति काललिंगानि ॥ ६ ॥

अर्थः काल के लिंग ये हैं-यह इससे पूर्व है, इसके पश्चात् है, दोनों एक साथ हैं, और जल्दी और देरी का जो ज्ञान होता है, उसको काल का लिङ्ग समझना चाहिये। जैसे राम कृष्ण से पूर्व आया। शब्द "पूर्व" बतला रहा है कि राम और कृष्ण के आने में अन्तर है जिसको समय के और कुछ नहीं कह सकते। ऐसे ही राम कृष्ण के पश्चात् गया, जिससे स्पष्ट है कि राम और कृष्ण के जाने में जो अन्तर है वह समय ही की अपेक्षा से है राम और कृष्ण साथ २ जाते हैं। यहाँ दोनों के जाने का समय एक ही ज्ञात होता है। वह शीघ्रता करता है अर्थात् कार्य करने में न्यून समय लगाता है, इसमें भी समय का पता चलता है, वह देर से करता है, इसमें भी समय का ज्ञान होता है। उपरोक्त ज्ञान ही समय की सत्ता को बताते हैं।

प्रश्न--क्या पूर्व पश्चात् आदि, काल के लिये नियत कारण हैं? तो काल की तरह नित्य होने चाहियें और नित्य हों तो उनसे काल का ज्ञान भी हो।

उत्तर--पूर्व पश्चात् आदि जो काल के लिङ्ग हैं वे एक दूसरे की अपेक्षा से होते हैं, इसलिये उनसे काल के होने का प्रमाण मिलता है।

प्रश्न--क्या प्रमाण है कि काल द्रव्य है?

उत्तर-द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥ ७ ॥

अर्थः—जिस प्रकार वायु गुण वाला होने से द्रव्य है, ऐसे ही काल भी गुण वाला होने से द्रव्य है। जिस प्रकार वायु, किसी द्रव्य से उत्पन्न न होने से नित्य है, इसी प्रकार काल भी नित्य है।

प्रश्न--काल में कौन २ से गुण पाये जाते हैं?

उत्तर--परत्व और अपरत्व ये दो गुण सामान्यतया इसके लक्षण से ही सिद्ध हैं।

प्रश्न--परत्व किसको कहते हैं?

उत्तर--जो जिसके समीप हो या पूर्व हो।

प्रश्न--काल एक है या अनेक?

उत्तर—तत्वं भावेन ॥ ८ ॥

अर्थः सत्ताके समान समय के गुण भी सामान्य होने से, सर्वत्र पाये जाते हैं उन में कोई विशेषता नहीं होती, इसलिये काल को भी एक ही जानना चाहिये।

प्रश्न तीन काल तो प्रसिद्ध ही हैं? एक भूत, दूसरा भविष्यत् और तीसरा वर्त्तमान।

उत्तर--यह काल का विभाग कार्य के होने से गौण है मुख्य नहीं, क्यों कि कार्य उत्पन्न होगा इससे कार्यका आगे होना सिद्ध होता है घड़ा हुआ था इससे घड़े की व्यतीत अवस्थाका ज्ञान होता है और घड़ा है, इससे घड़े की वर्तमान अवस्था जानी जाती है यह भेद अवस्थाओं के कारण है। वास्तव में काल में कोई विशेषता नहीं है जिससे अनेक काल समझे जावें।

प्रश्न--जबकि सैकण्ड, मिनिट, घण्टा, दिन, रात, पक्ष, महीना और वर्ष आदि काल के भेद देखे जाते हैं, तो काल को एक कैसे मान सकते हैं?

उत्तर--यह भेद काल में नहीं किन्तु सूर्य आदि के परिभ्रमण से उत्पन्न होने वाली अवस्थाओं को काल मान लिया जाता है, जैसे हीरे के समीप लाल फूल रखनेसे उस हीरे में लाली दीखपड़ती है, दूसरे हीरेके पास पीला फूल रखनेसे पीलापन दीखपड़ता है। क्या लाली और पीलापन का अन्तर हीरेमें है? कदापि नहीं। यह तो फूलों के कारण प्रतीत होता है। ऐसे ही सूर्य और चन्द्रमा आदि के घूमने के काल के भेद प्रतीत होते हैं।

नित्येष्वभावादनित्येषुभावात् कालाख्येति ॥९॥

अर्थः—नित्यपदार्थों में न होने से और अनित्यो मे होनेसे काल का भी कारण मानना चाहिये, क्योंकि काल के जो लिङ्ग बतलाये गये हैं, जैसे एक साथ पैदा हुआ, देरसे पैदा हुआ, जल्दी पैदा हुआ, अब पैदा हुआ पहिले पैदा हुआ, रात को पैदा हुआ, दिन में पैदा हुआ। इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग अनित्यों में ही होसकता है। आकाश के लिये ऐसा प्रयोग नहीं कर सकते। आशय यह है कि समय के विभाग का प्रयोग अनित्य पदार्थों ही में होसकता है नकि नित्य पदार्थों मेंअर्थात् कार्य में प्रयोग होता है नकि कारण में। इसलिये काल को एक उत्पत्ति का कारण मानना चाहिये। क्योंकि उत्पन्न होने वाले पदार्थों के लिये ही इसका प्रयोग होता है। जैसे ये दोनों भाई एक साथ उत्पन्न हुये, बड़ा उनमें से पूर्व उत्पन्न हुआ छोटा पश्चात् उत्पन्न हुआ, इस प्रकार कार्य में ही इनका प्रयोग कर सकते हैं।

प्रश्न—नित्य के साथ भी काल का सम्बन्ध पाया जाता है, जैसे उपनिषदों में लिखा है कि-इस सृष्टि से पूर्व भी ब्रह्म था" "जब सूर्य चद्रमा उत्पन्न नहीं हुए थे तब भी ब्रह्म था"।

उत्तर—इनका स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है अर्थात् ब्रह्म का उत्पन्न होना इससे सिद्ध नहीं होता किन्तु कार्य्यों की अपेक्षा से ब्रह्म में पूर्व होना मानागया है। वास्तव में 'हुआ होग।'' 'होचुका इस प्रकार 'के शब्दों का प्रयोग नित्य पदार्थ के साथ नहीं होसकता, क्यों कि 'हुआ था" ऐसा कहने से, इसका पूर्व समय होना, अब न होना सिद्ध होता है "होगा" इससे वर्त्तमान समय में न होना, आगे को होना पाया जाता है। परन्तु नित्यपदार्थ तीनों कालोंमें होता है किसी कालमें उसका अभाव नहीं होता, इसलिये काल के साथ उसका सम्बन्ध विदित नहीं होता, इसके अतिरिक्त ऋतु सम्बन्धी वस्तुओं के उत्पन्न होने में भी काल, कारण सिद्ध होता है। अब दिशा का विचार करते हैं।

इत इदमितियत स्तद्दिश्यं लिंगम्॥ १० ॥

अर्थः—जिससे इस बातका ज्ञानहो कि यह हमसे दूर है या समीप है अर्थात् दूरी होने का ज्ञान दिशा का द्योतक है। दूरी देश वा काल की होती है, इसीलिये काल के समान वरे और परे दिशा में भी होता है, परन्तु इन दोनों की दूरी में भेद इतना है कि समय की दूरी सैकण्ड, मिनिट, घण्टा, दिन,महीना और वर्ष आदि की कमी व अधिकता के कारण, अपेक्षा से गिना जाता है. और दिशा में, मध्य में न्यूनाधिक स्थान के कारण दूरी का अनुमान होता है। दूर परे और वरे का ज्ञान होना ही दिशा का लिङ्ग है और विशेष कारणों के सम्बन्ध से और भी लिङ्ग होते हैं जिनकी चर्चा आगे होगी।समय और देश के कारण से भी दूरी और समीपता के चिन्ह पाये जाते हैं। जैसे रामचन्द्रजी से पाण्डव और हरिश्चन्द्र परे हुए, यहां समय के कारण अन्तर पाया गया। ऐसे ही रूस जर्मनी से वरे है, और इङ्गलिस्तान परे है यहदूरी देश के कारण से है।

द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥ ११ ॥

अर्थः—जिस प्रकार वायु के परमाणुओं का द्रव्य होना नित्य पाया जाता है, इसी प्रकार दिशाभी द्रव्य है और नित्य है।

प्रश्न—दिशा के द्रव्य और नित्य होने में क्या प्रमाण है?

उत्तर—इसलिये कि दिशा में गुण पाये जाते हैं, और गुण, द्रव्य के अतिरिक्त किसी और में रहते नहीं, इसीलिये दिशाको द्रव्यही मानना ठीक है।

प्रश्न—दिशा में कौनसा गुण पाया जाता है?

उत्तर—दिशा में परत्व और अपरत्व आदि गुण पाये जाते हैं, जिससे उनका गुण होना सिद्ध है।

प्रश्न—दिशा के नित्य होने में क्या प्रमाण है?

उत्तर—इसलिये कि दिशा अपनी सत्ता के लिये किसी अन्यद्रव्य की अपेक्षा नहीं रखती। इसलिये वह नित्य है, क्योंकि अनित्य वस्तु अपनी सत्ता के लिये दूसरे की अपेक्षा रखती है।

प्रश्न—दिशा एक है वा अनेक?

उत्तर—दिशा एक है।

प्रश्न—इसमें क्या प्रमाण है?

उत्तर—तत्सम्भावेन ॥ १२ ॥

अर्थ—दिशा का लिङ्ग तो सामान्यतया एक स्थान पर पाया जाता है और विशेषता को प्रगट करनेवाला लिङ्ग नहीं पाया जाता, इसलिये दिशा का एक होना सिद्ध है।

प्रश्न—हम बहुतसी दिशायें सुनते हैं, इसलिये दिशा का एक होना ठीक नहीं क्योंकि दश दिशायें तो सबही मानते हैं।

कार्यविशेषेण नानात्वम् ॥ १३ ॥

अर्थ—यद्यपि दिशा स्वरूप से एकही है, परन्तु कार्य के होने से अनेक ज्ञात होती हैं। दश दिशायें कार्य के कारणही कही जाती हैं।

प्रश्न—ऐसा कौनसा कार्य है जिसके सबब से दश दिशाओं की गणना होती है? जब कि दिशा नित्य है तो उसके कार्य अनित्य होंगे, उन्हें दिशा कहना ठीक नहीं?

उत्तर—आदित्यसंयोगाद् भूतपूर्वाद् भविष्यतो भूताच्च प्राची ॥ १४ ॥

अर्थः—प्रथम जिस ओर सूर्य निकलता है उसका नाम प्राची है, चाहे यह विचार करके कि कलके दिन इस ओर से सूर्य चढ़ाथा, चाहे इस समय चढ़ता देखने से चाहे आगे को चढ़ने का ज्ञान होने से, इस ओर का नाम पूर्व है। भूतकाल में सूर्य इस ओर से निकला था, वर्त्तमान में निकल रहा है, और आगे को निकलेगा। तीनों कालों में सूर्य के निकलने के सम्बन्ध से ही इस दिशा का नाम पूर्व है। यदि सूर्य का निकलना न हो, जैसा प्रलय काल में होता है, तो उस समय प्राची अर्थात् पूर्व दिशा कहना ठीक नहीं होगा, क्योंकि जिस कारण उस दिशा का यह नाम था उस समय वह कारण ही नहीं। इसीलिये कार्य जगत् की अवस्था में ही अनेक प्रकार की दिशाओं का होना सिद्ध होता है। वास्तव में मुख्य दिशा एक ही है।

प्रश्न—प्राची अर्थात् पूर्व दिशा का तो आपने इस प्रकार समाधान कर दिया, परन्तु शेष दिशाओं के लिये क्या कहोगे?

उत्तर—तथा दक्षिणा प्रतीची उदीचीच ॥ १५ ॥

अर्थः—शेष दिशाओं के प्रयोग में भी यही कारण है अर्थात् जिस समय सूर्य के सामने खड़े होते हैं, तो दक्षिण हाथ जिस ओर होता है, तो उसको उपचार से अर्थात् दक्षिण हाथ के सम्बन्ध से, दक्षिण कहते हैं और वामहस्त के संयोग से उत्तर कहाता है; और जिस ओर पीठ होती है, उसके पीछे होने से, उसको पश्चिम कहते हैं। फलतः यह चारों दिशायें सूर्य की ओर देखने से काम में लाई जाती हैं। बिना सूर्य इनमें भेदोत्पत्ति नहीं हो सकती।

प्रश्न—इन चारों दिशाओं को तो इस प्रकार माना, शेष को कैसे सिद्ध करोगे।

उत्तर—एतेन दिगन्तरालानि व्याख्यातानि ॥१६॥

अर्थः—कोणों की ओर जो दिशायें हैं उनका व्यवहार भी इस सूर्य की ओर देखने से सिद्ध होता है, क्योंकि सूर्य की ओर जो दृष्टि करेंगे उससे जो रेखा उत्पन्न होगी और दक्षिणहाथ की ओर जो रेखा उत्पन्न होगी उनसे एक समकोण बनजावेगा, जब उस समकोण में भाग दिया जावेगा तो पूर्व और दक्षिण कोण उत्पन्न होगा। जब छिपने के समय सूर्य की ओर दृष्टि करेंगे तो उससे जो रेखा उत्पन्न होगी और जो दायें हाथ की ओर रेखा जावेगी और उससे जो समकोण उत्पन्न होगा उसके भाग से उत्तर पश्चिम कोण उत्पन्न होगा। इसी प्रकार दो कोण बायें हाथ से पैदा होजावेंगे। दो पहर के समय सूर्य की ओर देखने से उसके विरुद्ध नीचे की दिशा का ज्ञान होजावेगा। इसलिये दिशाके ये विभाग तो सूर्य की गति और सम्बन्ध के कारण हैं। यहां तक दिशाका विचार समाप्त हुआ अब आकाश के गुण शब्द की परीक्षा करते हैं॥

सामान्यप्रत्यक्षाद् विशेषाप्रत्यक्षाद् विशेषस्मृतेश्च संशयः ॥ १७ ॥

अर्थः - किसी विषय की परीक्षा करने में जबतक संशय का होना न पाया जावे तबतक परीक्षा नहीं हो सकती, इसलिये ऋषियों ने सिद्धान्त कर दिया है कि न तो, जिसका निस्सन्देह ज्ञान हो जावे, उसकी परीक्षा की जाती है और नहीं उसकी परीक्षा होती है, जिसका कुछ भी ज्ञान न हो किन्तु जिसका संदिग्ध ज्ञान हो उसकी। परीक्षा हुआ करती है, इसलिये परीक्षा करने से पूर्व उसके सबसे बड़े भाग संशय का जानना आवश्यकीयहै। इसलिये शब्द की परीक्षा से पहिले ही उसमें उत्पन्न होने वाले सँशय का लक्षण करते हैं क्योंकि शब्द के विषय में सर्वसम्मति के न होने से संशय उत्पन्न होता है। कोई शब्द को द्रव्य मानते हैं। जैसे आज काल के कबीरपन्थी और राधास्वामी मत वाले शब्द से जगत् की उत्पत्ति मानने के लिये शब्द को द्रव्य ही मानते हैं। इसी प्रकार पहिले भी मनुष्यों का विचार था कि शब्द द्रव्य है। कतिपय आचार्य इसको गुण ही मानते हैं और नित्य भी मानते हैं। बहुत से अनित्य जानते हैं इसलिये शब्द के नित्य व अनित्य होने में भी संशय है।

प्रश्न—संशय किसको कहते हैं ?

उत्तर—सामान्य गुण के प्रत्यक्ष होने और विशेषगुण के प्रत्यक्ष नहोने पर विशेष गुण के स्मरण होने पर, संशय उत्पन्न होता है।

प्रश्न—विशेष किसको कहते हैं ?

उत्तर—जो एक को दूसरे से पृथक करदे जैसे दूर से ठूंठ को देखने से लम्बाई आदि गुण, जो मनुष्य के साथ मिलने से सामान्य है, और सिर, पैर और मुख आदि गुण के प्रत्यक्ष न होने से यह संशय उत्पन्न होता है कि वह मनुष्य है या स्थाणु (ठूंठ) क्योंकि मनुष्यको अपने गुण सिर पैर वाला होनेकी याद तो आती है. किन्तु सिर पैर का प्रत्यक्ष नहीं होता और ठूंठ के सामान्य गुणों का ज्ञान होताहै, परन्तु सिर पैर का न होनाभी प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिये दोनों के विशेष गुण के याद आने से और प्रत्यक्ष न होने से संशय उत्पन्न होता है। आशय यह है कि जहाँ दोनो ओर की प्रतिज्ञायें एक सी प्रतीत हों, वहां संशय उत्पन्न होगा।

प्रश्न—देखी वस्तु में तो संशय हो सकता है परन्तु आत्मा आदि अदृष्ट पदार्थों में क्यों संशय उत्पन्न होता है?

उत्तर—दृष्टं च दृष्टवत् ॥ १८ ॥

अर्थः-संशय दो प्रकारका होता है एक बाह्य पदार्थों में दूसरा आभ्यन्तर पदार्थों मे। बाह्य पदार्थों में जो संशय होता है वह भी दो प्रकार का है। एक वह जिसके धर्म को देख सके एक वह जिस के धर्म को न देख सकें। जैसे ऊंचे ठूंठ को देखकर यह विचार करते हैं कि यह ठूंठ है या आदमी? दूसरे जंगल में झाड़ियों में गाय वा नील गाय के सींग देखने से यह संदेह उत्पन्न होता है कि यह गाय है या नीलगाय? वास्तव में वहां भी सींग ही में सन्देह होता है, कि यह गाय के सींग हैं वा नील गाय के? अभिप्राय यह है कि एक स्थल में तो सम्पूर्ण धर्म वाले को देख कर सामान्य धर्म का ज्ञान होने और विशेष धर्म का न होने से सन्देह होता है और दूसरे समय केवल एक एक के प्रत्यक्ष होने से सम्पूर्ण न देखने से सन्देह होता है क्योंकि सामान्य धर्म बहुतो में पाया जाता है

यथादृष्टमयथादृष्टत्वाच्च ॥ १९ ॥

अर्थ—जैसे देखने से सन्देह होता है वैसे ही न देखने से भी सन्देह होता है। जैसे पूर्व किसी मनुष्य को डाढ़ी मूंछ और सिर पर बाल रक्खे देखा था दूसरे समय डाढ़ी मूंछ और बालों को न देखकर भी संशय होता है। वा किसी मनुष्य का सिर ढका हुआ देखकर यह विचार होता है कि अमुक मनुष्य है, उसके सिर पर बाल हैं या नहीं? उस स्थान पर भी अमुक मनुष्य है, उसके सामान्य धर्म का ज्ञान ही संशय का कारण है। अब आभ्यन्तर वस्तुओं में जो सन्देह उत्पन्न होता है उसका कारण बताते हैं।

विद्याऽविद्यातश्च संशयः ॥ २० ॥

अर्थः—आभ्यन्तर वस्तुओं में संशय विद्या और अविद्या से होता है कुछ जानने और कुछ न जानने से संदेह उत्पन्न होता है। जैसी किसी ज्योतिषी को यह ज्ञान हो कि सूर्यग्रहण होगा,

परन्तु यह ज्ञान न हो कि किस समय होगा, वा किस दिन वा मुहूर्त में होगा? तो उसको यह संदेह हो सकता है कि उस समय होगा या नहीं? अथवा अपनी सत्ता को सब जानते हैं परन्तु यह ज्ञान न होना कि रुधिर की गति ही जीवात्मा है वा इसके अतिरिक्त कोई अभौतिक जीवात्मा है? ऐसे ही मनका होना तो ज्ञात है, परन्तु यह संदेह हो सकता है कि मन भौतिक है या अभौतिक और नित्य है या अनित्य? जड़ है वा चैतन्य? इसही प्रकार बुद्धि द्रव्य है वा गुण, नित्य है वा अनित्य? यदि गुण है तो जीवात्माका स्वाभाविक गुण है, यदि नैमित्तिक है तो किस सम्बन्ध से उत्पन्न होगया है। इसी प्रकार वाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार की वस्तुओं में संशय होना सम्भव है, अब शब्द विषयक परीक्षा आरम्भ करते हैं—

श्रोत्रग्रहणो योऽर्थः सशब्दः ॥ २१ ॥

अर्थः—जिस अर्थ को कान ग्रहण करते हैं वह शब्द है। आशय यह है कि मधुर शब्द मन को प्रसन्न करता है और कठोर शब्द दुःखी करता है, इसलिए शब्द भी सुख दुःख का कारण हैं। इस सुख दुःख के कारण का ग्रहण कान के अतिरिक्त और किसी से नहीं होसकता। इसलिये यही लक्षण बताया कि जो कान से ग्रहण हो वह शब्द है।

प्रश्न—शब्द के विषय में क्या सन्देह है जो उसकी परीक्षा की जावे?

उत्तर—तुल्यजातीयेष्वर्थान्तरभूतेषु विशेषस्य उभयथा दृष्टत्वात् ॥ २२ ॥

अर्थ—शब्द कान से सुने जाने से गुण प्रतीत होता है, जैसे और इन्द्रियों के विषय रूप आदि हैं। आशय यह है कि जिस प्रकार रूप रस आदि गुण इन्द्रियों से ग्रहण किये जाते हैं वैसेही शब्द भी इन्द्रिय से ग्रहण किया जाता है। और हलका भारी शब्द होने से, उन गुणों का आश्रय होने से द्रव्य प्रतीत होता है, क्योंकि उसमें गुण पाये जाते हैं, इसलिये यह सन्देह उत्पन्न होता है कि शब्द द्रव्य है या गुण?

प्रश्न—जबकि शब्द सामान्य रीति पर कान से सुना जाता है तो उस में संशय ही क्यों होसकता है ?

उत्तर-संशय उत्पन्न करने वाला सामान्य धर्म का ज्ञान होना और विशेष धर्म का ज्ञान न होना बता चुके हैं, इसलिये साधारण तया शब्द के सुने जाने से उसकी सत्ता का तो ज्ञान होता है इसलिए शब्द के होने में तो कोई सन्देह नहीं, किन्तु इस बात में सन्देह है कि शब्द द्रव्य है या गुण है वा कर्म है ? अगले सूत्र में सिद्ध करते हैं कि शब्द गुण है।

एकद्रव्यत्वान्न द्रव्यम् ॥२३॥

अर्थ—शब्द एक द्रव्य से उत्पन्न होता है, एक द्रव्य में रहने वाला है, इसलिये शब्द द्रव्य नहीं होसकता, क्योंकि द्रव्य द्रव्य के सहारे नहीं होसकता और न कोई कार्यद्रव्य एकद्रव्य से उत्पन्न होसकता है किन्तु कार्यद्रव्य, सदैव, दो द्रव्यों से मिलकर उत्पन्न होसकता है। आजकल के साइन्स के ज्ञाता जो औक्सिजन आदि वायु को, गैस आदि के रूप में लाकर, तत्व मान लेते हैं, उनका भी खण्डन इस सूत्र से हो जाता है। आशय यह है कि यदि एक ही वस्तु के परम गुणों को मिलाकर कोई कार्यद्रव्य बनाना चाहें तो बन नहीं सकता केवल तत्व (एलिमेण्ट) परमाणु (ऐटम्) की अवस्था में होसकते हैं, इससे स्थूल अवस्था में संयुक्त होंगे। जबकि उनमें गुण होता है और एक द्रव्य के आश्रय रहता है, इसलिये गुण हैं, द्रव्य नहीं। कर्म होने का खण्डन अगले सूत्र से करते हैं—

नापिकर्माचाक्षुषत्वात् ॥ २४ ॥

अर्थ—कर्म आँखों से देखा जाता है और शब्द कान से सुना जाता है आँखों से देखा नहीं जाता, इसलिये कर्म भी नहीं है।

प्रश्न—कर्म आँखों से नहीं देखा जाता ?

उत्तर- जो वस्तु निष्क्रिय थी उसको क्रिया करते आँखों से देखते हैं अतः क्रिया आँखों से देखी जाती है। जितने कर्म हैं सभी आँखों से देखे जाते हैं, चाहे नीचे गिरें चाहे ऊपर उठें। जबकि शब्द आँखों से नहीं देखा जाता, इसलिये कर्म नहीं होसकता।

गुणस्य सतोऽपवर्गः कर्मभिः साधर्म्यम् ॥२५॥

अर्थ--यद्यपि कर्मके समान शब्द शीघ्र नाश होने वाला है। परन्तु कर्म नहीं, किन्तु यह गुण, कर्म के समान है।

प्रश्न--कर्म के अतिरिक्त गुणों का शीघ्र नाश होना सम्भव नहीं है अतः शब्द गुण नहीं।

उत्तर-बहुत से गुण भी शीघ्र नष्ट होते हैं, जैसे एक मिनटमें तो सुख का ज्ञान था दूसरे मिनट में दुःख का ज्ञान होगया, मानो पूर्व ज्ञान का नाश होकर दूसरा उत्पन्न होगया, इसलिये यह बात नियत नहीं कि कर्म का ही शीघ्र नाश होता है। शब्द, गुण और कर्म में इतना साधर्म्य है कि दोनों शीघ्र नाश होने वाले हैं।

प्रश्न--शब्द नित्य है वा अनित्य ?

उत्तर--सतो लिङ्गाभावात्॥ २६॥

अर्थ- शब्द सत् (नित्य) नहीं है क्योंकि यदि शब्द नित्य होता तो कहने से पूर्व भी उसकी विद्यमानता का कोई लिङ्ग होता। ऐसा कोई भी लिंग नहीं जिससे कहने और सुनने से पूर्व शब्द का होना ज्ञात होसके। इसलिये शब्द की विद्यमानता में कोई लिंग न होने से ज्ञात होता है कि कहने से पूर्व शब्द विद्यमान नहीं।

प्रश्न--शब्द आकाश का गुण है, और आकाश नित्य है इसलिये उसका गुण शब्द भी नित्य होसकता है, इसलिये शब्द से आकाश के होने का प्रमाण नहीं मिलता, क्योंकि यदि शब्द आकाश का कार्य होता तो उससे अनुमान होसकता था; गुण से अनुमान नहीं होसकता।

उत्तर-शब्द उत्पन्न होता है अतः नित्य नहीं, इसलिये वह आकाश का लिंग होसकता है, क्योंकि बिना आकाश के शब्द की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। शब्द के अनित्य होने में और भी हेतु देते हैं।

नित्यवैधर्म्यात् ॥२७॥

अर्थ--नित्य शब्द के गुणों में विरोध है। इसलिये शब्द भी अनित्य है।

प्रश्न—शब्द नित्य है, क्योंकि उसमें बार बार लौटना (आवृत्ति) पाया जाता है, कहने से तो केवल उसका प्रत्यक्ष होता है, उत्पत्ति नहीं होती।

उत्तर-देवदत्त कहता है उसी को यज्ञदत्त कहता है इस प्रकार के लौटने से उन दोनों के शब्द एक जाति वाले होने से गुणों में समान हैं। वही शब्द होने का भ्रममात्र है, वास्तव में उत्पन्न होने वाला होता है,क्योंकि प्रकाश प्रकाशक के द्वारा होता है। जैसे घर में घड़ा हो परन्तु अन्धेरे के कारण प्रगट न हो तो दीपक आजाने से वह प्रगट होजावेगा परन्तु दीपक बनाने का काम कुम्हार से होगा। इसलिये शब्द कहने वाले से उत्पन्न होता है न कि प्रगट होता है। उसके अनित्य होने में और भी हेतु देते हैं।

अनित्यश्चायं कारणतः ॥ २८ ॥

अर्थ—शब्द कारण से उत्पन्न होता है, इसलिए वह कार्य होने से अनित्य है।

प्रश्न—शब्द की उत्पत्ति का कारण क्या है ?

उत्तर-नगाड़े पर चोट लगाने से शब्द उत्पन्न होता है, बांसरी में फूँक मारने से शब्द उत्पन्न होता है, ऐसे ही किसी न किसी प्रकार के कर्म करने से ही शब्द उत्पन्न होता है।

प्रश्न—हम इस संयोग से उत्पत्ति नहीं मानते किन्तु प्रगट होना मानते हैं!

उत्तर—नचासिद्धं विकारात् ॥२९ ॥

अर्थ—शब्द का उत्पन्न होने वाला होना सत्य है, किन्तु प्रगट होने वाला मानना चाहिए यह सत्य नहीं, क्योंकि विकार से शब्द का उत्पन्न होने वाला होना सिद्ध होता है। यथा-नगाड़े पर ज़ोर से चोट लगायें तो उच्च शब्द निकलेगा और हलकी लगायें तो हलका शब्द निकलेगा। ऐसे ही प्रत्येक शब्द के कारण की अवस्था उत्पन्न होने वाली होने में तो ऐसे विकार होसकते हैं किन्तु प्रगट होने में ऐसा विकार नहीं हो सकते। इसलिये उत्पन्न होने वाला ही मानना चाहिये प्रगट होने वाला नहीं, क्योंकि कारण के [illegible] से कार्य में विका-

र आनेसे स्पष्ट अनुमान होता है कि शब्द कारणसे उत्पन्न होता है नकि प्रगट होता है ।

प्रश्न—यह प्रगट होने का ही लक्षण है कि वह उच्च वा मन्द होता है, जैसे पंखे आदि के कारण वायु भी तीव्र वा मन्द होजाती है।

उत्तर—अभिव्यक्तौ दोषात ॥ ३० ॥

अर्थः—यदि शब्दका उत्पन्न न होना मानकर केवल प्रगट होना माना जावे तो उसमें यह दोष होगा कि दोनों एक देश में रहने वाले *अभिव्यञ्जक और अभिव्यंग्य होंगे परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता कि अभिव्यञ्जक और अभिव्यंग्य दोनों एक देशमें रहते हों और नियत हों । यदि तुम नियत अभिव्यञ्जक और अभिव्यंग्य मानोगे तो 'क' की अभिव्यक्तिं से संपूर्ण वर्णों की अभिव्यक्ति (प्रकाश)होगी ।

प्रश्न—एकही देश में रहने वालों में भी अभिव्यञ्जक और अभिव्यंग्य सम्भव हैं जैसे एक ही मनुष्य में सत्ता, मनुष्यत्व और ब्राह्मणत्व रहते हैं और वह ब्राह्मणपन उसी शरीर में रहता हुआ, अभिव्यञ्जक है । ब्राह्मण के बतलाने के लिये ब्राह्मणत्व ही अभिव्यञ्जक नियत है और ये दोनों एक ही शरीर में रहते हैं ।

उत्तर—उनमें एक स्थान पर रहने वाला होना नहीं पाया जाता है, क्योंकि जितने स्थान पर सत्ता रहती है उतने ही स्थानपर मनुष्यत्व नहीं रहता, क्योंकि सत्ता तो सारी वस्तुओं में रहेगी और मनुष्यत्व केवल मनुष्यों में रहेगा ऐसे ही ब्राह्मणत्व केवल ब्राह्मणों में रहेगा और मनुष्यत्व सारे मनुष्यों में रहेगा, इसलिये शब्द में अभिव्यञ्जक और अभिव्यंग्य होने का दोष असिद्ध है ।

संयोगाद् विभागाच्च शब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः ॥ ३१ ॥

अर्थः—शब्द की उत्पत्ति तीन प्रकार से होती है—संयोग, विभाग और शब्द से भी शब्द की उत्पत्ति होती है । जैसे नगाड़े और चोब के संयोग से शब्द उत्पन्न होता है, परन्तु जहां

*अभिव्यक्ति के कारण का नाम अभिव्यञ्जक और अभिव्यक्ति वाले का नाम अभिव्यंग्य है ।

वृक्ष के टूटने, बाँस के कटने आदि से शब्द उत्पन्न होता है, उसका कारण संयोग नहीं होता, वहां विभाग से शब्द उत्पन्न होता है। जहां दूर से वंशी की ध्वनि आती है, वहाँ संयोग विभाग दोनों के न होने से शब्द से शब्द की उत्पत्ति होती है।

प्रश्न--जब शब्द, इस प्रकार तीन कारणों से उत्पन्न होता है तो वह आकाश का गुण किस प्रकार कहला सकता है?

उत्तर--ये शब्द के असमवयि कारण हैं, और आकाश समवाय कारण है। जब कि गुण और गुणी में भी समवाय सम्बन्ध रहता है, इसलिये आकाश में यह संबंध विद्यमान है, केवल कार्यरूप शब्द की उत्पत्ति की चर्चा है कारण रूप शब्द तो आकाश का गुण है ही। शब्द के अनित्य होने में और भी हेतु देते हैं।

लिंगाच्चाऽनित्यः शब्दः ॥ ३२ ॥

अर्थः--जिस प्रकार वंशी आदि का शब्द उत्पत्तिधर्मा (उत्पन्न होने वाला) होने से अनित्य है वैसे ही वर्णात्मक भी अनित्य ही हैं क्योंकि कान से सुनाजाना दोनों शब्दों में समान होने से दोनों की जाति एक ही है। जिस जाति में जो गुण होता है वह उसकी प्रत्येक व्यक्ति में होता है, क्योंकि शब्द उत्पन्न होता है और कान से सुनाजाता है, ऐसे ही अर्थवत् शब्द (व्यक्त शब्द) उत्पन्न होने वाले और अनित्य हैं। अब उपरोक्त सिद्धान्ती के सूत्रों को, शब्द को नित्य मानने वाला, दूषित बताकर, खण्डन करता है।

द्वयोस्तु प्रवृत्योरभावात् ॥ ३३ ॥

अर्थः--शब्द अनित्य नहीं हो सकता। क्योंकि जब गुरु अपने शिष्य को विद्या का दान करता है, और दान उसी वस्तु का होता है जो स्थायी हो यदि शब्द स्थायी न हो तो गुरु की शिष्य के पढ़ाने में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इसीलिये शब्द को ठहरने वाला मानना पड़ेगा न कि बोलने से पैदा होने वाला और बोलने के उपरान्त ही नाश होने वाला। अगर बोलने के

उपरान्त ठहरने वाला माना जावे तो उसका नित्य होना सिद्ध होगा।

प्रश्न—कुछ देर तक ठहरने से नित्य कैसे होगा?

उत्तर—अगर गुरु के कहने के उपरान्त कुछ देर तक ठहरने वाला मान लिया जावे तो उसके नाश का कोई कारण प्रमाणित नहीं होता जिससे उसका नाश होना सिद्ध हो। जिसका नाश न हो वह नित्य है ही। इसपर और हेतु देते हैं।

प्रथमाशब्दात् ॥ ३४ ॥

अर्थः—वेद में यज्ञ के प्रकरण में अग्नि जलाने में जो ऋचायें पढ़ी जाती हैं, उसमें कहा है कि तीन वार प्रथमा को पढ़ा जावे और तीनवार उत्तमा को पढ़ाजावे। यदि शब्द ठहरने वाला न हो तो प्रथमा और उत्तमा ठहर ही नहीं सकतीं, तो प्रत्येक यज्ञ में उनके पढ़ने का उपदेश कैसे होसकता है? क्योंकि शब्द के नित्य न होने से उनका तीनवार पढ़ना असम्भव है किन्तु प्रत्येकवार नये शब्द की उत्पत्ति होगी। एक का तीन वार पढ़ना नहीं होगा, क्योंकि वह शब्द तो पढ़ने के उपरान्त नष्ट हो गया; जो नष्ट होगया उसका पुनः होना किसी प्रकार सम्भव नहीं अर्थात् शब्द को नित्य ही मानना चाहिये इसपर और हेतु देते हैं—

सम्प्रतिपत्तिभावाच्च ॥ ३५ ॥

अर्थः—शब्द की पहिचान होने से भी शब्द का नित्य होना सिद्ध है अर्थात् शब्द के पुनः याद आने से। जैसे कहाजाता है कि देवदत्त! वही श्लोक पढ़ो जो पहिले विष्णुमित्रने पढ़ा था। इसप्रकारकी स्मृति उसी अवस्था में सम्भव है जबकि शब्द को बोलने के उपरान्तभी ठहरने वाला माना जावे। क्योंकि किसी वस्तु के स्थिर हुए बिना कैसे कह सकते हैं कि वही चीज़ है प्रायः कहा जाता है कि यह वही कहानी है, जो पहिले अमुक मनुष्य ने कही थी। दो मनुष्यों के कथन में समानता होनेसे शब्द का नित्य होना सिद्ध होता है। अब सूत्रकार ने शब्दके नित्य होने में जितने हेतु दिये हैं, उन सबका खण्डन करते हैं—

सन्दिग्धाः सति बहुत्वे ॥ ३६ ॥

अर्थः—शब्द बहुत होते हैं अतः उनका नित्य मानना सिद्ध नहीं हो-सकता किन्तु सन्दिग्ध है क्योंकि जो युक्तियां शब्द के नित्य होने में दीगई हैं, वे अनित्य वस्तुओं में भी पाई जाती हैं। काश्यपि आचार्य्य कहते हैं कि विरुद्ध, सन्दिग्ध और असिद्धों में भी यह बातें पाई जाती हैं, जो तीन हेतु हैं कि गुरु का शिष्य को पढ़ाना, शब्द का द्वितीयवार याद आना और शब्द का बारंबार कहना, ये तीनों हेतु अनित्य कर्म में पाये जाने से सन्दिग्ध हैं जैसे यह कहते हैं कि नाचना सीखता है नाचका अभ्यास करता है, वह पांच बार नाचा गोकुल उसी प्रकार नाचता है जैसे रामप्रसाद। इन कर्मों को भी नित्य मानना पड़ेगा। जबकि कर्म नित्य नहीं होसकता, इसलिये शब्द को नित्य कहना ठीक नहीं।

प्रश्न—यदि शब्द नित्य न हो तो अक्षरों का नियत होना, जैसे ६३ अक्षर हैं, फिर उनके छन्दों का नियत होना आदि कैसे हो-सकता है ? इसलिये संख्या नियत होने से शब्द को नित्यही मानना चाहिये, वर्न अनन्त अक्षर मानने पड़ेंगे ?

उत्तर—संख्याभावः सामान्यतः ॥३७॥

अर्थः—संख्या का नियम जाति के अभिप्राय से है। चाहे अक्षर अनन्त हों परन्तु उनमें स्थानके भेदसे इतनी जाति हैं ६३ अक्षर नहीं किन्तु इतनी जाति हैं। चाहे एक लक्ष "क" हों परन्तु वे उस जाति में सम्मिलित होने से एक हो सकते हैं। जैसे एक मोर को देखने के उपरान्त प्रत्येक मोर को कहते हैं कि मोर आया, इसी प्रकार अक्षरों को जानना चाहिये। यद्यपि द्रव्य असंख्य हैं परन्तु जाति के सम्बन्ध से ९ कहे जाते हैं। वैसे ही गुण भी अनेक हैं परन्तु २४ प्रकार के भेद किये गये हैं। ऐसे ही असंख्य अक्षर नियमित जाति में सम्मिलित किये हैं, इसलिये इस संख्यासे शब्दोंका नित्य होना सिद्ध नहीं होता

प्रश्न—वर्णों को अनित्य कहना ठीक नहीं, क्योंकि प्रायः कहतेहैं कि यह वही "ग" है; इस स्मृति से "ग" का नित्य होना सिद्ध है।

उत्तर--यही "ग" है, यह केवल जातित्व से कहा जाता है, उसमें अन्तर होता है; कोई मन्दतासे बोला जाता है कोई तीव्रतासे।

प्रश्न—यह अन्तर वास्तव में शब्द में नहीं होता किन्तु यह तो नैमित्तिक कारणों से प्रतीत होता है। जैसे किसी हीरे पर फूलकी छाया पड़ने से हीरा उस रंग का प्रतीत होता है।

उत्तर—पहिले यह सोचना चाहिये कि मन्द और तीव्र होना किसका गुण है? हवाका, नादका अथवा ध्वनिका। यदि कहो वायुका तो भी सम्भव नहीं क्योंकि एकसी चलने वाली है, किसी के कहने से उच्च होता है। ऐसे ही नाद और ध्वनि का गुण नहीं हो सकता इसलिये "ग" उत्पन्न हुआ, "ग" नष्ट होगया, ऐसा सुनने से ऐसा निश्चय होता है कि वर्ण भी उत्पन्न होने वाले हैं इसलिये अनित्य हैं।

वैशेषिक दर्शन भाषानुवाद का दूसरा अध्याय समाप्त हुआ।

* ओ३म् *

वैशेषिकदर्शन भाषानुवाद

तृतीय अध्याय प्रथमाह्निक

प्रसिद्धा इन्द्रियार्थाः ॥ १ ॥

अर्थः—इन्द्रियों के विषय प्रसिद्ध हैं, अर्थात्-आँख रूप को ग्रहण करती है, कान शब्द को ग्रहण करते हैं, रसना रसको ग्रहण करती है, नाक गन्ध का अनुभव करती है और त्वचा स्पर्श को बताती है। प्रत्येक इन्द्रिय जिस तत्व की अधिकता से उत्पन्न होती है, उसी तत्व के गुणों को ग्रहण करती है इसलिये इन्द्रियों के विषय प्रसिद्ध और नियत हैं। कोई मनुष्य रूपको विना आंख के नहीं देखसकता, कोई मनुष्य रस को विना जिह्वाके नहीं चखसकता, ऐसेही त्वचाके विना मनुष्य उष्ण, शीत, कठोर और कोमल को नहीं पहिचान सकता, गन्ध को विना नाक के नहीं जान सकता और कान के विना शब्द का ज्ञान नहीं होसकता। जो इन्द्रिय विगड़जाती है, उस के विषय का ज्ञान जीवात्मा को नहीं होसकता। जैसे अन्धे को रूप का ज्ञान, वहरे को शब्द का ज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार सारी इन्द्रियाँ और उनके विषयों की अवस्था प्रसिद्ध है। इसके विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है।

इन्द्रियार्थप्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः ॥ २ ॥

अर्थः—इन्द्रिय और उसके अर्थों का नियमित होना और प्रसिद्ध होना इन्द्रियों के स्वामी को सिद्ध करता है अर्थात् इन्द्रियों से पृथक् है जो उनके विषयों से परिमाणनिकलता है। जैसे आंख एक पदार्थ को देखती है तो उसी वस्तु को हाथ उठाता है, यदि आँख से पृथक्, कोई शक्ति न होतो आँख की देखी हुई वह

को हाथ को कैसे ज्ञान हो जिससे वह उठावे। जिस स्थान को हम कानसे सुनते हैं, पाओंसे उसी ओर चलदेते हैं। यदि कान से पृथक् कोई शक्ति नहो तो कानों से सुने हुए मार्गका पाओं को कैसे ज्ञान हो ? इस लिये संपूर्ण ज्ञानेंद्रियों के विषयों को जानने वाले एक आत्मा की सिद्धि होती है। जो ज्ञान इन्द्रियों से ज्ञानप्राप्त करके उसके अनुकूल कर्म इन्द्रियों से काम लेता है, इन्द्रिय जिस जानने वाले या कर्म करने वालेके कारण (साधन) हैं, वह उनके विषयों के नियत होने से, उनसे पृथक् सिद्ध होता है जो इन साधनों से काम लेता है।

प्रश्न—इस नियम और प्रसिद्धि का कारण शरीर है, जिसकी इन्द्रियाँ अवयव होसकती हैं, इनसे पृथक् कोई आत्मा नहीं है क्योंकि इन्द्रिय व शरीर से ज्ञान होना देखते हैं। विना शरीर के ज्ञान व कर्म दोनो नहीं होते, इसलिये शरीर से पृथक् किसी आत्मा के मानने की आवश्यकता नहीं।

सोऽनपदेशः ॥ ३ ॥

अर्थः—इन नियमित विषयों के प्रसिद्ध होने का आश्रय शरीर नहीं, अर्थात् यह शरीर के सहारे नहीं रहते। जो दोनों प्रकार अर्थात् अनुकूल और प्रतिकूल युक्तियों से प्रमाणित नहीं होसकते। क्या ज्ञान शरीर का गुण है। उसका कार्य होने से, उसके रूप आदि के समान इन्द्रियों का गुण हो सकता है। इस सन्देह को दूर करते हैं कि शरीर का कार्य ज्ञान नहीं, इसलिये यह युक्ति नहीं किन्तु प्रमाणाभास है, जो अज्ञानियों को भूल से प्रमाण विदित होता है।

प्रश्न—नहीं, ज्ञान शरीर काही कार्य है, क्योंकि शरीर के विना कभी ज्ञान नहीं होता।

उत्तर—कारणा ज्ञानात् ॥ ४ ॥

अर्थः—शरीर का कारण, जो पृथिवी, अप. तेज और वायु आदि हैं अथवा शरीर के अवयव जो हस्तपादादि हैं, उनमें ज्ञानकी प्रतीति नहीं होती। जो गुण उपादान कारण में होते हैं वही कार्य में होते हैं, शरीर के कारण में ज्ञान न होने से शरीर के गुण का ज्ञान होना सिद्ध नहीं होता

प्रश्न--शरीर के कारण पृथिवी और जलादि में ज्ञान विद्यमान है ?

उत्तर—शरीर के अनेक कारण हैं, और उन सब में चेतन होने वाला ज्ञान विद्यमान है, तो बहुतसी चेतन वस्तुओं का एकही मत असम्भव है। और अवयवों को जो चेतन मान लिया जावे तो हाथ कटजाने पर हाथ से जितने कर्म हुए थे वे याद न आने चाहिये, क्योंकि दूसरे के ज्ञान को दूसरा नहीं याद कर सकता। और शरीर के नाश होने के उपरान्त शरीर के किये हुए कर्मों का शुभाशुभ फल नहीं होना चाहिये, जो योनि आदि के भेदों से प्रतीत होता है। यदि सुख दुःख आकस्मिक माने जावें, और इनके कारण पिछले जन्म के कर्म न माने जावें तो बिना कारण के कोई कार्य होता ही नहीं, इस से यह मानना ठीक नहीं होगा। यदि कहो कि आकस्मिक भोग होना भी मानलो तो किये हुए का फल न मिलना और बिना किये का फल पाना, यह दोष उत्पन्न होगा जिससे सारे शुभ कर्मों का लोप हो जावेगा क्योंकि उन के मूल की ही स्थिति नहीं रहेगी। इस लिये शरीर के कारणों में चेतनायेन होने से ज्ञान शरीर का गुण नहीं होसकता।

प्रश्न—नहीं, शरीर के मूल कारणों में सूक्ष्म ज्ञान है जो स्थूल शरीर में प्रगट होजाता है, इस लिये कारण के गुण के अनुसार ही कार्य में गुण आते हैं ?

उत्तर—कार्येषु ज्ञानात ॥५॥

अर्थः—यदि शरीर के मूल कारण परमाणुओं में ज्ञान होता तो उन से बने हुए घर आदि में चेतनता पाई जाती। जिस प्रकार मट्टी के गुण प्रत्येक पार्थिव पदार्थ में पाये जाते हैं ऐसेही चेतनता भी पाई जानी चाहिये, किन्तु उनका चेतन होना किसी प्रकार भी नहीं पाया जाता, इस लिये शरीर के कारण परमाणुओं में चेतनता नहीं। परन्तु शरीर में चेतनता पाई जाती है जिससे पता लगता है कि शरीर से पृथक् कोई चेतन शक्ति है। जिस प्रकार उष्णजल में जल का गुण उष्णता न होनेसे यह अनुमान होता है कि गर्मी का गुण नैमेत्तिक है जो अग्नि के संयोग से प्रतीत होता है। इसी प्रकार शरीरमें

चेतनता आत्मा के संयोग से पाई जाती है । जिस स्मैतुव आत्मा नहीं उसमें चेतनता भी नहीं ।

प्रश्न--आत्मा सर्वव्यापक है, इसलिये उसके गुण चेतनता आदि भी प्रत्येक वस्तु में होने चाहियें ?

उत्तर–आत्मा दो हैं-एक शरीर में व्यापक होने से जीवात्मा, दूसरा जगत् में व्यापक होने से परमात्मा । परमात्मा के संपूर्ण ज्ञान आदि स्वाभाविक होने कोई नैमित्तिक न होने से सर्वत्र एक समान कार्य हो रहा है जिससे उसकी चेतनता का ज्ञान सर्वत्र नहीं होसकता । परन्तु जीवात्मा के एक शरीर में व्यापक और परिच्छिन्न होने से उसमें नैमित्तिक गुण ज्ञानादि का दूसरे कारणों से होना संभव है; इसलिये विशेष चेतन के ज्ञान आदि चेष्टा कि यह यही परीक्षा है ।

प्रश्न--घड़े आदि में भी सूक्ष्म ज्ञान विद्यमान हैं, परन्तु प्रतीत नहीं होता क्योंकि स्थूल वस्तु ही दीखा करती है ।

उत्तर—अज्ञानाच्च ॥ ६ ॥

अर्थः—घड़े आदि में ज्ञान नहीं क्यों कि न प्रत्यक्ष प्रमाण से घड़ेमें ज्ञान पाया जाता है नही अनुमान से उसका ज्ञान होता है । उपमान प्रमाण से कुछ पता ही नहीं लगता, कोई शब्द प्रमाण भी ऐसा नहीं जो घड़े आदि जड़ वस्तुओं को चेतन बतावे ।

प्रश्न—क्या प्रमाणों से नसिद्ध होने पर किसी वस्तु की सत्ता का इनकार होसकता है ? नहीं । क्योंकि वहुत सी वस्तु ऐसी हो सकती हैं जिनके होने में कोई प्रमाण नहीं ।

उत्तर--प्रत्येक वस्तु की सत्ता प्रमाणों से जानी जातीहै जिसकी सत्ता का सारे ही प्रमाण अभाव वतलावें, उसकी सत्ता किसी प्रकार नहीं मानी जासकती । यदि विना प्रमाण से जानी हुई सत्ता को स्वीकार करने लगें तो शशश्रृङ्ग (खरगोश के सींग) वन्ध्या का पुत्र और आकाश के फूल भी जो असम्भव पदार्थ हैं सम्भव होजावेंगे, जिससे झूठ सच की पहिचान ही जाती रहेगी । इसलिये जिसकी सत्ता का ज्ञान सम्पूर्ण प्रमाणों में से किसी से नहो, उसका अभाव ही मानना चाहिये ।

प्रश्न--आँख, नाक, कान आदि इन्द्रियों से आत्मा का अनुमान नहीं होसकता क्योंकि कान आदि नतो आत्मा के कार्य हैं, न तादात्म्य सम्बन्ध है। इन दोनों सम्बन्धों के बिना यह सिद्ध नहीं होसकता कि एक के विना दूसरा न होसके तब तक अनुमान किस प्रकार होसकता है।

उत्तर—अन्यदेव हेतुरित्यनपदेशः ॥ ७ ॥

अर्थः—जो हेतु किसी सत्ता के प्रमाण के लिये दिया जाता है वह उस वस्तु से पृथक् होता है। यदि आत्माका तादात्म्य सम्बन्ध पाया जाता तो वह हेतु नहीं होसकता, क्योंकि वह अभी स्वयं ही सिद्ध नहीं, वह दूसरे को क्या सिद्ध करेगा?

प्रश्न--जिस प्रकार अग्नि, जिसका धूम के साथ सम्बन्ध होने से, अनुमान होता है, ऐसेही कान आदि इन्द्रियों का न तो तादात्म्य सम्बन्ध हो सकता है और न इन्द्रियें आत्मा का कार्य हैं, फिर उनसे अनुमान किस प्रकार हो सकता है, क्योंकि अनुमान दो अवस्थाओं के विना नहीं होसकता।

उत्तर—अर्थान्तरं ह्यर्थान्तरस्यानपदेशः ॥ ८ ॥

अर्थः—जैसे धूम घोड़े आदि वस्तुओं से पृथक् है, ऐसे ही अपने कारण अग्नि से भी पृथक् है, तो भी, दूसरी वस्तु होने पर भी धूम घोड़े की सत्ता को प्रगट नहीं करता, किन्तु अग्नि की सत्ता को ही प्रगट करता है, इसमें विशेष गुण होना ही कारण है और वह स्वभाव के अतिरिक्त और नहीं होसकता। इसलिये जिन वस्तुओं में सम्बन्ध हो उन्हीं को हेतु मानकर अनुमान होसकता है। यदि कार्य से पृथक् दूसरी वस्तु के साथ भी स्वाभाविक सम्बन्ध स्थिर होजावे तो वह उसके अनुमान का हेतु हो सकता है। जहाँ सम्बन्ध न हो वहाँ संबन्ध ठहराना युक्ति के विरुद्ध है। आशय यह है कि जिस प्रकार असम्बद्ध वस्तुओं को हेतु मानकर उनसे अनुमान करना अयुक्त होता है वैसे हमारा पक्ष अयुक्त नहीं, किंतु आत्मा और इन्द्रियों में सम्बन्ध है क्योंकि

वे कारण हैं और आत्मा कर्त्ता है। जब कि कारण हों और कर्त्ता न हो तो कारण कार्य नहीं कर सकते। यदि कर्त्ता ही हो तो वह बिना कारण के कुछ नहीं कर सकता। बाह्य कारणों से कार्य होता हुआ देखकर कर्त्ता के होने का अनुमान होता है जैसे घड़ी को चलता हुआ देखकर चलाने वाले को न देखने पर भी, अनुमान से चाबी देने वाले का ज्ञान हो सकता है। इसी प्रकार इन्द्रियों के विषयों के नियत होने से आत्मा के होने का पता लगता है।

संयोगिसमवाये कार्यसमवायि विरोधि च॥६॥

अर्थः—प्रतिपक्षी ने यह जो कहा था कि कार्य कारण वा तादात्म्य सम्बन्ध के बिना संबन्ध सिद्ध नहीं होता, उसका खण्डन करते हैं-यह कहना ठीक नहीं कि जहाँ ये दो बातें हों वहीं संबन्ध होता है, किन्तु और प्रकार से भी संबन्ध होता है, क्योंकि संयोग, समवाय, एकार्थसमवाय और विरोधी ये चार प्रकार के लिंग होते हैं। जैसे गाड़ियों को नियम पूर्वक चलता देखकर यह अनुमान करना कि इनके सारथि दक्ष हैं शरीर खाल के बराबर है शरीर होने से, यह संयोगी का दृष्टान्त हैं। जितना शरीर बढ़ता है वैसे ही त्वचा भी बढ़ती हैं; जितना शरीर घटता है उतनी ही त्वचा घटती है अब त्वचा न शरीर का कारण है न कार्य है, केवल एक साथ उत्पन्न होने से नियत संबन्ध है।

समवाय का दृष्टांत यह है-जैसे दूर से गाय के सींगो को देखकर, या पुष्पों की सुगन्ध के आने से उनकी सत्ता का ज्ञान होता है। एकार्थ समवाय का दृष्टान्त सूत्रकार स्वयं देते हैं।

कार्यं कार्यान्तरस्य ॥ १० ॥

अर्थ—जैसे रूपकार्य दूसरे कार्य स्पर्श का लिंग है अर्थात् जो वस्तु रूपवत् है उसका ज्ञान स्पर्श से करते हैं। यह केवल उदाहरण कहा गया है नहीं तो जो अकार्य है वह उसके नित्य होने का लिंग है अर्थात् जो उत्पन्न होनेवाला नहीं वह

निरवयव है सावयव नहीं। प्रत्येक सावयव अनित्य है अर्थात् उत्पत्तिधर्मा है अब विरोधी लिंग का लक्षण भी सूत्रकार ही करते हैं।

विरोध्यभूतं भूतस्य ॥ ११ ॥

अर्थः—जो पदार्थ से उत्पन्न हुए हैं यदि उनका उत्पन्न होने वाले पदार्थ से पता लगे तो विरोधि लिङ्ग है अर्थात् जहाँ कार्य से कारण का अनुमान किया जावे वहाँ विरोधि लिङ्ग होगा। जैसे वर्षा इस बात को बतलाती है कि बादल और वायु के बिना मिले वर्षा का होना सम्भव नहीं। इस देश में हिंसक नहीं है अतः सारे जीव निर्भय फिरते हैं। जीवों के निर्भय होने का पता हिंसक मनुष्यों के न होने से लग जाता है ऐसे ही और भी विचार लेना चाहिये।

भूतमभूतस्य ॥ १२ ॥

अर्थः—शत्रु के उपस्थित होने से जब शत्रु के क्रोधादि को देखकर शत्रु के होने का अनुमान होता है। यह तीसरे प्रकार का विरोधि लिङ्ग है। जैसे सर्प को वेग से फुंकारते और झाड़ी की ओर देखते हुए देखकर पता लगता है कि झाड़ी में न्यौला है इस समय सर्प की उपर्युक्त अवस्था उसके विरोधी न्यौले के झाड़ी में होने का लिङ्ग है। इन तीन सूत्रों में विरोधी लिङ्गों को बतलाया कि प्रथम भूत का अभूत दूसरे स्थलपर वर्त्तमान का भूत,भूत का भूत लिङ्ग होसकता है।

उत्तर—प्रसिद्धपूर्वकत्वादपदेशस्य ॥ १४॥

अर्थः—हेतु वही हो सकता है जो प्रसिद्ध और प्रत्यक्ष सम्बन्ध से लिया गया हो, क्योंकि जबतक व्याप्ति का होना सिद्ध न होजावेगा तबतक एक के एक होने से दूसरे के होने का प्रमाण नहीं मिल सकता, इसलिये प्रत्यक्ष सम्बन्ध अर्थात् व्याप्ति को हेतुमान् कहकरही अनुमान होसकता है, क्योंकि अनुमान के पांच अवयव हैं- एक प्रतिज्ञा, दूसरा हेतु, तीसरा उदाहरण, चौथा उपनय, पांचवां निगमन। यदि व्याप्ति से हेतु देकर अनुमान किया जावे तो वह ठीक होगा, यदि व्याप्ति

के जानने में भूल होगी तो हेतु में भी भूल होजावेगी, जब हेतु असिद्ध होगा तब उदाहरण आदि सबही असिद्ध होजावेंगे, इसलिये चार प्रकार की व्याप्ति से चार प्रकार के लिङ्ग बतलाये जिनको हेतु मानकर अनुमान सत्य हो सकता है। इसलिये इन्द्रियों के विषयों को प्रसिद्ध अर्थात् करण मानकर ही उनसे आत्मा की सत्ता का अनुमान करना व्याप्ति से सिद्ध होता है। परन्तु जो लोग शरीर से ज्ञान का सम्बन्ध बताते हैं वे बड़ी भूल पर हैं क्योंकि यदि शरीर का गुण ज्ञान होता तो मृत्यु, सुषुप्ति और मूर्छा आदि का होना सम्भव ही न था। उस समय तो जीवात्मा और मन के मध्य तमोगुण का परदा आजाने से इस प्रकार की अवस्थायें होती हैं परन्तु शरीर के ज्ञानी होने से यह सम्भव नहीं क्योंकि शरीर का किसीके साथ कर्ता और करण का सम्बन्ध नहीं, इसलिये उसका ज्ञान जोकि स्वाभाविक गुण है, नित्य रहना चाहिये, इस लिये कार्य शरीर के सहारे ज्ञान को मानना ठीक नहीं है।

प्रश्न--शरीर के सहारे ज्ञान को मानने में क्या दोष है ?

उत्तर--शरीर और ज्ञान का सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता; मृत शरीर पाया जाता है परन्तु उसमें ज्ञान नहीं होता।

प्रश्न--व्याप्ति = नियत सम्बन्ध क्या वस्तु है ?

उत्तर--परीक्षा के योग्य वस्तु का जब हेतु के साथ ऐसा सम्बन्ध सिद्ध हो कि जिसका किसी प्रकार भी अभाव न पाया जावे तो उस सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। जैसे अग्नि से धूम उत्पन्न होता है बिना अग्नि के कभी धुआँ नहीं पाया जाता माता पिता से सन्तान उत्पन्न होती है परन्तु बिना माता पिता के कभी सन्तान उत्पन्न नहीं होती। परन्तु यह कोई दृढ़ नियम नहीं कि जहाँ अग्नि हो वहां धूम भी अवश्य हो, या जहाँ माता पिता हों वहां सन्तान भी अवश्य हो, अग्नि बिना धूम के और माता पिता बिना सन्तान के मिल सकते हैं, परन्तु धूम और सन्तान बिना अग्नि और माता पिता के नहीं मिल सकते।

प्रश्न--अग्नि के बिना धूम प्रायः दीख पड़ता है जैसे रेल का अञ्जन चला जाता है परन्तु धूम बहुत पीछे रहजाता है।

उत्तर—यद्यपि ऐसा होता है परन्तु बिना अग्नि के धुआं उत्पन्न नहीं हो सकता जहाँ से यह धुआं उठा है वहां पर अग्नि थी जो दूसरी सक्रिय शक्ति के द्वारा दूर चली गई। इस दृष्टान्त से यह सिद्ध नहीं होता कि बिना अग्नि के धुआँ उत्पन्न हुआ है। इसलिये धुंए और अग्नि का सम्बन्ध सिद्ध है केवल एंजिन के तीव्रगमन से दूरी होगई है। इसलिये धुंए को देखकर बुद्धि से विचार करने से पता लग जावेगा कि यहां पर अग्नि है। बिना अग्नि के धुंआ उत्पन्न नहीं हो सकता। इस नियत सम्बन्ध का नाम व्याप्ति है।

प्रश्न—क्या जो लोग आधार और आधेय के सम्बन्ध को व्याप्ति मानते हैं, उनका मानना ठीक नहीं?

उत्तर—जहां शक्ति से अनुमान होता है वहां कर्त्ता के अनुमान के लिये शक्ति से अनुमान होगा, वहीं पर आधार और आधेय से सम्बन्ध लिया जाता है। इस विषय में इनका मत भी सत्य है, नियतधर्म और धर्मी का वही सम्बन्ध है, इसलिये दोनों का अभिप्राय एक है।

प्रश्न—व्याप्ति में कितने दोषारोपण होते हैं जिससे उसका मानना ठीक नहीं माना जाता?

उत्तर—अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन् सन्दिग्ध श्चानपदेशः ॥ १५ ॥

अर्थ—व्याप्ति के विरुद्ध जो हेतु होगा वह हेत्वाभास कहावेगा, प्रथम तो जहाँ व्याप्ति अप्रसिद्ध हो तो हेतु को हेत्वाभास कहेंगे। व्याप्ति की सिद्धि प्रत्यक्ष देखने से ही होसकती है, जहाँ व्याप्ति प्रत्यक्ष से ग्रहण नहो वह दोष कहावेगा। प्रत्यक्ष के विरुद्ध ही व्याप्ति सब से अधिक दूषित सिद्ध होती है इस लिये उसको हेत्वाभास ठहराया। दूसरे जहाँ व्याप्ति हो ही नहीं जिसे असम्भव कहते हैं; वह भी दूषित है वहाँ पर हेत्वाभास होगा। तीसरे जहाँ व्याप्ति सन्दिग्ध हो वहाँ पर भी हेतु हेत्वाभास होगा।

प्रश्न—अप्रसिद्ध किसको कहते हैं?

उत्तर-जिसमें सम्बन्ध सिद्ध न हों वा सम्बन्ध के विरुद्ध सिद्ध हों, उसे अप्रसिद्ध कहते हैं ।

प्रश्न—असत्य किसको कहते हैं ?

उत्तर-जो हेतु प्रतिज्ञा में विद्यमान न हो या प्रतिज्ञा का गुण न हो उस सम्बन्ध को असत्य कहते हैं ।

प्रश्न—सन्दिग्ध किसको कहते हैं ?

उत्तर-सन्देह हेतु वाले को सन्दिग्ध कहते हैं । साध्याभाव वाले में हेतु के वर्त्तने का नाम सन्देह है ।

प्रश्न—ये दोष किस कारण से होते हैं ?

उत्तर—अप्रसिद्ध तो प्रत्यक्ष के विरोध से होता है, असत् सम्बन्ध कभी तो स्वरूपहानि से और कभी साध्य को सिद्ध न करने की इच्छा से होता है । सन्दिग्ध सम्बन्ध कभी तो सामान्य गुण को जानकर, कभी विशेष गुण का विचार करने से और कभी साध्य के अभाव वाले में हेतु के वर्त्तने से ये दोष उत्पन्न होते हैं ।

प्रश्न—हेत्वाभास को उदाहरणों से सिद्ध करो ?

उत्तर—यस्माद्विषाणी तस्मादश्वः ॥ १६ ॥

अर्थः—जैसे यह कहना कि इसके सींग हैं इसलिये यह घोड़ा है । घोड़े के लिये "सींगवाला" हेतु देना, प्रत्यक्ष के विरुद्ध होने से हेत्वाभास है क्योंकि हेतु वह होना चाहिये था जो प्रत्यक्ष सम्बन्ध को विचार कर दियाजावे । किसी घोड़े के सींग होते ही नहीं, इसलिये सींग वाला कहने से घोड़ा ही नितान्त प्रत्यक्ष के विरुद्ध है । घोड़े की सत्ता जो सिद्ध करता है उसके साथ सींग का सम्बन्ध किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता, इसलिये यहांपर सब प्रकार का हेत्वाभास पाया जाता है । साध्य में सम्बन्धका असम्भव होना लक्षण के असम्भव दोष में गणना, केवल, उलटे ज्ञान से ही किया जाता है ।

प्रश्न—जो हेतु साध्य को छोड़कर दूसरों में भी चला जावे, उसका उदाहरण दो ?

उत्तर—यस्माद्विषाणी तस्माद्गौरिति चानैकान्तिकस्योदाहरणम् ॥ १७ ॥

अर्थ—यह सींगवाली है इसलिये गाय है, यह अतिव्याप्ति वाले हेतु का दृष्टान्त है, क्योंकि सींग वाले और भी पशु होते हैं। इस हेतु से भैंस बकरी आदि सब ही गौ मानने पड़ेंगे। जो हेतु या धर्म साध्य को छोड़कर औरों में भी चला जावे वह अनैकान्तिक हेत्वाभास कहाता है। ऐसा हेतु साध्य को सिद्ध नहीं कर सकता। इसलिये जो गाय के होने में सींग वाली होने का हेतु दिया, वह गौ को सिद्ध नहीं करता, इसलिये अहेतु होने से हेत्वाभास ही कहावेगा।

प्रश्न—हेत्वाभास कितने प्रकार के होते हैं?

उत्तर—पांच प्रकार के हेत्वाभास होते हैं-

१—अनैकान्तिक, २—विरुद्ध, ३-प्रकरणसम, ४-साध्यसम और ५-कालातीत इनकी विशेष परीक्षा न्यायदर्शन में देखो।

प्रश्न—हेतु कितने प्रकार के हैं?

उत्तर—पहिला "केवलान्वयी" जो साध्य में समान पाया जावे, कहीं विरोध न हो। दूसरा "केवल व्यतिरेकी" जो साध्य से नितान्त ही पृथक् हो और उसका विरोधी हो, तीसरा "अन्वयव्यतिरेकी" जो किसी अंश (देश) में तो मिलता हो और किसी अंश में पृथक् हो। यह तीसरे प्रकार का हेत्वाभास होजाता है। पहिले दो में तो विरुद्ध हेतु का होना किसी प्रकार सम्भव ही नहीं; इसलिये वे हेत्वाभास नहीं हो सकते। इन पांच प्रकार के हेत्वाभासों के नाम और भी हैं। तीन का नाम तो पूर्वसूत्र में आ चुका है, अर्थात् अप्रसिद्ध, असत् और असन्दिग्ध; परन्तु सूत्र में "च" के होने से दो और का भी ग्रहण होता है अर्थात् असिद्ध और बाध, इस लिये अनैकान्तिक दो प्रकार का है-एक साधारण, दूसरा असाधारण। साधारण को तो सूत्र में बता दिया है अर्थात् सींगवाली होना जो गौ के लिये हेतु है यह सामान्यतया गौ को छोड़कर और पशुओं में भी पाया जाता है। परन्तु जो हेतु प्रतिज्ञा में न रहे और प्रतिज्ञा के विरुद्ध भी न रहे उसको साधारण कहते हैं। जैसे कहा जाये कि आकाश नित्य है इस प्रतिज्ञा के प्रमाण में यह हेतु दिया जावे कि शब्द का आश्रय होने से। यहाँ पर शब्द का आश्रय परमाणु आदि

नित्य पदार्थ हैं अथवा घड़ा आदि अनित्य पदार्थ हैं इसका पता नहीं चलता। इसलिये यह असाधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास है।

प्रश्न—विरुद्ध हेत्वाभास किसको कहते हैं?

उत्तर—जो हेतु पक्ष (प्रतिज्ञा) के विरुद्ध हो उसको सिद्ध करने के स्थान में उसका खण्डन करे वह विरुद्ध हेत्वाभास कहाता है। जैसे कहा जावे कि शब्द नित्य है इस प्रतिज्ञा में यह हेतु दिया जावे कि उत्पन्न होने वाला होने से, क्योंकि इस हेतु से शब्द का नित्य होना खण्डित होजाता है अतः यह विरुद्ध हेतु है

प्रश्न—संदिग्ध या प्रकरणसम किसको कहेते हैं?

उत्तर—जो हेतु पक्ष की सिद्धि में दिया जावे परन्तु उससे पक्ष की सिद्धि वा असिद्धि दोनों निश्चित नहों वह प्रकरणसम हेत्वाभास होगा। जैसे शब्द नित्य है नित्य आकाशका गुण होने से। इसके विरुद्ध यह हेतु देसकते हैं कि शब्द अनित्य है घट आदि के समान उत्पन्न होनेवाला होने से। आशय यह है कि घट आदि के समान उत्पन्न होने वाला होनेसे शब्द के अनित्य होने में संदेह होता है।

प्रश्न—साध्यसम वा असिद्ध हेत्वाभास किसको कहते हैं?

उत्तर—जो हेतु पक्षके समान स्वयं साध्य हो वह साध्यसम वा असिद्ध हेत्वाभास कहाता है क्योंकि पक्षके समान स्वयं साध्य है। जैसे—छाया द्रव्य है सक्रिय होनेसे। छाया का सक्रिय होना स्वयं साध्य है, छाया का द्रव्य होना तब सिद्ध हो, जब यह हेतु सिद्ध होजावे।

प्रश्न—असिद्ध या साध्यसम हेत्वाभास एक ही प्रकार का है वा उसके भी भेद हैं?

उत्तर—असिद्ध हेत्वाभास तीन प्रकार का है—एक स्वरूप से असिद्ध, दूसरा आश्रय से असिद्ध, और तीसरा व्याप्यत्व से असिद्ध। प्रत्येक की परीक्षा करने से लेखवृद्धि होगी अतः आगे चलते हैं।

प्रश्न—हेत्वाभास की परीक्षा करने से क्या लाभ हुआ?

उत्तर-आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षाद्यन्निष्पद्यते तदन्यत्॥१८॥

अर्थ—आत्मा, इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध से जो ज्ञान पैदा होता है वह हेत्वाभासों से पृथक् है अर्थात् इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध में जो आत्मा लिङ्ग है वह अप्रसिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक से भिन्न है अर्थात् वह सत् हेतु है, हेत्वाभास नहीं।

प्रश्न—यह ज्ञान आत्मा के होने का लिङ्ग किस प्रकार है?

उत्तर—आत्मा के अभाव में अर्थात् मरने पर शरीर में ज्ञान नहीं रहता या जड़ वस्तुओं में ज्ञान का अभाव पाया जाता है। दूसरे यह ज्ञान दो प्रकार से आत्मा को सिद्ध करता है, प्रथम यह कि ज्ञान गुण है जो विना किसी द्रव्य के नहीं रह सकता। मृत शरीर में न रहने से और स्वप्न अवस्था में भी न रहने से उसका आश्रय शरीर नहीं माना जा सकता इसलिये शरीर से पृथक् किसी द्रव्य का गुण ज्ञान है अतः शरीर से पृथक् आत्मा का गुण ज्ञान है। दूसरे इस विचार से भी कि जिसको मैंने जाना था उसी को मैं बुलाता हूं। यह बुलाने और जानने वाला "मैं" शरीर से भिन्न सिद्ध होता है। इसलिये ज्ञान और प्रयत्न ये दो ही आत्मा के लिङ्ग सिद्ध होते हैं। अकेला ज्ञान परमात्मा में हो सकता है, क्योंकि वह सर्वव्यापक होने से क्रिया से रहित है। केवल कर्म सूर्य, चन्द्रमा और अनेक प्राकृतिक वस्तुओं में विद्यमान होने से ज्ञान के समान कर्म भी आत्मा का लिङ्ग है।

प्रवृत्तिनिवृत्तीच प्रत्यगात्मनि दृष्टे परत्र लिंगम्॥१९॥

अपने राग और द्वेष के अनुसार किसी वस्तु की प्राप्ति में प्रवृत्त होना और किसी को छोड़ने से जैसे अपनी सत्ता का अनुमान होता है, ऐसे ही अन्य मनुष्यों के कर्म देखकर, उन की किसीसे निवृत्ति और किसी में प्रवृत्ति का अनुभव कर के, दूसरों में भी आत्मा के होने का अनुमान होता है।

प्रश्न—चुम्बक पत्थर लोहे को अपनी ओर खैंचलेता है, इससे अनुमान होता है कि उसमें आत्मा है। यदि कहो कि उसमें ज्ञान नहीं तो और वस्तुओं को क्यों नहीं खैंचता, केवल लोहे को ही क्यों खैंचता है?

उत्तर—चुम्बक पत्थर लोहे को अपनी ओर खैंच लेता है, परन्तु उस को हटा नहीं सकता, इसलिये आत्मा का होना सिद्ध नहीं। यदि प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति का प्रमाण भी मिलता, तब उसमें आत्मा का होना पाया जाता इसीलिये कर्त्ता स्वतन्त्र माना है, जिसमें करना, न करना और उलटा करना पाया जावे, उसमें आत्मा होता है, शेष क्रिया परमात्मा के नियम से होती है।
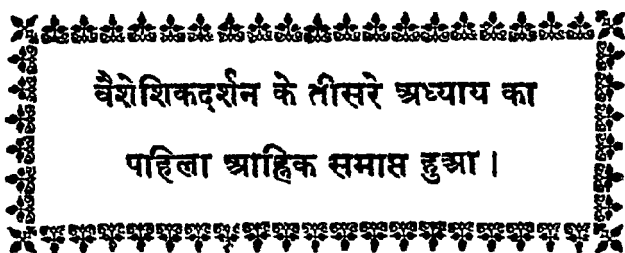
वैशेशिकदर्शन के तीसरे अध्याय का

पहिला आह्निक समाप्त हुआ।

अध्याय तीसरा आन्हिक दूसरा

प्रश्न—क्या इन्द्रियों के साथ आत्मा का सम्बन्ध होने से ज्ञान हो जाता है ?

उत्तर—आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिंगम् ॥ १ ॥

अर्थः—आत्मा की विद्यमानता में इन्द्रियों के साथ वस्तु का सम्बन्ध होने पर ज्ञान का होना और न होना मन का लिंग है अर्थात् जब इन्द्रियों के साथ मन का संयोग होता है और मन का संयोग आत्मा से होता है और वस्तु का इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध होता है तब आत्मा को ज्ञान होता है। यदि मन का इन्द्रिय के साथ संयोग न हो, जैसे प्रायः कहते हैं कि "मेरा मन और कहीं था, इस कारण मेरी समझ में आपकी बात नहीं आई" मैंने उसको जाते हुए नहीं देखा।

प्रश्न—मन क्या वस्तु है ?

उत्तर—मन अन्तःकरण है अगर आत्मा को फ़ोटोग्राफ़र और इस शरीर को कैमरा मान लिया जावे तो वह शीशा जिसके द्वारा प्रतिबिम्ब भीतर प्रवेश करता है इन्द्रियां हैं। और जिस शीशे पर छाया चित्र उतरता है वह मन है। यदि इन्द्रिय न हों तो छाया ही नहीं पड़ेगी यदि मन न हो तो इन्द्रिय पर छाया उलटी पड़ेगी उससे किसी प्रकार का ज्ञान नहीं होगा किन्तु जब वह मन पर जाकर सीधी होगी तब जीवात्मा को उसका ज्ञान होगा। इसलिये मन को अन्तःकरण जानो, दूसरे सुख दुःख के अनुभव करने का साधन भी मन ही है।

प्रश्न—मन, अणु है या विभु ?

उत्तर—यदि मन विभु = सारे शरीर में रहने वाला होता तो उसका सारी इन्द्रियों के साथ एक साथ ही सम्बन्ध होता जिससे आत्मा और इन्द्रिय के सम्बन्ध ज्ञान का होना आवश्यकीय हो जाता। किसी अवस्था में भी ज्ञान का न होना सम्भव ही नहीं था। इसलिये मन अणु है, और वह शरीर के हृदय स्थान में रहता है।

प्रश्न—मन भौतिक है या अभौतिक ?

उत्तर—मन भौतिक है, परन्तु उसकी दो अवस्थायें हैं—एक नित्य और दूसरी अनित्य। यहाँ नित्य से तात्पर्य अनादि जन्म अर्थात् बन्धन के आरम्भ से लेकर मोक्ष पर्यन्त रहने वाला है न कि सर्वदा ही रहने वाला होने से। दूसरा जो अन्न से बनता है उसकी परीक्षा का समय यहाँ नहीं किन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि मन वह थैली है जिसमें जीवात्मा के कर्मों के संस्कार और ज्ञान अङ्कित रहते हैं। जब तक मन रहता है तब ही तक संदिग्ध ज्ञान और कर्मों के संस्कार रह सकते हैं और जहाँ मन का नाश हुआ झट कर्मपरम्परा का भी नाश हुआ।

प्रश्न—यद्यपि मन विभु है परन्तु कारण होने के कारण उससे एक समय में दो इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान प्राप्त नहीं होसकता।

उत्तर—यदि मन विभु समझा जावे तो उसकी शक्ति एक सी ही सारे देश में माननी पड़ेगी ऐसी अवस्था में सारी इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान एक साथ होना मानना पड़ेगा। यह बात बिना किसी कारण के सम्भव ही नहीं कि एक स्थान पर मन की शक्ति कार्य करे और दूसरी जगह न करे।

प्रश्न—जब हम किसी वस्तु को खाते हैं तब उसके रूप, रस और गन्ध का एक साथ ही ज्ञान होजाता है ?

उत्तर—यह विचार भ्रम से उत्पन्न हुआ है कि एक साथ ज्ञान होता है किन्तु मन की चञ्चलता और वेग के कारण परंपरा से ही ज्ञान होता है। प्रथम रूप का फिर गंध का तदुपरान्त रस का जो लोग मन के वेग और एक ही समय की वास्तविकता को नहीं समझ सकते, उनको इस प्रकार सन्देह होता है।

प्रश्न—जब कि इन्द्रियों से सारे गुणों का ज्ञान हो सकता है, तो मन के मानने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—सुख दुःख का ज्ञान किसी इन्द्रिय से नहीं होता इसलिये इन गुणों के जानने के लिये जीवात्मा को किसी कारण की आवश्यकता है, और वह कारण मन है।

तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥ २ ॥

अर्थः—जिस प्रकार वायु नित्य है उसी प्रकार मन भी नित्य है और गुणों वाला होने से द्रव्य होना भी सिद्ध ही है।

प्रश्न—सुख दुःख प्राप्त करने का साधन मन है और वह द्रव्य है यह सिद्ध नहीं किन्तु साध्य है क्योंकि क्रिया भी सुख दुःख के प्राप्त करने का कारण हो सकती है। रूप के ग्रहण होने के समान और जो एक काल में दो ज्ञानोंका न होना मनका लिङ्ग बताया तो उसके कारण होने से उसका नित्य होने और द्रव्य होने में क्या प्रमाण है?

उत्तर—जिस प्रकार परमाणु वायु गुणयुक्त होने से नित्य हैं, और उसमें क्रिया भी पाई जाती हैं, इससे गुण और क्रिया होने से द्रव्य कहाता है, इसी प्रकार एक काल में दो वस्तुओं का ज्ञान न होने से जिस मनका अनुमान होता है, वह भी गुण सहित होने से द्रव्य है। इसका विना इन्द्रिय के सम्बन्ध के ज्ञानोत्पत्ति का कारण होना सिद्ध नहीं होता जिससे गुण वाला न मानकर क्रिया मानीजावे, क्योंकि द्रव्य का द्रव्य के साथ भी संयोग होता है। द्रव्य का क्रिया के साथ संयोग नहीं होसकता इसलिये सुख दुःख के ज्ञानका कारण होनेसे मनका द्रव्यहोना सिद्ध है। रूप आदि के ज्ञानके साधन आंख आदिके समान अन्य किसी के प्रभावमें न होनेसे, उसका नित्य होनाभी सिद्ध है।

प्रश्न—सांख्य शास्त्र में मनको कार्य माना है, और उपनिषदोंनेभी मनको कार्य ही मानाहै, फिर मनको नित्यमाननेसे दोनोंमें विरोध होनेसे दोनोंमें से किसका प्रमाण माना जावेगा?

उत्तर—वैशेषिक शास्त्र पूर्व बना है, इसलिये एक दम से सूक्ष्म बातों के समझने योग्य सर्वसाधारण को न जानकर सांकल्पिक जन्म से लेकर मोक्ष तक साथ रहने वाले मनको नित्य बतलाया औरवायु के साथ समानता दिखलाई। वायु भी

उत्पन्न होने वाला है मन भी उत्पन्न होने वाला है। जैसे वायु नित्य है वैसे ही मन भी नित्य है, इसलिये कोई भेद नहीं रहता। जिस प्रकार सृष्टि के आरम्भ से लेकर अन्ततक रहने वाले वायु को नित्य बतलाया है, इसी प्रकार जन्म से लेकर मोक्षपर्यन्त रहने वाले मनको भी नित्य कहा है।

प्रश्न—क्या जन्म का आरम्भ होता है ?

उत्तर—प्रवाहसे जन्म अनादि है, किन्तु स्वरूप से आरम्भ होता है।

प्रश्न—क्या एक शरीर में एक ही मन होता है ?

उत्तर—प्रयत्नायौगपद्याज् ज्ञानायौगपद्याच्चैकम्॥३॥

अर्थः—एक काल में नतो दो कर्मेन्द्रियाँ कार्य करती हैं और नहीं दो ज्ञान के विषयों का ज्ञान होता है, इसलिये मन एक ही है। यदि एक शरीर में बहुतसे मन होते, तो एक साथ ज्ञानहोना और एक साथ कर्म होना सम्भव होता।

प्रश्न—जब नाचनेवाले मनुष्य को एक साथ हाथ पाँव और अंगुलियों को चलाते देखते हैं तो स्पष्ट विदित होता है कि एक साथ ही कर्मेद्रियाँ कार्य करती हैं, इसलिये मन अनेक हो सकते हैं।

उत्तर—यह विचार ठीक नहीं। मनके अति चञ्चल होने से ऐसा भ्रम होता है। वास्तव में उसमें भी क्रम होता है; एक साथ क्रिया नहीं होती। जो लोग मन की चञ्चलता से अनिभिज्ञ हैं, वे एक साथ क्रिया होना मान लेते हैं, इससे उन लोगों का मत भी, जो शरीर में पाँच मन मानकर सारी इन्द्रियों में एकसाथ क्रिया होना बतलाते हैं, खण्डित होजाता है, क्योंकि जब एक मन से काम चलजाता है तो व्यर्थ ही पाँच की कल्पना ठीक नहीं।

प्रश्न- गुड़ को उठाकर खाने से त्वचा और रसना इन्द्रिय दोनों को एक साथ ही ज्ञान हो जाता है कि यह गुड़ मीठा है और कठोर है ?

उत्तर— यह विचार भी मन की चञ्चलताका न जानने के कारण उत्पन्न होता है। इसमें भी परम्परा विद्यमान है। इसी प्रकार जो मन के अनेक होने में हेतु दिये जाते हैं, वे सब निर्बल हैं और

मन की तीव्र गति को समझने से सब खण्डित हो जाते हैं, इस लिये अधिक वादविवाद न करके यहीं समाप्त करते हैं।

अब आत्मा की परीक्षा करते हैं

प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिंगानि ॥४॥

अर्थः—यद्यपि ज्ञान और प्रयत्न ही आत्मा के लिङ्ग हैं, परन्तु प्राण अपान अर्थात् स्वाँस का भीतर लेना और बाहर निकालना: निमेष और उन्मेष=पलक खोलना, और मींचना, जीवन=बढ़ना घटना अवस्था बदलना, करना, न करना और उलटा करना मन की गति और इन्द्रियों की गति, सुख दुःख इच्छा द्वेष, ये भी आत्मा के लिङ्ग हैं। पूर्व कहा कि प्राण आत्मा का लिङ्ग है प्राणों का काम ही भूख और प्यास है अर्थात् जो भोजन को पचाते हैं, परन्तु यह बात अञ्जन में भी पाई जाती है, इसलिये यह लक्षण अतिव्याप्त होगया, यह लक्षण वृक्षादि निर्जीव वस्तुओं में भी पाया जाता है इसलिये कहा अपान अर्थात् भोजन को पचाकर बाहर निकालना जिससे फिर क्षुधा लगती है, परन्तु यह बात भी अञ्जन और वृक्षों में पाई जाती है इसलिये कहा आँखका खोलना और बन्द करना यद्यपि ये गुण अञ्जन में विद्यमान नहीं हैं परन्तु बहुत पुष्पों और वृक्षों में पाये जाते हैं, इसलिये कहा जीवन अर्थात् बढ़ना घटना। ये बात भी वृक्षों में विद्यमान थीं. इसलिये कहा मन के ज्ञान के अनुकूल कार्य करना, अर्थात् करना, न करना, उलटा करना। यह काम न तो वृक्षोंमें पाया जाता है नहीं अञ्जन में विद्यमान है यद्यपि अञ्जन ड्राइवर के विना चल सकता है परन्तु उलटा चलना, खड़ा होजाना, आगे चलना। यह ड्राइवर की सत्ता को सिद्ध करते हैं। इसलिय जिसमें ज्ञान पूर्वक तीन प्रकार के काम होते हैं वहाँ आत्मा को मानना चाहिये। और दूसरे इन्द्रियों की चेष्टा भी अर्थात् देखना, सुनना और सूंघना आदि भी आत्मा की सत्ता को बताते हैं, क्योंकि यदि इन्द्रियों से भिन्न कोई आत्मा न हो तो इन्द्रियों

के होने पर भी ज्ञान और कर्म न होता, क्योंकि इन्द्रियाँ करण हैं न कि कर्त्ता। कर्त्ता के बिना करण कुछ भी काम नहीं कर सकते। करण के कार्य से कर्त्ता का होना पाया जाता है जैसे लकड़ी चिरी हुई मेरे पास है, एक आरी मेरे पास है। आरी और चिरी हुई लकड़ी देखने से स्पष्ट अनुमान होता है कि किसी चीरने वाले ने आरी के द्वारा इस लकड़ी को चीरा है, ऐसे ही इन्द्रियों के कार्य आत्मा के होने को सिद्ध करते हैं। सुख दुःख से भी आत्मा की सत्ता का पता चलता है कि कोई ऐसी वस्तु है जो अपने अनुकूल से सुख और प्रतिकूल से दुःख का अनुभव करती है, क्योंकि सुख दुःख दो परस्पर विरुद्ध गुण हैं जिनका किसी प्राकृतिक वस्तुसे होना सम्भव ही नहीं, क्योंकि हम किसी वस्तु में दो विरुद्ध गुणों का होना नहीं देखते। इसलिये दो परस्पर विरुद्ध गुणों का एक में रहना असम्भव है। अतः दोनों विरुद्ध गुणों को भिन्न भिन्न कालों में ग्रहण करने वाली शक्ति, जिसका यह स्वाभाविक गुण नहीं जो उनके अधिकरण से प्राप्त करती है अवश्य ही माननी पड़ेगी। इच्छा अर्थात् अनुकूल से राग, और द्वेष अर्थात् प्रतिकूलसे घृणा या सुखकी प्राप्ति की इच्छा और दुःख के दूर करने की इच्छा, ये भी जीवात्माके सत्ता सूचक लिङ्ग है, क्योंकि इच्छा और द्वेष भी दोनों विरुद्ध गुण हैं इनका किसी प्राकृतिक वस्तु में पाया जाना सम्भव ही नहीं और प्रयत्न अर्थात् ज्ञान के अनुकूल क्रिया करना भी जीवात्मा की सत्ता का लिंग है।

प्रश्न—प्राण अपान से जीवात्मा के होने का किस प्रकार प्रमाण मिलता है?

उत्तर—आँख बन्द होने में संयोग और बन्द न होने में वियोग गुण पाया जाता है। ये संयोग और वियोग कर्म के विना नहीं उत्पन्न हो सकते, इसलिये इससे कर्म का होना सिद्ध है. और कर्म विन कर्त्ता के हो नहीं सकता अतः जिसकी इच्छा पूर्वक कर्म से संयोग वियोग होते हैं कर्त्ता जीवात्मा अवश्य है यह सिद्ध होता है, क्योंकि जिस प्रकार पुतलियाँ नाचती हुई देखकर तार का हिलाने वाला कोई है ऐसा अनुमान करते हैं। यही व्यवस्था यहां समझो।

प्रश्न—जीवन से किस प्रकार आत्मा का होना सिद्ध होता है ?

उत्तर—जिस प्रकार गृह का स्वामी गृह की मरम्मत करता है, निष्प्रयोजन चूने आदि को निकाल देता है, और अच्छे २ को लगाता है। ऐसे ही शरीर का स्वामी घावों को भरता है, शरीर को बढ़ाता है और मल को निकालता है; भोजनके सार भाग को ग्रहण करता है इससे स्पष्ट विदित होता है कि आत्मा है

प्रश्न—चेतना अर्थात् ज्ञान का अधिकरण शरीर है, क्योंकि उसकेइस कहने से कि "मैं गोरा हूं" "मैंकालाहूं" "मोटा हूं, दुबला हूं" पता लगता है ?

उत्तर—जिसप्रकार मालके लुटनेसे । और घरके जलनेसे प्रायःकहतेहैं कि "मेरा नाश होगया" वास्तवमें उसका कुछभी नहीं बिगड़ा केवल, घरको अपना मानकर उपचारसे उसके नाशको अपना समझ रहा है । इसी प्रकार उपचारसे, कभी२ शरीरके धर्मको अपना मानताहै, घर जलनेसे अपना नाश मानने के समान वास्तवमें शरीरको अपनेसे पृथक् मानता है और कहता है कि मेरा शरीर पीड़ा करता, मेरा शरीर थकित होगया आदि ।

प्रश्न—क्या ज्ञान दूसरे द्रव्यके सहारे नहीं रहसकता, जो उसको आत्माका गुण माना जावे ?

उत्तर—आठ द्रव्योंमेंतो ज्ञानका होना बतौर गुणके पाया नहीं जाता। इसलिये आठके अतिरिक्त केवल आत्माहीहै । पृथिवीमें ज्ञान-नहीं. यदि पृथिवि में ज्ञानहोता तो सम्पूर्ण वस्तु चेतन अर्थात् ज्ञानवाली होती, ज्ञानसे रहित कोई न होती । यदि पानीमें ज्ञान होता, तो भी ऐसाही होता । इसी प्रकार अग्नि, वायु आकाश और दिशामें भी समझ लेना चाहिये । मन ज्ञान प्राप्त करनेका साधनहै, ज्ञानके रहने की जगह नहीं । जबकि आठ द्रव्योंमें ज्ञानमानना प्रत्यक्षके विरुद्धहै, तो इससे अनुमान होता हैकि ज्ञान आत्माका गुणहै ।

प्रश्न—आत्माका द्रव्य और नित्य होना सिद्ध नहीं होता ?

उत्तर—तस्य द्रव्यत्व नित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥५॥

अर्थः—जिसप्रकार वायुके परमाणु रूप अवस्था से उसका गुणवाला

होनेसे द्रव्यका नित्य होना सिद्ध होता है, इसी प्रकार आत्मा भी द्रव्य और नित्य हैं ।

प्रश्न--आत्माके गुण क्या हैं जिससे द्रव्य कहाजावे ?

उत्तर--सुख, दुःख इच्छा, द्वेष, ज्ञान और प्रयत्न आदि ।

प्रश्न--यदि सुख दुःख आत्माका गुणमानाजावे तो सर्वदा दुःखका रहना मानना पड़ेगा, क्योंकि गुण और गुणीका समवाय सम्बन्ध है । इसलिये दुःखका नाश जो मुक्तिहै वह कभी हो ही नहीं सकती, और सुखसे नित्य होनेसे उसका कभी अभाव हीनहीं होसकता, इससे कभी बन्धन नहीं होसकता इसीप्रकार इच्छा और द्वेष दो विरुद्ध गुण एक साथ कभी नहीं रहसकते। यदि एकसाथ रहना माना जावे तो उनका परस्पर विरुद्ध नहीं रहना चाहिये क्योंकि जब अधिकरणमें रहतेहुए दोनों पाये जावें तो दोनों विरुद्ध नहीं किन्तु परस्पर विरुद्ध होना सिद्धहै। जिस समय जीवात्मा सुख का अनुभवकरैगा, उससमयदुःख का अनुभव नहीं कर सकता । दूसरा प्रश्न यह उत्पन्न होगा कि स्वाभाविक गुणहै या नैमित्तिक (सुख दुःखादि जीवके) ?

उत्तर--सुख दुःख और इच्छा द्वेष ये चारों आत्माके स्वाभाविक गुण नहीं हैं किन्तु नैमित्तिक गुण हैं जो अन्य वस्तुके निमित्तसे होते हैं । यदि आत्मा के अनुकूल वस्तु मिलती है तो सुख उत्पन्न होताहै, और यदि प्रति कूल वस्तु का सम्बन्ध हुआ तो दुःख मानताहै । इससुख दुःख का होना आत्माके अनुकूल और प्रतिकूल वस्तु पर निर्भर है । इसि प्रकार अनुकूल वस्तु को देखकर उसके प्राप्त करनेकी इच्छाहोतीहै, और प्रतिकूल को देखकर उसके नाशकरनेकी इच्छाहोतीहै । ज्ञान दो प्रकार काहै एक स्वाभाविक जो जीवात्माका स्वाभाविक गुणहै दूसरा नैमित्तिक जो करणके द्वारा प्राप्त कियाजाता है । अर्थात्मन इन्द्रिय और आत्माके संयोगसे उत्पन्न होता है ।

प्रश्न--जब ये गुण नैमित्तिक हैं तो आत्मा का द्रव्य होना कैसे सिद्ध होगा ।

उत्तर--प्रत्येक पदार्थ के द्रव्य होनेकी सिद्धि उसके क्रिया और गुण से होती है । जीवात्मामें सुख दुःख प्राप्त करनेकी शक्तिहै और इच्छा आदि करनेकी शक्ति है, यद्यपि ये गुण मनके द्वारा उत्पन्न

होतेहैं, तो भी क्रिया आत्माके संयोगसे उत्पन्न होतीहै, जैसे चुम्बक के समीप होनेसे लोहेमें क्रिया उत्पन्न होतीहै। लोहेमें क्रिया बिना किसी कारणके चुम्बककी सत्ताको सिद्ध करतीहै।

प्रश्न—आत्माकानित्य होना किसप्रकार होसकताहै, क्योंकि शरीरके अभावमें आत्माका होना सिद्ध नहीं होसकता इसलिये शरीर के साथ ही आत्मा उत्पन्न होता है, और शरीर के साथ ही आत्मा नष्ट होजाता है?

उत्तर—यदि ऐसा मानाजावे तो सब जीवोंकी आत्माको एक ज्ञान होना चाहिये क्योंकि इस समयतो पूर्व जन्म के संस्कारोंकी न्यूनाधिकता से ज्ञान की न्यूनाधिकता सम्भव है, परन्तु जब सब आत्मा नई उत्पन्न हुई हैं, तो प्रश्न यह उत्पन्न होगा कि उनके ज्ञानमें न्यूनाधिकता किसप्रकार हुई? यदि कहेंकि जिस प्रकृतिसे वे उत्पन्न हुए हैं उन में अन्तर होने से उनके ज्ञान में अन्तर हो जावेगा तो ऐसी अवस्था में, जीव को प्रकृति से उत्पन्न हुआ सिद्ध करना पड़ेगा, जिसका खण्डन पूर्व हो चुका है। क्योंकि जब तक उपादान में उन गुणों काहोना न हो जावे जब तक कार्यमें उनका होना कैसे माना जा सकता है। यह सिद्ध हो चुका है कि जो गुण कारण में होते हैं वे ही काय में हाते हैं।

पूर्व पक्ष—यज्ञदत्त इति सन्निकर्षे प्रत्यक्षाभावाद् दृष्टं लिंग न विद्यते॥ ६॥

अर्थः—"यह यज्ञदत्त है" यदि सन्निकर्ष के होने पर यदि ऐसा विचार किया जावे वहां आत्मा देखा नहीं जाता, अर्थात् आत्मा का प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञान नहीं होता और नहीं प्रत्यक्ष के न होने पर दृष्ट सम्बन्ध से सिद्ध कोई लिङ्ग है, जैसे अग्नि और धूम के सम्बन्ध को प्रत्यक्ष प्रमाण से जानकर धूम की विद्यमानताको अग्नि की विद्यमानता का लिङ्ग समझते हैं। ऐसे ही आत्मा के प्रत्यक्ष न होने से उसका लिङ्ग नियत नहीं होसकता इसलिये आत्मा की सत्ता को सिद्ध करने वाला कोई लिङ्ग नहीं जिससे अनुमान किया जावे। प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से आत्मा की सिद्धि न होने से उसकी सत्ता का मानना ठीक नहीं हो सकता।

दूसरा पूर्व पक्ष—सामान्यतो दृष्टाच्चाविशेषः ॥ ७ ॥

अर्थः—यदि कहो कि प्रत्यक्ष से व्याप्ति के सिद्ध होने पर सामन्यते दृष्ट से इन्द्रियों का आत्मा की उपस्थिति में होना लिङ्ग होजावेगा तो उससे अनुमान होही नहीं सकता क्योंकि अनुमान प्रत्यक्ष से व्याप्ति का ज्ञान प्राप्त करके हुआ करता है। जहां व्याप्ति सिद्ध ही न हो वहाँ अनुमान किस प्रकार हो सकता है क्योंकि इच्छा द्वेष और सुख दुःख आदि आठ द्रव्यों के सहारे नहीं रहते इससे अनुमान होता है ऐसे कहना भी ठीक नहीं क्यों कि इनसे आत्मा की सिद्धि नहीं होती किन्तु सन्देह है कि ये किसके सहारे होते हैं ? अर्थात् ये मन के सहारे रहते हैं या आत्मा के या किसी और के। इससे ये निश्चयात्मक ज्ञान नहीं होसकता कि इन्द्रियों से पृथक कोई आत्मा है।

प्रश्न—जब अनुमान और प्रत्यक्ष से नहीं जाना जाता तो आत्मा की सत्ता में प्रमाण क्या है जिससे लोगों ने आत्मा के होने को माना हुआ है ?

तस्मादागमिकः ॥ ८ ॥

अर्थः—आत्मा की सत्ता उपनिषद् आदि सब शास्त्रों से ही सिद्ध होती है। जो लोग आत्मा की सत्ता को मानते हैं उन्होंने शास्त्र ही से इस बात को जाना है। बहुत जगह दिखाया है कि यह आत्मा जानने योग्य है इसलिये उसको शास्त्रों से सुनो अर्थात् उनके गुणों को जानकर मनन करो। जो गुण आत्मा के बताये हैं वे हमारे शरीर में हो सकते हैं या शरीर से भिन्न कोई शक्ति है ? जब निश्चय होजावे कि आत्मा शरीर से भिन्न है तब उसकी चित्त में धारणा करो। इस प्रकार के प्रमाणों से सिद्ध होता है।

अहमिति शब्दस्य व्यतिरेकान्नागमिकम् ॥ ९ ॥

अर्थः—पूर्व के तीन सूत्रों में पूर्व पक्षी के प्रश्नों को रखकर अब सिद्धान्त (दर्शन कार) उसका उत्तर देते हैं—आत्मा में केवल शास्त्र ही प्रमाण है अन्य कोई प्रमाण नहीं यह ठीक नहीं है

क्योंकि " मैं हूं " इस वाक्य के अर्थों के सद्भाव का ज्ञान होना है जिससे अनुमान होता है कि आत्मा है क्योंकि मैं हूं इस वाक्य के कहने से जिसके होने को स्वीकार किया जाता है वह अवश्य है और वह अपने आप को पृथिवी आदि से पृथक समझता है। इससे मैं शब्द से जिसका ज्ञान होता है वह तत्वों से भिन्न है क्योंकि कभी यह विचार नहीं होता कि मैं पृथिवी हूं या जल हूं अथवा अग्नि वायु वा आकाश हूं ? या काल हूं या दिशा हूं ?

प्रश्न—यह मान लिया जावे कि ज्ञान शरीर में होता है ?

उत्तर—तो ऐसा प्रत्येक शरीर में हो सकता है अर्थात् दूसरे के शरी को भी मैं हूं ऐसा मान सकते हैं परन्तु दूसरे के शरीर का "मैं कहने से सम्पूर्ण कथन ही बिगड़ जावेगा क्योंकि यह "मैं" हमको दूसरे मनुष्यों से पृथक करता है जिसको वक्ता सर्वदा अपने ही लिये प्रयोग करता है। यदि "मैं" प्रत्येक शरीरके लिये प्रयुक्त होगा तो प्रथम मध्यम और उत्तम पुरुषकी पहिचान ही नहीं रहेगी। यदि प्रत्येक शरीर अपने को "मैं" कहसकता है तो मेरे शरीर में पीड़ा होती है यह ज्ञान असत्य होगा परन्तु ऐसा प्रयोग प्रत्येक समय किया जाता है जिसमें किसी प्रकार का दोष भी नहीं प्रतीत होता, इस लिये अपने शरीर के लिये "मैं" का प्रयोग नहीं होता किन्तु "मेरा" ऐसा प्रयोग किया जाता है, अतः जब कि यह शब्द आठ द्रव्यों की सत्ता को सूचित नहीं करता, तो शेष जो नवां है उसके लिये यह शब्द कहाजाता है, इसलिये "मैं" के कहने से आत्मा का अनुमान होता है।

प्रश्न—यह अनुमान सामान्यतो दृष्ट है जिसमें दोष का होना सम्भव है, इस लिये इससे आत्मा का होना सिद्ध नहीं होता ?

उत्तर—जब कि मन के संयोग से आत्मा का ज्ञान होता है, जिससे कहता है कि "मैंसुखीहूँ" "मैं दुखी हूं" इस से सुख दुःख का अनुभव करने वाला आत्मा प्रतीत होता है और यह कोई नियम नहीं कि अनुमान और शब्द से जानी हुई बात असत्य हो।

प्रश्न—शब्द और अनुमान से जो ज्ञान होता है वह मिथ्या ज्ञान को

दूर करने के योग्य नहीं होता, क्योंकि केवल शब्द के सुनने से किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, किन्तु सुनने के उपरान्त मनन करने की आवश्यकता है, और मनन करने के लिये निधिध्यासन की आवश्यकता है जिससे उसका साक्षात्कार हो जावे ?

उत्तर—भ्रम होना तो, किसी दोष के कारण, प्रत्येक प्रमाण से आने हुए पदार्थ में सम्भव है । प्रायः प्रत्यक्ष में भी किसी कारणसे धोका हो जाता है । जबकि "मैं हूं" इस बात का सदैव एक ज्ञान होता है, तो मेरे होने में कोई सन्देह ही नहीं रहता। अब पूर्व पक्षी कहतो है—

यदिदृष्टमवक्षमहं देवदत्तोऽहं यज्ञदत्त इति ॥ १० ॥

अर्थः—यदि इस प्रकार आत्मा का ज्ञान होजाता है कि मैं देवदत्त या मैं यज्ञदत्त हूं तो अनुमान आदि से उसके सिद्ध करने के परिश्रम से क्या लाभ, क्योंकि जब इन्द्रियों से जान लिया कि यह देवदत्त है और यह यज्ञदत्त है, तो जिस प्रकार हाथी को चिंघाड़ते हुये देखकर अनुमान करने की आवश्यकता ही नहीं रहती, इसी प्रकार यहाँ भी अनुमान करने की आवश्यकता ही क्या है ?

उत्तर पक्षी उत्तर देता है—

दृष्ठ आत्मानि लिंगे एक एवं दृष्टत्वात् प्रत्यक्षवत् प्रत्ययः ॥ ११ ॥

अर्थ—इसी प्रकार परमात्मा को जान लेनें पर भी उसका निश्चय ज्ञान होने के लिये अनुमान की आवश्यकता है, जिससे वह ज्ञान सन्देह से रहित और निश्चयात्मक हो जावे । जिस प्रकार दूर से सरोवर को देखकर पानी होने का ज्ञान हो जाता है किन्तु उसमें सन्देह रहता है कि यह मृगतृष्णा का जल है वा वास्तव में जल ही है, इसलिए बगुले आदि पक्षियों को वहाँ पर उड़ता देखकर अनुमान से निश्चित सिद्धान्त ठहराते हैं कि यह सरोवर ही है, क्योंकि असन्दिग्ध ज्ञान होना ही उसका निश्चित होना है । इसलिए प्रत्यक्ष होने पर भी उस ज्ञान को अनुमान से पुष्ट करना ठीक ही है ।

प्रश्न—देवदत्त जाता है, इस प्रकार के व्यवहार से देवदत्त में चलना आदि विदित होते हैं?

उत्तर—देवदत्तो गच्छति यज्ञदत्तो गच्छतीत्युपचाराच्छरीरे प्रत्यः ॥ १२ ॥

अर्थ—देवदत्त जाता है, यज्ञदत्त जाता है, इस जगह शरीर में जो आत्मा के संयोग से गति है उपचार से उसको आत्मा में माना गया है यदि केवल शरीर में जाने की क्रिया सम्भव होती तो मृत शरीर भी क्रिया करता, इसलिए शरीर में जाने का ज्ञान उपचार से होता है।

प्रश्न—उपचार किसको कहते हैं?

उत्तर—उपचार उसको कहते हैं कि जहां सम्बन्ध के कारण एकका गुण दूसरे में होना प्रतीत किया जावे वा वर्णन किया जावे जैसे कहते हैं कि मञ्चान पुकारते हैं अब मञ्चानमें तो बोलने की शक्ति है नहीं उसका पुकारना कैसे सम्भव होसकताहै? यहां पर मञ्चान पर बैठे हुए मनुष्यों के पुकारनेके सम्बन्धसे मञ्चान का पुकारना कहा गया है। और जिस प्रकार कहा जाता है कि "आगरा आगया" परन्तु आने की क्रिया आगरे में नहीं हुई, किन्तु हम आगरे में पहुंच गये हैं इसी को उपचार कहते हैं आशय यह है कि जिस समय लक्षण से अर्थ के जानने की आवश्यकता होसकती है (अर्थ का ज्ञान नहो) वहां उपचार से विचार करलेना चाहिये। इस की अधिक व्याख्या न्यायदर्शन में आ चुकी है।

प्रश्न—लक्षण किसको कहते हैं?

उत्तर—जहाँ शब्दों के मुख्य अर्थों को छोड़कर वक्ता के अभिप्राय के अनुसार अर्थ लिये जावें उसको लक्षण कहते हैं?

प्रश्न—मुख्य अर्थों को छोड़कर दूसरे अर्थों का ग्रहण करना किन २ अवस्थाओं में होता है?

उत्तर—उसमें रहने से, जिसका अभिप्राय यह है कि मञ्चान पर बैठने से। यहां मञ्चान नहीं पुकारते किन्तु उस स्थान पर (मञ्चान पर) रहने वाले पुकारते हैं। इसी प्रकार शरीर में रहने की क्रिया को शरीर में कह सकते हैं उसके समान धर्म

वाला होने से-उसके समीप होने से, उस के साथ सम्बन्ध होने से और वैसे ही अर्थ होने से। समान धर्म वाला होने का दृष्टान्त यह है-कि जैसे कहा जाता है कि यह मनुष्य तो 'सिंह' है अर्थात् सिंह के समान वाला है। समीप होने का उदाहरण-जैसे "गंगा में घोष" है आशय यह है कि गङ्गा के किनारे घोष (अहीरों का ग्राम) है। सम्बन्ध का उदाहरण जैसे दण्ड के संयोग से संन्यासी को "दण्डी" कहते हैं। इस पर पूर्वपक्षी कहता है कि-

सन्दिग्धस्तूपचारः ॥ १३ ॥

अर्थः--यद्यपि आत्मा में मुख्यतया (वास्तव में) और शरीर में उपचार से "मैं" इस शब्द का प्रयोग होता है, ऐसा कहा है, परन्तु यह उपचार निश्चयात्मक नहीं किन्तु सन्दिग्ध है, क्योंकि इसका प्रमाण क्या है कि शरीर में तो उपचार से है और आत्मा में वास्तविक है ? सम्भव है कि शरीर में वास्तविक हो, और आत्मा में उपचार से प्रयोग किया जाता हो ? इस लिये यह बात निश्चयात्मक नहीं किन्तु सन्दिग्ध है, अर्थात् कौन वास्तविक है; और कौन औपचारिक है, यह नहीं जाना जाता।

इसकाउत्तर देते हैं कि--

अहमिति प्रत्यगात्मनि भावात् परत्राभावादर्थान्तर प्रत्यक्षः ॥ १४ ॥

अर्थः—"मैं" इस शब्द का, केवल अपनी आत्मा के लिये प्रयोग होने से और दूसरे वा शरीर के लिये प्रयोग न होने से, जिस प्रकार मैं सुखी हूं ऐसा ज्ञान तो होता है, किन्तु मैं शरीर हूं ऐसा ज्ञान नहीं होता। इसलिये "मैं" शब्द का प्रयोग आत्मा में ही होता है। और शरीर आदि के लिये जहां प्रयोग होता है वहां उपचार से ही होता है। क्योंकि जब शरीर आत्मा को सुखी दुःखी जानकर स्वयं सुखी दुःखी नहीं होता तो शरीर को किस प्रकार ज्ञान हो सकता है, ? और शरीर के अतिरिक्त पुत्र आदि के मरने पर भी जो दुःख होता है तो उस समय

कहता है कि "हाथ मैं मरगया" । जिस प्रकार वहां उपचार से कहा जाता है उसी प्रकार शरीर में जान लेना चाहिये कि "मैं,, इस शब्द का प्रयोग आत्मा के लिये वास्तविक और शरीर आदि के लिये औपचारिक है।

देवदत्तो गच्छत्युपचारादभिमानात्तावच्छरीरप्रत्यक्षोऽहङ्कारः ॥ १५ ॥

अर्थ—'देवदत्त चलताहै " ऐसा ज्ञान शरीर में जो अहङ्कार है, उसके कारण उपचार से होता है। क्योंकि जिस २ वस्तुमें अहङ्कार होता है उस २ के नाश में दुःख होता है, और जिसमें अहङ्कार नहीं होता उसके नाश में दुःख नहीं होता। जबतक शरीर में अभिमान है तबतक उसकी निर्बलता को अपने में आरोपण करता है। इसी प्रकार उपचार से ही "देवदत्त जाता है" ऐसा ज्ञान होता है। विपक्षी शङ्का करता है-

सन्दिग्धस्तूपचारः ॥ १६ ॥

अर्थः-यह बात निश्चयात्मक नहीं कि देवदत्त जाता है इस में उपचार है या मैं देवदत्त सुखी हूं या दुःखी हूं इस में उपचारहै जब दानों अवस्थाओं में उपचार का निश्चय नहीं तो वह उपचार सन्दिग्ध है। क्योंकि एक ही शरीर के लिये और बहुत से शब्दों का प्रयोग होता है, जिसप्रकार "मैं मोटा हूं" मैं पतला हूं गोरा हूं कालाहूं आदि इसी प्रकार यह भी कहता है कि 'मैं दुःखी हूं मैं सुखी हूं,, ऐसा कहने से सन्देह उत्पन्न होता है कि उपचार किसको मानाजावे ?

उत्तर—नतुशरीर विशेषाद्यज्ञदत्त विष्णु मित्रयोर्ज्ञानं विषयः ॥ १७ ॥

अर्थः—सुख दुःख का ज्ञान होना ही, आत्मा की सत्ता का बतलाने वाला ज्ञात होता है। यदि यह ज्ञान आत्मा को छोड़कर शरीर का गुण मानाजावे' तो जिस प्रकार यज्ञदत्त और विष्णुमित्र के शरीर पृथक् २ चिह्न होते हैं, और उनके शरीर की ऊंचाई, रंग और आकृति आदि शरीर के गुण भी भिन्न २ पाये जाते हैं, उसी प्रकार ज्ञान का भी, इन्द्रियों से पृथक् २ प्रकाश

होना चाहिये था कि विष्णु मित्र के शरीर का ज्ञान ऐसा है और यज्ञदत्त के शरीर का ज्ञान ऐसा हैं। जब दोनों का ज्ञान इन्द्रियों का विषय नहीं और शरीर इन्द्रियों का विषय है, इस से स्पष्ट विदित होता है कि आत्मा के आश्रय ज्ञान रहता है शरीर के आश्रय नही रहता। अतः सुख दुःख इच्छा द्वेष और ज्ञान आदि गुण आत्मा के ही हैं। आशय यह है कि विपक्षी ने जो उपचार को सन्दिग्ध बतलाया उसका उत्तर कणादजी ने यह दिया कि उपचार आत्मा में शरीर के गुणों का होताहै और "मैं" इस शब्द का शरीर में उपचार से ही ग्रहण होता है। यह उपचार निश्चयात्मक है सन्दिग्ध नहीं इसलिये हमारा पक्ष सत्य है।

अहमिति मुख्य योग्याभ्यां शब्दवद् व्यतिरेका व्यभिचारा द्विशेष सिद्धे र्नागमिकः ॥ १८ ॥

अर्थ:—मैं हूं, ऐसा ज्ञान आत्मा की सत्ता को बतलाने वाला है शरीर का बतलाने वाला नहीं, यह केवल शास्त्रों से सुना हुआनहीं प्रत्युत मन से प्रत्यक्ष होता है जिससे वह अपने आपकोसुखी वा दुःखी मानता है। जिस प्रकार व्यतिरेक अर्थात् पृथक करने से शब्द गुण विना किसी व्यभिचार के आकाश में सिद्ध हो चुका है। इसी प्रकार "मैं" इसी शब्द का प्रयोग भी व्यतिरेक से आत्मा के आश्रय सिद्ध होता है। जब कि आठों द्रव्यों में इस शब्द का प्रयोग हो ही नहीं सकता तो उनके कार्य शरीर में किस प्रकार हो सकता है? इसलिये व्यभिचार दोष से रहित "मैं" शब्द आत्मा के आश्रय व्यतिरेक से स्पष्ट सिद्ध होजाता है।

प्रश्न—प्रत्यक्ष सावयव और मूर्तिमान् पदार्थ का होसकता है, आत्मा निरवयव है रूप रहित है, इस लिये उसका प्रत्यक्ष होही नहीं सकता। जब आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं तो "मैं" इस शब्द का आश्रय शरीरको ही मानना चाहिये क्योंकि जैसे "मैं" मोटा हूं "मैं" दुबलाहूं गोराहूंकालाहूं,, इस ज्ञानका आश्रय, उपचार से शरीर की जगह आत्मा को मानते हो ऐसेही मै सुखी और दुखी हूं को भी शरीर ही मानो?

उत्तर—यह जो कुछ कहा गया कि प्रत्यक्ष मूर्त्तिमान और सावयव पदार्थ का होता है, यह नियम केवल वाह्य प्रत्यक्ष के लिये है मनके प्रत्यक्ष के लिये यह नियम नहीं है। मन निराकार और निरवयव पदार्थ का भी अनुभव कर सकता है जैसे सुख दुःख कोई सावयव और साकार वस्तु नहीं? परन्तु उसका प्रत्यक्ष मनसे ही होता है ऐसेही आत्मा का प्रत्यक्ष भी मनसे ही होता है।

प्रश्न—सुख दुःख गुण हैं, उनका आश्रय होना चाहिये, और आश्रय कोई प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं होता, इस लिये उनका आश्रय शरीर ही समझना चाहिये। जैसे गर्म और सुगन्धित जल में गर्मी और सुगन्ध का कोई आश्रय न देखकर उसको जलमें ही समझते हैं।

उत्तर—सुख दुःख आश्रय रहित नहीं किन्तु उनका आश्रय मन और आत्मा है। जैसे पानी में गर्मी आश्रय से रहित नहीं, किन्तु तेज जो जल से सूक्ष्म है, वह उसमें विद्यमान है उस तेज के गुण गर्मी को उपचार से पानी में मानते हैं। ऐसे ही शरीर में सूक्ष्म आत्मा विद्यमान है और उसके गुणों का उपचार से शरीर में होना मानते हैं। इसलिये ज्ञान का अधिकरण आत्मा है यह प्रत्यक्ष से प्रतीत होता है आत्मा के होने को सिद्धि करके अब उसके एक वा बहुत होने का विचार करते हैं। पहिले पूर्व पक्ष बतलाते हैं। कि आत्मा एक है—

सुख दुःख ज्ञान निष्पत्यविशेषादैकात्म्यम् ॥१६॥

अर्थः—सुख दुःख और ज्ञान का होना भिन्न २ शरीर में सामान्यतया पाया जाता है, और किसी प्रकार की विशेषता प्रतीत नहीं होती, इससे सिद्ध होता है कि आत्मा एक ही है। जिस प्रकार असंख्य घड़ों में रहने वाला पानी एक ही होता है, क्योंकि उसमें पानी के गुण सामान्यतया पाये जाते हैं, ऐसे ही असंख्य शरीरों में आत्मा एक ही है क्योंकि आत्मा के गुण सामान्यतया पाये जाते हैं। जैसे आकाश काल और दिशा का लिंग विशेषता से रहित होने से, उनको एक ही मानना पड़ता है, उनके भेद केवल उपाधि से माने जाते हैं,

ऐसे ही आत्मा भी एक ही है । उसके लिङ्ग सुख दुःख और ज्ञान में भेद उत्पन्न करने वाली कोई विशेषता नहीं पाई जाती इस पूर्व पक्ष का उत्तर अगले सूत्र में देते हैं ।

व्यवस्थातो नाना: ॥ २० ॥

अर्थः—सुख दुःख और ज्ञान की व्यवस्था करने से सिद्ध होता है कि आत्मा अनेक हैं यदि एक ही आत्मा होता तो कोई मनुष्य सुख का और दुःख का अनुभव नहीं करता कोई मूर्ख है कोई विद्वान है । इसी प्रकार की अवस्थाओं से ज्ञात होता है कि आत्मा अनेक हैं । यदि किसी पात्र में लाल रंग का जल हो और किसी में काला, तो उनको एक नहीं कहते, इस लिये भिन्न भिन्न अवस्थायें एक ही समय में एक आत्मा की सम्भव नहीं ।

प्रश्न—जिस प्रकार एक ही शरीर की लड़कपन, युवावस्था और बुढ़ापा आदि अनेक अवस्थायें होती हैं और शरीर एक ही होता है, ऐसे ही एक आत्मा की भी अनेक अवस्थायें हो सकती हैं ।

उत्तर—शरीर जिस समय बालक होता है उस समय युवा नहीं होता, और जब युवा होता है उस समय वृद्ध नहीं होता, परन्तु एक ही समय में कोई सुखी कोई दुःखी कोई मूर्ख और कोई विद्वान पाये जाते हैं, इसीलिये यह अवस्थाओं का परिणाम न अर्थात् लौट बदल शरीर की अवस्थाओं के समान नहीं है अतः आत्मा को अनेक ही मानना पड़ेगा ।

प्रश्न—जिस प्रकार अनेक घड़ों में एक ही सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है, अब जो घड़ा चलता है उसमें तो सूर्य चलता प्रतीत होता है, और जो घड़ा ठहरा हुआ है उसमें सूर्य भी ठहरा हुआ ज्ञात होता है, इसी प्रकार नाना अन्तःकरणों के साथ आत्मा का सम्बन्ध है जो अन्तःकरण दुःखी है उसका आत्मा दुःख को अनुभव करता है, और जो अन्तःकरण सुखी है उसका आत्मा सुखी प्रतीत होता है, जो अन्तःकरण निर्मल है उसका आत्मा ज्ञानी प्रतीत होता है और जो अन्तःकरण मलिन है उसका आत्मा अज्ञानी प्रतीत होता है ।

उत्तर--यदि सुख दुःख और ज्ञान का आश्रय अन्तःकरण होता तो यह हेतु ठीक होता परन्तु अन्तःकरण साधन है। और उस का भेद स्वयं है या उसका कोई कारण है? जिस प्रकार घड़े का चलना किसी दूसरे निमित्त से होसकता है, बिना किसी कारण के घड़ा नहीं चल सकता, इसी प्रकार अन्तःकरण, बिना आत्मा के जड़ होने से कुछ कर ही नहीं सकता फिर उसकी अवस्था भेद किस प्रकार माना जा सकता है? जब उस में अवस्था भेद नहीं तो आत्मा में अवस्था भेद किस प्रकार होसकता है। दूसरे अन्तःकरण और आत्मा में कितना अन्तर है। जिस से अन्तःकरण पर आत्मा का प्रति बिम्ब पड़ता है? आत्मा अन्तःकरण के भीतर बाहर व्यापक है इसलिये यह विचार ठीक नहीं। इससे आत्मा का अनेक होना ही मानना ठीक है। इसके लिये दूसरा प्रमाण और देते हैं।

शास्त्र सामर्थ्याच्च ॥ २१ ॥

अर्थः—वेद के उपदेश से भी आत्मा का अनेक होना सिद्ध होता है जैसे "द्वासुपर्णसयुजा सखायाः समानं वृक्षं परिषस्व जाते" इत्यादि, इसी प्रकार के और बहुत से वाक्यों से सिद्ध होता है कि सुख दुःख के भेद से आत्मा माना हैं। पहिला स्वाभाविक सुख स्वरूप है और दूसरा नैमित्तिक सुख दुःख का ग्रहण करने वाला है अर्थात् एक परमात्मा और दूसरा जीवात्मा है। यहांतक पता लगाया जावे तो सिद्ध होता है कि जीव ब्रह्म का भेद है। ब्रह्म स्वरूप से विभु होने से आत्मा कहाता है। और जीव जाति से विभु होने से आत्मा कहाता है। फिर जीवों में दो भेद हैं—एक बद्ध जीव दूसरे मुक्त जीव जिन को नवीन वेदान्ती जीव और ईश्वर बतलाते हैं।

वैशेषिकदर्शन के भाषानुवाद का

तृतीय अध्याय समाप्त हुआ।

वैशेषिक दर्शन भाषानुवाद

चतुर्थ अध्याय

प्रथम आन्हिक

आरम्भ

प्रश्न—नित्य किस को कहते हैं?

सदकारणवन्नित्यम् ॥ १ ॥

अर्थः—जो वस्तु विद्यमान हो परन्तु अपनी सत्ता के लिये किसी दूसरे कारण की आवश्यकता न रखती हो वह नित्य है। सत् शब्द के अर्थ हैं तीनों कालों में रहने वाला और कारण की आवश्यकता न रखे वह नित्य कहाता है। उसके विरुद्ध जो किसी काल में हो और किसी काल में न हो, जो अपनी सत्ता के लिये कारण की आवश्यकता रखता हो वह अनित्य है। जो वस्तु उत्पत्ति रहित है वह नित्य है, और जो उत्पन्न हुई है वह अनित्य है, इस लिये प्रत्येक वस्तु का जो कार्य है, उसका कारण नित्य होगा, क्योंकि सम्पूर्ण अनित्य पदार्थ जिस की अपेक्षा रखते होंगे, वह उससे भिन्न होगा अर्थात् नित्य होगा। इसलिये सृष्टि के उपादान कारण प्रकृति और निमित्त कारण स्रष्टा को नित्य मानना चाहिये।

प्रश्न—एक कर्त्ता को ही नित्य मानना चाहिये दूसरे को नित्य मानने की आवश्यकता नहीं।

उत्तर—कारण के गुण के अनुसार ही कार्य में गुण होते हैं। यदि एक ही नित्य पदार्थ माना जावे तो सम्पूर्ण सृष्टि उस के गुणों के समान गुण रखने वाली होनी चाहिये। जितने आभूषण सुवर्ण के होंगे उन सबों में सुवर्ण के गुण पायेजावेंगे इसी प्रकार यदि एक कर्त्ता के अतिरिक्त उपादान कारण प्रकृति आदि को नित्य न माना जावे तो सम्पूर्ण जगत् में परमेश्वर के

गुण पाये जाने चाहियें, कोई विरुद्ध गुण होना ही नहीं चाहिये, क्योंकि एक वस्तु में दो विरुद्ध गुण रह नहीं सकते। परन्तु देखने से नितान्त इसके विरुद्ध पायाजाता है, इसलिये कर्त्ता के अतिरिक्त प्रकृति आदि को भी नित्य मानाजावे यही ठीक है।

प्रश्न—अभाव से भावकी उत्पत्ति करनाही कर्त्ता का गुण है, और यहि कर्तृत्व है इसलिये कर्त्ता विनाउपादान कारण प्रकृति के भी, संसार को उत्पन्न कर सकता है।

उत्तर—यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति सम्भव है, तो सन्सार में अभाव के भावोत्पत्ति का दृष्टान्त मिलना चाहिये। द्वितीय, किसी रोग को चिकित्सा ही नहीं होनी चाहिये, क्योंकि प्रत्येक रोग का कारण अभाव होसकता है। जो रोग किसी कारण से उत्पन्न हो तब तो उस के विरोधी से उसकी चिकित्सा हो सकती है। जब कोई कारण ही नहीं तो चिकित्सा किस प्रकार होगी? जब सारे रोगों का कारण अभाव ही है तो उसकी चिकित्सा किस से की जावे? कारण से कार्य की उत्पत्ति के तोसारे उदाहरण मिलते हैं परन्तु अभाव से भावकि उत्पत्तिका एक भी उदाहरण नहीं मिलता। इसलिये नित्य पदार्थ प्रकृती सेही परमात्मा सारे कार्य उत्पन्न करता है।

तस्य कार्यलिंगम् ॥ २ ॥

अर्थः—कारण जो नित्य है उसका लिंग कार्य है कार्य ही से कारण का अनुमान कियाजाता है, जैसे घड़ेको देखकर उसके कारण पार्थिव परमाणुओं का अनुमान होता है। यदि मट्टी के परमाणु पार्थिव नहीं होते तो उनका कार्य घड़ा कैसे बनसकता है? इसलिये परमाणु जोकि अनित्य द्रव्य के उपादान कारणहैं, उससे और कार्यसे अवयवी और अवयवका सम्बन्ध होताहै. घड़ा अवयवी है, और जिन परमाणुओंसे वह बना है वे उसके अवयव है। इस अवयव अवयवी के सम्बन्ध से यह भी पताचलताहै कि प्रत्येक कार्यके परमाणुओं की संख्या नियतहै। छोटी वस्तुमें थोड़े परमाणु और बड़ी वस्तुमें अधिक परमाणु होते हैं।

प्रश्न—प्रत्येक वस्तुमें अनन्त परमाणु होतेहैं, इसलिये उनकी गिन्ती और अन्त नहीं हो सकता ।

उत्तर—यदि प्रत्येक कार्यमें अनन्त परमाणु मानलिये जावें तो हिमालय पर्वत और सरसों के दानेमें कोई अन्तर ही नहीं रहेगा, क्योंकि दोनोंही अनन्त परमाणुओंका समूह हैं । इसलिये परमाणुओंकी संख्या अर्थात् अन्त मानना पड़ेगा ।

प्रश्न—परमाणुओंका होनाही सम्भवहै, क्योंकि जब दो परमाणु आपसमें मिलेंगे तो वे दोनों एक दूसरेमें समाजायेंगे या एक ओर से मिलेंगे ? यदि एक ओर से मिलेंगे तो विभाग होना सिद्ध होगा, क्योंकि दोनों पार्श्वोंमें कुछ अन्तर न होगा? यदि सारेके सारे एक दूसरेमें समाजायेंगे तो यह होना असम्भव है ?

उत्तर—परमाणु दूसरे के साथ एक ओरसे मिलते हैं परन्तु दोपार्श्व होनेसे विभाग सिद्ध नहीं होता किन्तु बीचमें आकाशहोनेसे विभाग उत्पन्न होताहै । परमाणुओंके पार्श्वों में आकाश नहीं इसलिये विभाग सम्भव नहीं ।

प्रश्न—परमाणुओंका होना असम्भव है, क्योंकि परमाणुओंसे यदि एक रेखा बनाई जावे और रेखा गणितके नियमके अनुसार उसको विभक्त करना हो तो यातो विभाग असम्भव होगा या साढ़े चार पर विभक्त होनेसे परमाणुमें विभाग होगा ।

उत्तर—सृष्टि उत्पन्न होनेका क्रम यहहै कि प्रथम ही प्रथम परमाणुओं से द्व्यणुक बनते हैं, और द्व्यणुक त्रसेरणु आदि होते हुए सृष्टि उत्पन्न होतीहै । सीधे परमाणुओंसे सृष्टि नहीं बनती, इसलिये विषम परमाणुओंसे कोई रेखा बनही नहीं सकती, क्योंकि वह सृष्टि नियमके विरुद्ध है ।

कारण भावात् कार्याभावः ॥ २ ॥

अर्थः—कारणके अभावसे कार्यका अभाव होता है, परन्तु यहनियम नहीं कि कार्य के अभाव से कारण का भी अभाव हो । यदि सृष्टिका कारण परमाणु नहीं तो सृष्टिका उत्पन्न होना ही संभव नहीं क्यों कि उपादान कारणका नियम संसार में देखा जाता है । यदि कार्य कारण का नियम संसारमें न हो तो कोई मनुष्य किसप्रकार किसी वस्तु को लेकर कार्य आरम्भ करे, इसलिये

जो गुण कारणमें होते हैं वही गुण कार्यमें आते हैं।,जैसे घड़े आदिमें देखते हैं कि यदि वह पीतल से बने तो पीतलके गुण लोहे से बने तो लोहेके गुण, और मट्टी से बने तो उसमें मट्टी के गुण अवश्य पाये जावेंगे।

प्रश्न—कार्य और कारण सारे पदार्थ नित्य होते हैं, इसलिये कारण कार्य का सम्बन्ध ही नहीं होता।

उत्तर-अनित्यइतिविशेषतःप्रतिषेध भावः ॥ ४ ॥

अर्थः—जो वस्तु सावयव है वह संयुक्त होने के पूर्व न होने से और जिन पदार्थों से वह संयुक्त हुई है उस की सत्ता के बिना उसकी सत्ता न होने से नित्य नहीं किन्तु प्रत्येक वस्तु जो सावयव है अनित्य है। जो लोग सारी वस्तुओं को अनित्य कहते हैं यह ठीक नहीं है, क्योंकि अनित्य कहनेसे विशेषकर सावयव पदार्थों को अनित्य बताया है। सबका अनित्य होना नहीं, इसलिये सावयव पदार्थ अनित्य और निरवयव पदार्थ नित्य होता है। जगत के उपादान कारण परमाणु असंयुक्त हैं। इस लिये नित्य है। जहां जगत् को अनित्य बताया है वहाँ जगत् से आशय उत्पन्न होने वाली वस्तु से है। नित्य परमाणु को अनित्य नहीं कहा।

प्रश्न—बहुत से लोग तो सारे ही पदार्थों को अनित्य मानते हैं)

अविद्या ॥ ५ ॥

अर्थः—जो लोग सारे पदार्थों को अनित्य मानते हैं वे परमाणुओं को भी अनित्य मानते हैं और उनके अनित्य होने में हेतु यह देते हैं कि परमाणु रूप, रस, गन्ध और स्पर्श वाले हैं। इस लिये अनित्य हैं। दूसरे परमाणु की कुछ न कुछ मूर्त्ति है, और प्रत्येक ओर से दूसरे परमाणुओंके साथ मिलाप होनेसे परमाणु के मध्य में आकाश होना सम्भव होने से और आकाश के होने से एक में दूसरा समा जाने से परमाणु सावयव है। इसका उत्तर कणाद जी देते हैं कि यह अविद्या है। वास्तव में परमाणु नित्य ही है॥

प्रश्न—परमाणु के भीतर आकाश है वा नहीं?

उत्तर—परमाणु के लिये भीतर बाहर का शब्द ही नहीं आसकता,

क्योंकि उस शब्द ही के अर्थ परमाणु हैं जहां भीतर बाहर न हो । जहां भीतर बाहर होगा वह परमाणु ही नहीं होगा । और परमाणु के भीतर आकाश कैसे हो सकता है, क्योंकि आकाश में परमाणु है । आकाश कहते हैं पोल को जिस जगह परमाणु है वहां आकाश नहीं क्योंकि वह स्थान परमाणु ने घेर लिया है ।

प्रश्न—यदि परमाणु के भीतर आकाश न माना जावेगा तो आकाश सर्वव्यापक नहीं रहेगा ?

उत्तर—निरवयव परमाणु के भीतर न होने से आकाश की सर्वव्यापकता में अन्तर नहीं आसकता, और आकाश जब कि पूर्व में विद्यमान था जहां अब परमाणु हैं तो किस प्रकार कह सकते हैं कि आकाश सर्वव्यापक नहीं । इसलिये जितने हेतु परमाणुओं के अनित्य होने में दिये जाते हैं वह सब अविद्या है ।

प्रश्न—यदि परमाणु है तो उसका प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता ?

उत्तर—महत्व नेक द्रव्यत्वाद् रूपाच्योपलब्धिः ॥६॥

अर्थः-प्रत्यक्ष उन वस्तुओं का होता है जिनका परिमाण महत्—बड़ा हो, मध्यम परिमाण वाली हों । क्योंकि न तो सब से सूक्ष्म पदार्थका प्रत्यक्ष होताहै जैसे परमाणु, और न सर्वव्यापकका प्रत्यक्ष होता है जैसे आकाश और परमात्मा । इसके अतिरिक्त एक द्रव्य का भी प्रत्यक्ष नहीं होता किन्तु सावयव का प्रत्यक्ष होसकता है, परन्तु वायु सावयव और महान् होने पर भी दृष्टिगत नहीं होती, इस लिये बतलाया कि रूप विद्यमान हो उस को आँख देख सकती है । जब कि वायु में रूप नहीं इस लिये आँख उसको नहीं देख सकती । परमाणु जबकि महत् परिमाणवाला नहीं और नहीं सावयव है किन्तु एक द्रव्य निरवयव है और प्रत्यक्ष अनेक द्रव्य वाले=सावयव का हो सकता है, इसलिये प्रत्येक प्रकार के गुण रखने वाले परमाणु को भी नहीं देख सकते ।

प्रश्न—जो गुण कारण में होते हैं वही कार्य में भी होते हैं । जबकि परमाणुओं से बने हुये कार्य द्रव्यों में महत्व=बड़ापन पाया जाता है तो उस द्रव्य के कारण परमाणुओं में भी अवश्य

होगा। इस प्रकार जब परमाणुओं में बड़ापन है तो परमाणु का अवश्य प्रत्यक्ष होना चाहिये।

उत्तर—गुण तीन प्रकार के होते हैं-स्वाभाविक नैमित्तिक, और औपाधिक। स्वाभाविक गुण कारण से कार्य में आया करता है। नैमित्तिक गुण या तो संयोग से उत्पन्न होते हैं या किसी दूसरे सूक्ष्म द्रव्य से उसमें आजाते हैं। जैसे पानी में सरदी उसके कारण परमाणुओं से आती है जो उसका स्वाभाविक गुण है, परन्तु गर्मी अग्नि का उसमें प्रवेश कर जाने से है जो नैमित्तिक गुण है। जहां नीचे लाल रंग का डांक लगादो और ऊपर श्वेत नगीना लगादो, वहां पर लाली औपाधिक होती है जो कि लाल डॉक के कारण प्रतीत होती है। अब विचारना चाहिये कि बड़ा पन संयोग से उत्पन्न हुआ है या स्वाभाविक गुण है? यहां बड़ापन नैमित्तिक गुण है जो अनेक द्रव्यों के मिलने से उत्पन्न होता है, इसलिये परमाणु के एक द्रव्य होने से उस में नहीं, अतः परमाणु का प्रत्यक्ष भी नहीं होसकता।

सत्यपि द्रव्यत्वे महत्वे रूपसंस्काराभावाद्वायोरनुपलब्धिः ७

अर्थः—यद्यपि वायु द्रव्य है, और अनेक परमाणु रूप द्रव्यों के संयोग से उत्पन्न होनेवाली होनेसे बड़ापन भी उसमें विद्यमान है, तो भी रूप का संस्कार न होने से वायु में रूप का ज्ञान नहीं होता, आचार्य ने जो रूपका संस्कार न होना लिखा है, उस का आशय यह है, कि स्थूल के गुण सूक्ष्म में नहीं आते। रूप तेज का गुण है और वायु अग्नि से सूक्ष्म है, इसलिये अग्नि का गुण रूप वायु में नहीं आसकता, अर्थात् वायु इस योग्य नहीं कि उसमें अग्नि का गुण रूप आसके क्योंकि यह गुण उस वायु से स्थूल अग्नि का है।

प्रश्न—इसमें क्या प्रमाण है कि वायु अग्नि से सूक्ष्म है? बुद्धि से तो यह सिद्ध होता है कि अग्नि वायु से सूक्ष्म है।

उत्तर-अग्नि में दो गुण रूप और स्पर्श पाये जाते हैं, और वायु में केवल स्पर्श गुणही पाया जाता है, और रूप नहीं पायाजाता इससे स्पष्ट है कि अग्नि से वायु सूक्ष्म है क्योंकि वायु का गुण स्पर्श तो अग्नि में पाया जाता है, परन्तु अग्नि का गुण

रूप वायु में नहीं पाया जाता है, श्रुति भी सूक्ष्म के उपरान्त स्थूल की उत्पत्ति का क्रम बतलाकर इस बात को प्रकट करती है कि सब से सूक्ष्म आत्मा है। उस से स्थूल आकाश उससे स्थूल वायु, उससे स्थूल अग्नि, उससे स्थूल जल और उससे स्थूल मही है।

प्रश्न—श्रुति में तो इनका कारण कार्य भाव बतलाया है ?

उत्तर—कारण कार्य से सूक्ष्म होता है, इसलिये कारण कहने से भी तात्पर्य सूक्ष्म का ही समझना चाहिये। क्योंकि विना कारण के पदार्थ की उत्पत्ति असम्भव है।

अनेकद्रव्य समवायात् रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः ८

अर्थः—रूपका ज्ञान अर्थात् देखना अनेक द्रव्य अर्थात् बहुत परमाणुओं के मिलने से, और उनमें रूप विशेष अर्थात् अग्निके परमाणुओंकी विद्यमानता से होता है, क्योंकि यदि एक परमाणु में जो रूप है उसको देखसकते हैं तो और वस्तुओं के परमाणु चाहे दृष्टिगतहोते या न होते किन्तु अग्नि के परमाणु, जिनका विशेष कर गुण रूप है, अवश्य दृष्टिगत होते। यदि अनेक परमाणुओं के संयोग से ही रूपका देखना सम्भव होता तो वायु को भी देखसकते, क्योंकि वह परमाणुओं का समूह है इसलिये आचार्य ने बतलाया कि देखना वस्तु का सो दो बातों हीपर निर्भर है एक परमाणुओं का मिला हुआ होना, दूसरे उसमें रूपविशेष अर्थात् अग्निके परमाणुओं का होना। यदि इनदोनोंमेंसे कोई एक बात नहो तो दीखना सम्भवही नहीं। इसलिये परमाणुओं में संयोग नहीं किन्तु वायु में अग्नि के परमाणु ही नहीं।

प्रश्न—द्व्यणुक भी नहीं दीखता किन्तु यह भी एक से अधिक परमाणुओं के संयोग से बना है और अग्नि के द्व्यणुक में रूप विशेष भी है ?

उत्तर—अनेक शब्द से तात्पर्य एक से अधिक नहीं होना चाहिये किन्तु आचार्यका तात्पर्य बहुतसे परमाणुओं के संयोगसे है।

तेनरस गन्ध स्पर्शेषु ज्ञानं व्याख्यातम् ॥ ९ ॥

अर्थ—जिस प्रकार अनेक परमाणुओं के मिलने की अवस्था में और उन में रूपविशेष अर्थात् जिस द्रव्य में रूप है उसके परमाणु होनेपर रूप का प्रत्यक्ष होता है। इसी प्रकार रस गन्ध और स्पर्श का भी ज्ञान समझना चाहिये। जिस प्रकार आँख से रूपका प्रत्यक्ष होता है इसी प्रकार जिह्वा से रसका प्रत्यक्ष होता है। परन्तु जब तक द्रव्य संयुक्त न हो और उस में जलके परमाणु नहों तब तक उस के रस का ज्ञान नहीं हो सकता। गन्ध का प्रत्यक्ष करने वाली इन्द्रिय नाक है। गन्ध को वह तब ही प्रत्यक्ष कर सकती है जब कि वस्तु अनेक द्रव्यों से संयुक्त होजावे, और उसमें मट्टी के परमाणु विद्यमान हों। जहाँ मट्टी के परमाणु न होंगे और असंयुक्त परमाणु होंगे वहां गन्ध का ज्ञान नहीं होगा। ऐसे ही स्पर्श का ज्ञान प्राप्त करने के लिये जब तक परमाणु संयुक्त नहों और उसमें वायु के परमाणु सम्मिलित नहों तब तक उसका स्पर्श प्रत्यक्ष नहीं होसकता।

प्रश्न—पत्थर बहुत परमाणुओं से संयुक्त है, और उसमें मट्टी के परमाणु भी मिले हैं परन्तु उसमें गन्ध का प्रत्यक्ष नहीं होता इसलिये यह नियम ठीक नहीं कि संयुक्त और रूप विशेषवाली वस्तु का ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है ?

उत्तर—पत्थर में गन्धहै। परन्तु उसका ज्ञान इसलिये नहीं होताकि पत्थर के अवयव इस प्रकार ठोस हैं कि उस में पृथिवी की अधिकता से आकुञ्चन अर्थात् सुकड़ने की शक्ती अधिक है जिसके कारण मट्टी का परमाणु बाहर की ओर उड़ने के स्थान में भीतर की ओर खिचा हुआ है और जब तक मट्टी के परमाणु को नाक तक न लेजावे तब तक उनके गन्ध का ज्ञान नहीं होता। इसलिये जब पत्थर को जलाओगे तो उस ठोसपन के दूर होने से गन्ध का गुण अवश्य ही प्रत्यक्ष होगा।

प्रश्न—यदि गुणों का प्रत्यक्ष होना अनेक द्रव्यों के मिलने और उन में विशेषकर उस गुण वाले परमाणु के होने की अवस्था में ही माना जावे तो गुरुत्व (वजन) जो गुण है और जिस वस्तु में रूप रहता है उस में गुरुत्वभी रहता है, गुरुत्व का प्रत्यक्ष

न होने से इस नियम में व्यभिचार प्रतीत होता है अर्थात् किस गुण का प्रत्यक्ष होता है किसका नहीं ?

तस्याभावावव्यभिचारः ॥ १० ॥

अर्थः—जिस हेतु से व्यभिचार दोष दियागया अर्थात् यह बतलाया गया है कि जिस अनेक द्रव्यों के मिले हुए पदार्थ में रूप रहता है उस में गुरुत्व भी रहता है, इसलिये गुरुत्व का भी प्रत्यक्ष होना चाहिये परन्तु एक ही अधिकरण में दो गुणों के रहने से यह आवश्यक नहीं कि दोनों का प्रत्यक्ष हो। यदि यह सार्वत्रिक नियम होता कि एक,ही इन्द्रिय से एक अधिकरण में रहने वाले गुणों का प्रत्यक्ष होजावे, उस अवस्था में व्यभिचार हो सकता था, परन्तु यह नियम ही नहीं, इसलिये व्यभिचार भी नहीं है। और गुरुत्व और रूप को एक ही द्रव्य में रहता हुआ जानकर उनके प्रत्यक्ष होने का विचार करना ही अविद्या है। प्रथम तो दोनों का अधिकरण ही एक नहीं क्योंकि रूपतो अग्नि का गुण है और गुरुत्व पृथिवी के आकर्षण से प्रतीत होता है। जब दोनों का अधिकरण ही एक नहीं तो एक अधिकरण कहना बुद्धि को धोखा होने के कारण है। दूसरे एक अधिकरण में रहनेवाले दो गुणों का एकइन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं होता। जैसे अग्नि में रूप और गरमी है। परन्तु आँख से रूपका ज्ञान होता है, परन्तु गरमी का ज्ञान नहीं होता है, क्योंकि आंख केवल रूप का ग्रहण करती है। यदि गुरुत्व में रूप होता तो आंख उसका ग्रहण करलेती। परन्तु नियम तो यह है कि गुण में गुण हो नहीं सकता। फिर गुरुत्व में गुण रूप गुण कैसे रहसकता है ? जब गुरुत्व में रूप नहीं तो उसको किस प्रकार देखते ? इसलिये इन बातों के न होने से व्यभिचार नहीं है । आशय यह है कि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द इन्हीं का ज्ञान नियम से होता है।

संख्याः परिमाणानिपृथक्त्वं संयोग विभागौ परत्वा परत्वे कर्म च रूपि द्रव्य समवायत् चाक्षुषाणि ॥११॥

अर्थः—संख्या और परिमाण, पृथक्त्वं, मिलना, अलग होना, परे होना, वरे होना ये सावयव पदार्थों में होने से आंख से देखने योग्य हैं आशय यह है कि इन गुणों का आंख से प्रत्यक्ष हो सकता है। जैसे पाँच मनुष्य खड़े हैं तो उनकी संख्या का ज्ञान हमको आँख से होता है। किसी चीज़ से कोई छोटी है या बड़ी है, इस छोटाई बड़ाई का ज्ञान भी आँख से होजाता है। यदि बहुत सी वस्तुओं से कोई वस्तु पृथक् है तो उसकी पृथक्ता को भी हम आँख से देख सकते हैं। कोई वस्तु जब कभी किसी वस्तु से मिलती है, या अलग होती है तो उसके मिलने या अलग होने को हम आँख से देख सकते हैं। यह इस से वरे है इसका ज्ञान भी आँख से होजाता है परन्तु यह ध्यान रहे कि जो वरे परे देश के कारण होगा उनका ज्ञान आँख से हो सकेगा और, जहाँ काल कृत होगा वहां पर आँख से ज्ञान नहीं होगा। इन सब गुणों और कर्म का ज्ञान भी स क्रिय वस्तुओं को क्रिया करते हुए देखकर, आँख से होजाता है। आँख के अतिरिक्त इन बातों का ज्ञान त्वचा से भी होता है। यद्यपि सूत्र में त्वचा शब्द नहीं, परन्तु क्रम से सिद्ध होता है कि पहिले पाँच गुण तो एक इन्द्रिय से अनुभव होनेवाले थे और ये गुण दो इन्द्रियों अर्थात् त्वचा और आँख से प्रतीत होते हैं।

प्रश्न—क्या प्रत्येक वस्तु की संख्या आदि का ज्ञान आँख से होजाता है? या केवल रूपवाली वस्तु का?

अरूपिष्व चाक्षुषाणि ॥ १२ ॥

अर्थः—संख्या आदि रूप वाले द्रव्यों में रहने की अवस्था में ही आँख से प्रतीत होती है। जब आत्मा आदि रूप रहित वस्तुओं की संख्या आदि जानना चाहें तो वह आँख से नहीं जानी जावेंगी आशय यह है कि जिस वस्तु में रूप है उसकी संख्या और पृथक्ता आदि आँख से जानी जावेगी। जिन में रूप नहीं है उनकी संख्या आँख व त्वचा से नहीं जानी जाती।

प्रश्न—क्या रूपरहित वस्तु की संख्या आदि का ज्ञान किसी प्रकार भी प्रत्यक्ष से नहीं होसकता ?

उत्तर—सूत्रकार ने यह नहीं कहा कि प्रत्यक्ष नहीं किन्तु यह कहा है कि आँख और खाल से नहीं जानाजाता।

एतेन गुणत्वे भावे च सर्वेन्द्रियं ज्ञानं व्याख्यातम् ॥१३॥

अर्थः—रूप आदि पांच गुणों का आँख आदि एक एक इन्द्रिय से ज्ञान होता है, और संख्या आदि का दो दो इन्द्रियों से, और सुख दुःख का मन से परन्तु भाव (होना) का ज्ञान प्रत्येक इन्द्रिय से होजाता है, क्योंकि भाव और गुणका धर्म सामान्य है। और यह नियम कि जिस द्रव्य के देखने का ज्ञान इन्द्रिय से हो सकता है उसकी जाति का भी ज्ञान होसकता है इसलिये जब इन्द्रिओंसे गुणी का ज्ञान होसकता है उन्हीं इन्द्रियों से गुणों में रहनेवाली जातित्व अर्थात् गुणपने का भी ज्ञान होसकता है, यह परिणाम निकलता है।

पहिला आन्हिक समाप्त।

अध्याय चौथा

दूसरा आन्हिक

द्रव्य और गुणोंकी परीक्षा करके पृथवी आदि कार्यों की जांच करते हैं--

तत् पुनः पृथिव्यादि कार्य्यं द्रव्यं त्रिविधं शरीरेन्द्रिय विषय संज्ञकम् ॥ १ ॥

अर्थः—पृथिवी आदि के कार्य तीन प्रकार के होते हैं, एक शरीर दूसरे इन्द्रिय और तीसरे विशय जो भोगे जाते हैं।

प्रश्न--शरीर किसे कहते हैं?

उत्तर—भोग करने के लिये जीवात्माको जो बतौर मकानके मिलता है या जिस में रहकर इन्द्रियों के विषयों के साथ जीवात्मा का सम्बन्ध होता है वह शरीर है। यह शरीर तीन प्रकार का है एक कर्तव्य योनि, जिसमें रहकर जीवात्मा किसी पूर्व कर्मका फल नहीं भोगता किन्तु भोग के लिये कर्म करता है। दूसरे कर्तव्य और भोक्तव्य योनि, जिस में रहकर जीवात्मा पहले कर्मों का पाप व पुण्य भोगता है और आगे के लिये कर्म करता है। तीसरे भोक्तव्य योनि जिस में रहकर केवल पिछ्ले कर्मों की बुरी वासना या बुरे संस्कारों को भुलाने के लिये उस के स्वतन्त्र न होनेसे केवल फलही भोगताहै-आगेके लिये अस्वतन्त्रता से कर्म नहीं करता। इन्द्रिय जो जीवात्मा के कर्म करने और फल भोगने के लिये साधन हैं जिन से कर्म करता है और फल भोगता है। और विषय वह है जो इन इन्द्रियोंमें प्राप्त किये जाते हैं जिस को जीवात्मा अपने अनुकूल या प्रतिकूल मान कर सुख दुःख का अनुभव करता है। आशय यह है कि पृथवी, जल, अग्नि और वायु के कार्य तीन प्रकार के होते हैं।

प्रश्न—एक तत्व अर्थात् पृथिवी आदि से शरीर की उत्पत्ति मानना ठीक नहीं किन्तु पञ्चभूतों से बना हुआ है?

उत्तर–प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणां संयोगस्याप्रत्यक्षत्वात् पञ्चात्मकं न विद्यते ॥ २ ॥

अर्थ–शरीर आदि को पाँचो भूतो का कार्य कहना ठीक नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष होने योग्य पृथिवी, और अग्नि का न प्रत्यक्ष होने योग्य वायु और आकाश से मिल जाना प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं होता। यदि पाँच भूतों से शरीर का बनना सिद्ध होतो वायु और आकाश से बना हुआ शरीर, जोप्रत्यक्ष होने योग्य नहीं, पानी और अग्नि से मिलकर बनता है या तो बिलकुल प्रत्यक्ष न होता या कुछ प्रत्यक्ष होता या कुछ न होता। इस लिये पांच भूतों से बना हुआ शरीर नहीं।

प्रश्न—तो क्या तीन भूतों से जो प्रत्यक्ष होने योग्य हैं, यह शरीर बनता है अर्थात् मट्टी, जल और अग्नि से उत्पन्न हुआ है?

उत्तर–गुणान्तराप्रादुर्भावाच्च नात्र्यात्मकम् ॥ ३ ॥

अर्थः—यदि मट्टी पानी और आग के मिलने से यह शरीर बनता, तो पानी के गुण सरदी और बहना, अग्नि का गुण गरमी और प्रकाश इस में पाया जाता, परन्तु ऐसा नहीं पायाजाता किन्तु आत्मासे शून्य शरीर में गन्धकी अधिकता प्रतीत होनेसे विदित होता है कि यह शरीर पार्थिव है।

प्रश्न—शरीर में गरमी और रूप के होने से आग का होना और सरदी और संयोग के पाये जाने से जलका होना पायाजाताहै

उत्तर—शरीर में गरमी नैमित्तिक है, और प्राण वायु अर्थात् अग्नि से मिली हुई वायु के उसमें रहने से प्रतीत होती है। और मुर्दा शरीर में गरमी नहीं पाई जाती॥ ऐसे ही गर्मी और सरदी भी भोजन और जलके कारण जो खाया पिया जाता है प्रतीत होती है, वास्तव में शरीर पार्थिव है उस का स्वाभाविक गुण गन्ध है और शेष नैमित्तिक हैं। यहाँ पर तात्पर्य कणादजीका यह है कि समवाय सम्बन्ध से शरीरका कारण मट्टी है।

प्रश्न—यदि यह शरीर पाँच भूत या तीन भूतों अर्थात् मट्टी पानी और अग्नि आदि से नहीं बना तो उस में भोजन पचाने की शक्ति जो अग्नि है और रूप आदि उसमें क्यों पाये जाते

हैं ! उन गुणों के होने से शरीर का पाँचभौतिक होना पाया जाता है ?

उत्तर—अणु संयोगास्त्वप्रतिषिद्धः ॥ ४ ॥

अर्थः—पूर्व सूत्र में जो अग्नि जल आदि पञ्चभूतों से शरीर न बनने का खण्डन किया गया है अर्थात् यह बतलाया गया है कि दूसरी जाति के परमाणु किसी वस्तु के समवाय कारण नहीं होते, परन्तु परमात्मा के नियम से पञ्चभूतों के परमाणुओं के संयोग का निषेध नहीं कियागया था । इसलिये उनके संयोग से भोजन आदि पचता है, और रूप आदि का होना भी बतलायागया है । परन्तु, यदि कोई यह प्रश्नकरे कि शरीरका सबसे प्रथम उपादान कारण कौनसा है ? तो उसका उत्तर यह होगा कि अधिकतया मट्टी से बना है, क्योंकि शरीरमें उसके गुण अधिकता से पाये जाते हैं । गन्ध मट्टी का स्वाभाविक गुण है । यह शरीर के नाश होने तक मृत शरीरमें भी पाया जाता है, और भोजन का पचना आदि मृत शरीर में नहीं पायेजाते इसलिये शेष गुण नैमित्तिक हैं और गन्ध गुण स्वाभाविक है गन्ध के स्वाभाविक गुण होने से शरीर का पार्थिव होना सिद्ध है ।

अब शरीर के प्रकार वर्णन करते हैं—

तत्र शरीरं द्विविधं योनिज मयोनिजंच ॥५॥

अर्थः—यह शरीर दो प्रकार का होता है—एक योनिज अर्थात् माता पिता के सम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाला, दूसा अयोनिज अर्थात् विना माता पिता के सम्बन्धसे होनेवाला है । अयोनिज शरीर सृष्टि की आदि में, विना माता पिता के, ऋषियों का होता है, जोमुक्ति से लौटे हुए होने के कारण किसी कर्म का फल भोग न होने से केवल नये कर्म करनेके लिये युवावस्था में होता है, इसको कर्त्तव्य योनि अर्थात् केवल भोग के लिये कर्म करने योग्य शरीर कहते हैं । योनि अर्थात् मातापिता के संयोग से उत्पन्न होनेवाले शरीर दो प्रकार के होते हैं । एक जरायुज अर्थात् मनुष्य और पशु आदि जो जरायुः से उत्पन्न होते हैं, दूसरे अण्डज अर्थात् अण्डे से उत्पन्न होनेवाले पक्षी और सर्प आदि के शरीर ।

प्रश्न—अयोनिज शरीर का होना सम्भव नहीं प्रतीत होता क्योंकि यह सृष्टि नियम के विरुद्ध है ?

उत्तर—अयोनिज शरीर बुद्धि के विरुद्ध नहीं क्योंकि पसीने से उत्पन्न होनेवाले अब भी विना माता पित के उत्पन्न होते हैं। प्रत्येक वैदिक सिद्धान्तको सिद्ध करने के लिये परमात्मा ने सृष्टि में दृष्टान्त दिया हुआ है, इसलिये देव ऋषियों के उत्पत्तिको विना माता पिता के सिद्ध करने के लिये दृष्टान्त की रीतिपर स्वेदज अर्थात् मैल से उत्पन्न होनेवाले जन्तु विद्यमान हैं।

प्रश्न—विना शरीर के उत्पन्न होने का कारण क्या है क्योंकि विना कारण के कोई कार्य नहीं होसकता ?

अनियत दिग्देश पूर्वकत्वात् ॥ ६ ॥

अर्थः—परमाणु देश और दिशा से बंधे हुए नहीं किन्तु प्रत्येक देश और दिशामें परमाणु विद्यमानहैं जो ईश्वर के नियमसे चेष्टा पाकर मिलजाते हैं। पहिले परमाणु दूसरे परमाणुसे मिलकर द्व्यणुक बनते हैं। और इसी प्रकार क्रम से मिलेहुए शरीर बनजाते हैं। इस में उन जीवात्माओं के मुक्ति से लौटे हुए होने के विशेष गुण के कारण से उनके शरीर बनने के लिये यह विशेष नियम है। क्योंकि प्रत्येक प्रकार के शरीर और उनमें आने को नियम जीवात्मा की अवस्थाओं के अनुसार ही पृथक् २ है। इसी प्रकार मोक्ष जीवों को पुनः सृष्टि में आने के लिये यह विशेष नियम है।

प्रश्न—परमाणु विना क्रिया के मिलही नहीं सकते, क्योंकि संयोग की उत्पत्ति कर्म से है और विना संयोग के वस्तु उत्पन्न नहीं होसकती ?

धर्म विशेषाच्च ॥ ७ ॥

अर्थः—सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा की दी हुई चेष्टा से ही परमाणुओंका संयोग होकर पृथिवी और वृक्षादि सब वस्तु बनते हैं। इस लिये परमात्मा की दी हुई क्रिया से ही नियम के अनुसार परमाणु मिलकर देव ऋषियों के शरीरों को उत्पन्न करते हैं। इसी नियम के अनुसार मच्छर आदि छोटे २

जन्तुओं के शरीर भी बिना माता पिता के उस चेष्टा और नियम से उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार स्वेदज अब भी बिना माता पिता के उत्पन्न होते हैं। इस लिये कोई आक्षेप नहीं

समाख्या भावाच्च ॥ ८ ॥

अर्थः—ब्राह्मण आदि के श्रुतियों, शास्त्रों और स्मृतियों से बिना मातापिता के उत्पन्न हुए ऋषियों के नाम पाये जाते हैं, और सृष्टि नियम के अनुसार कारागार (जेलखाना) के बनाने वाले स्वतन्त्र ही होते हैं और उसमें रहने के लिये परतन्त्र जाते हैं। इसी प्रकार सृष्टि के क्रम को आरम्भ करने के लिये जिस में पूर्व सृष्टिके कर्म फल भोगनेवाले जीव आकर जन्मले उनके शरीरों के सांचे बनाने के लिए बिना कर्म के फल भोगनेवाली सृष्टि के होने का अनुमान होता है। ये दो प्रमाण अयोनिज शरीरों के वास्ते मिलते हैं। इसपर और युक्ति देते हैं—

संज्ञाया अनादित्वात् ॥ ९ ॥

अर्थः—यौगिक नाम जो गुण कारण से रक्खे जाते हैं और प्रत्येक सृष्टि में एक से होते हैं, जैसे अग्नि आदि जिसको संस्कृत में यौगिक कहा गया है। इस लिये ये नाम अनादि हैं क्योंकि यदि नये २ नाम उत्पन्न होते तो प्रत्येक सृष्टि में भिन्न २ होते, परन्तु वेद से ज्ञात होता है कि जिस प्रकार सूर्य चन्द्र आदि परमात्मा ने इस संसार से पहिले सर्ग में रक्खे थे वही इस सर्ग अर्थात् संसार में रक्खे। ऐसे ही उस से पहिले इन नामों के अनादि होने से ज्ञात होता है कि अयोनिज मनुष्य भी होते हैं, जिनके मा बाप के नहीं होने से उनके रूढ़िनाम तो हो नहीं सकते उन्हें यौगिक नामों से अर्थात् अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा ब्रह्मा और मनु आदिसे पुकारते हैं। इसीलिये वेदों में जिन यौगिक नामों का उल्लेख है वे प्रत्येक सृष्टि में एक से होते हैं, और अयोनिज लोगों के वही नाम जो पूर्व सर्ग के अयोनिज लोगों के थे, रक्खे जाते हैं

सन्त्ययोनिजा ॥ १० ॥

अर्थः—उपरोक्त युक्ति और प्रमाणों से सिद्ध होता है कि बिना योनि

अर्थात् बिना माता पिता के उत्पन्न होनेवाले देवऋषियों के शरीर के होते हैं । उनके नाम वेद के अनुसार प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में यौगिक अर्थात् अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा, मनु और ब्रह्मा आदि एक से रक्खे जाते हैं ।

वेदलिंगाच्च ॥ ११ ॥

अर्थः—वेद के प्रमाण से भी महादेव ऋषि आदि की उत्पत्ति लिखी है, जिनका बनानेवाला ईश्वर है । जैसे यजुर्वेद अध्याय ३ में अर्थात् पुरुष सूक्त में दिखलाया है कि उससे देवऋषि आदि उत्पन्न हुए । जिस प्रकार योनिज और अयोनिज दो प्रकार के शरीरहोतेहैं और वे पार्थिव होतेहैं ऐसे शेष वायु आदिसे बने हुए शरीर नहीं होतेहैं किन्तु वे सब अयोनिज ही होतेहैं, क्यों कि पिताके वीर्य और माताके रजसे मिलकर जो शरीर बनताहै वह शरीर योनिज कहाताहै, परन्तु रज और वीर्य दोनों पार्थिव होतेहैं इसलिये इनसे बनाहुआ शरीर पार्थिव ही होगा, यह कार्य कारण के नियमसे नियत बात है और इन्द्रिय पृथिवीके गन्धको प्रत्यक्ष करनेवाली नासिकाहै । ऐसेही जलकी इन्द्रिय रसना, अग्नि की आँख और वायुकी त्वचा है । आकाश का कान है जो अपने २ भूत के गुण गन्ध, रस रूप, स्पर्श और शब्दको प्रत्यक्ष करते हैं । और मट्टीसे उत्पन्न हुए विषय घट आदि और पहाड़ और स्थावर अर्थात् वृक्ष फल और घास आदि हैं ।

चौथे अध्याय का दूसरा आन्हिक समाप्त ।

पांचवां अध्याय

पहिला आन्हिक

द्रव्य और गुणकी परीक्षा करके, इस पांचवें अध्याय में कर्म की परीक्षा आरम्भ करते हैं और उसमें प्रयत्न से उत्पन्न होने वाले उत्क्षेपण और बिना प्रयत्न उत्क्षेपण के पुण्य के कारण जो कर्म हैं और जो कर्म पापका कारणहैं, और जो पाप पुण्य दोनों से पृथक् उदासीन कर्म हैं, उन सबका पहिले आन्हिक में वर्णन होगा।

आत्मसंयोग प्रयत्नाभ्यां हस्तेकर्म ॥ १ ॥

अर्थः—आत्माके संयोग और प्रयत्न से हाथमें कर्म होता है। आशय यहहै कि हाथ जोकुछ कर्म करताहै उसका कारण आत्माका संयोग और प्रयत्नहै। क्योंकि यदि आत्मा का संयोगही कर्म का कारण मानाजावे तो आत्माके शरीरमेंव्यापक होनेसे उस का प्रतिक्षण हाथ से संयोग बना रहता है और जिस अङ्ग के साथ आत्मा का सम्बन्ध न हो उसका जीवित रहनाही सम्भव नहीं. इसलिये प्रत्येक जीवित अङ्गसे आत्माका सम्बन्ध होनेसे उसमें चेष्टा होनी चाहिये, इस दोषको दूर करनेके लिये ऋषि ने बतलाया कि जब प्रयत्न अर्थात् इच्छाशक्ति का भी हाथके साथ सम्बन्ध हो अर्थात् आत्मा हाथ के चेष्टा देने की इच्छा रखताहै तब हाथमें कर्म होताहै। इसकर्म का समवाय कारण हाथ है और असमवाय कारण इच्छा शक्तिवाले आत्माका संयोग है और इच्छा शक्ति निमित्त कारण अर्थात् कर्ताहै और इस समूह का नाम चेष्टा अर्थात् कर्म करना है।

प्रश्न—समवाय, कारण किसको कहते हैं?

उत्तर—अवयवों का जो संयोगहै, जिससे कार्य बनाहै. जिसके बिना कार्य रहही नहीं सक्ता अर्थात् अवयवोंके संयोगको समवाय कारण कहते हैं।

प्रश्न—असमवाय कारण किसको कहते हैं ?

उत्तर-जिन अवयवोंके संयोगसे वस्तु बनतीहै वे अवयव उस वस्तु के असमवाय कारण होते हैं ।

प्रश्न—निमित्त कारण किसको कहते हैं ?

उत्तर—संयोग का करानेवाला और संयोग के लिये जिन साधनोंकी आवश्यकता पड़ती है वे सब निमित्त कारण कहलाते हैं ।

तथा हस्ते संयोगाच्च मुषले कर्म ॥ ६ ॥

अर्थः—जिस प्रकार आत्मा के संयोग और प्रयत्न से हाथ में क्रिया होती है, उसी प्रकार हाथ के संयोग से ऊखल में धान कूटने वाले मूसल=मूसलमें, धान कूटते समय होती हैं । महर्षि कणादिजी ने सूत्रमें "च" से बतला दिया है कि गिरनेमें भारी होना भी कारण है अर्थात् जब मूसल नीचेकी ओर से ऊपर को जाता है तो उस में आत्मा के प्रयत्न से हाथ में क्रिया और हाथ के संयोग से मूसल में क्रिया होती है, परन्तु नीचे जाते समय भारी होनेके कारण वह गिर जाता है । वहां भारी होना भी गिरने का कारण है । आशय यह है कि ऊपर चलनेमें प्रयत्नसे कर्म होता है, और नीचे पृथिवीको आकर्षणसे गुरुत्व के कारण गिर सकता है । उस में प्रयत्न की विशेष आवश्यकता नहीं । जैसे एक गेंद को आकाश की ओर फेंका जावे तो उस में दो क्रियायें होंगी-एक तो गेंद का ऊपर की ओर जाना और दूसरा नीचे की ओर गिरना । इन दोनो कर्मों में ऊपर की ओर जाना तो आत्मा के प्रयत्न और हाथ के संयोगसे हुआ है और नीचे की ओर आना भारी होने के कारणहै इस स्थलपर मूसल और गेंद समवाय कारणहै और प्रयत्न से क्रिया करके जो हाथका मूसल से संयोग माना है वह असमवाय कारण है । आत्मा का प्रयत्न और भारी हाथ निमित्त कारण है ।

अविघात जे मुषलादौ कर्मणि व्यतिरेकाद कारणं हस्त संयोगः ॥ ७ ॥

अर्थः—जब मूसल नीचे गिरता है, यद्यपि उस समय हाथ का भी संयोग होता है, परन्तु गिरने में भारी होनेके अतिरिक्त जिस

से पृथिवी की आकर्षण शक्ति नीचे गिराती है, हाथ का सम्बन्ध उसका कारण नहीं होता है, क्योंकि गिरते समय आत्मा के प्रयत्न की आवश्यकता नहीं। उसकी युक्ति यह है कि चाहे हाथ का संयोग हो या न हो यह अवश्य ही गिरेगा जब हाथके बिना उसका गिरना आवश्यकीय है क्योंकि यदि गिरते समय प्रयत्न होता तो वह उस को नीचे गिरनेसे रोकता न कि गिराता, क्योंकि प्रयत्न का प्राकृतिक शक्ति के विरुद्ध ही प्रयोग किया जाता है या प्राकृतिक आकर्षण को अपने बल से चलाने में उसका प्रयोग होता है। इस से यह भी परिणाम निकलता है कि मनुष्य को उन्नति करने में यत्न करने की आवश्यक्ता है और यदि उन्नति का यत्न न किया जावे तो अवनति स्वयं ही हो जाती है, क्योंकि जिस प्रकार भारी वस्तुओं को आकर्षण शक्ति से पृथिवी अपनी ओर प्रत्येक समय खींचती है, उसे गिराने की कोई आवश्यकता नहीं, इसी प्रकार विषयोंकी आकर्षण शक्ति इन्द्रियों को बराबर अपनी ओर खेंचती है, यदि आत्मा इन्द्रियोंको विषयोंसे रोकने का काम न करे तो वह बलात् आत्मा को विषयों की ओर ले जायगी। जिस प्रकार भारी वस्तु में गुरुत्व पृथिवी की आकर्षण शक्ति से है, इसलिये वह वस्तुओं को अपने कारण पृथिवी की ओर ले जाता है इसी प्रकार इन्द्रियाँ और मन पञ्चभूतों से उत्पन्न होते हैं और वह प्रत्येक वस्तु को भौतिक विषयों की ओर लेजाते हैं इसलिये जो लोग ऐसा मानते हैं कि यदि हम बुरा काम न करें तो हमको सन्ध्या अग्निहोत्र आदि शुभ कर्म करने की क्या आवश्यकता है, वह बड़ी भारी भूल करते हैं क्योंकि बुराई उनको अवश्य अपनी ओर खेंच लेगी।

तथात्मसंयोगो हस्त कर्मणि ॥ ४ ॥

अर्थः—जब मूसलके नीचे गिरते समय हाथ भी नीचेकी ओर गिरता है उस में भी आत्मा के संयोग की कोई आवश्यकता नहीं है अर्थात् हाथ की उस क्रिया का आत्मा का प्रयत्न कारण नहीं किन्तु नीचे गिरने वाले मूसलका संयोगही उस कर्मका कारण

है। आशय यह है कि गिरने के कर्म में आत्मा के प्रयत्न की आवश्यकता नहीं। या यह समझो कि जब आत्मा अपने प्रयत्न से काम करता है तो उन्नति होती है, यदि मन आदि के पीछे लगजाता है तो अवनति होती है।

अभिघातान्मुषल संयोगाद्धस्ते कर्म ॥ ५ ॥

अर्थः—जैसे मूसलके गिरनेसे उसके मुहपर लगा हुआ लोहा गिरता है ऐसे ही मूसलसे लगाहुआ हाथ भी उसके साथ ही नीचे को गिरता है। इस सूत्रमें अभिघात शब्दसे वह संस्कार अभिप्रेत है जो गिरने से उत्पन्न होता है। उपचार से अभि शब्द कहा गया है। आशय यह है कि मूसल की अति शीघ्र गति से जो गिरने में उत्पन्न होती है मूसल में एक तम का संस्कार उत्पन्न होता है और उस संस्कार के कारण हाथ और मूसल के संयोग से जो समवाय कारण है हाथ में नीचे गिरता है वह गिरना आत्मा की सांकल्पिक क्रिया से नहीं होता आशय यह है कि उस गिरने का कारण हाथ और मूसल का मिलना है आत्मा की सांकल्पिक क्रिया उसका समवाय कारण नहीं क्यों कि मूसल के गिरने के साथ हाथ का नीचे जाना आत्मा के संकल्प से पृथक है ?

प्रश्न—जब कि सारे शरीर या उसके किसी अङ्ग में क्रिया होती है वह सब आत्माके प्रयत्नसे होती है तो ऐसे समयों पर ऐसी क्यों नहीं कि आत्मा का बिना प्रयत्नके ही मूसल के साथ नीचे चला जाना स्वीकार करते हो और हाथ के साथ सारे शरीर में भी क्रिया होती है ?

उत्तर—आत्मकर्म हस्त संयोगाच्च ॥ ६ ॥

अर्थः—यहां आत्म शब्द से तात्पर्य सारे शरीर से है, उपचार से शरीर को आत्मा लिखा है कि सारे शरीर में जो क्रिया होती है उस समय वह हाथ के संयोग से होती है। आशय यह है कि मूसल तो भारी होने से पृथिवी की आकर्षण शक्ति से नीचेको गिरता है और उस मूसलके साथ लगा हुआ होनेसे हाथमें भी वह हरकत आजाती है, जैसे कि अंजनके साथलगी हुई होनेसे तमाम गाड़ियाँ क्रिया करती हैं और हाथके संयोग

से सारे शरीर में क्रिया होती है। जिस प्रकार एक अञ्जनके संयोग से दूसरी गाढ़ी चलती है। और दूसरी गाढ़ी के संयोग से तीसरी गाढ़ी चलती है ऐसे ही सारी की सारी चलती हैं। यद्यपि चलाने वाली शक्ति जो भाप है उसका सम्बन्ध केवल अञ्जन से है परन्तु क्रिया संयोग से सारी गाढ़ियों में होती है। इसी प्रकार पृथिवी का आकर्षण केवल मूसल पर होता है लेकिन संयोग से हाथ और सारा शरीर क्रिया करता है। और यह भी तात्पर्य है कि आत्मामें जो क्रिया होती है वह शरीर के सम्बन्ध से होती है क्योंकि वह किसी कारण द्वारा ही क्रिया करने वाला है। विना कारणोंके अर्थात् विना शरीर के वह क्रिया कर भी नहीं सकता अब उन क्रियाओं का वर्णन करते हैं कि जिसमें किसी प्रकार के प्रयत्न की अपेक्षा नहीं यद्यपि मूसल आदि के गिरने की क्रिया भी प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रखती. परन्तु जबतक प्रयत्नसे मूसल ऊपर न जाये तब तक गिर नहीं सकता।

संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम् ॥ ७ ॥

अर्थः—संयोग इस शब्द से सारी रुकावटों से तात्पर्य है, अर्थात् रुकावट के न होने से भारी होने के कारण वस्तु ऊपर से नीचे गिरती है। जबतक रुकावट हो तब तक नहीं गिरती यहां गिरने में एक रुकावट तो संयोग ही है। भारी वस्तु किसी वृक्ष आदिमें बंधी होनेसे नहीं गिरती। उसके न गिरने में वहीं संयोग ही कारण है।

प्रश्न—जो पक्षी अन्तरिक्ष में उड़ते हैं उन में न तो किसी से संयोग होता है, और वे भारी भी होते हैं; वे क्यों नहीं गिरते?

उत्तर—वहांपर प्रयत्न, जो नीचे गिरने से पृथक् रहने के लिये पक्षी करते हैं वह, गिरने से रोकता है। दूसरे वह अपने परों को फैलाकर अपने शरीर को इस प्रकार का बना लेता है कि उस का बोझ नीचे की वायु से कम होजाता है, इस लिये वायु में विचरते हैं, इसी प्रकार बहुतसी रुकावटें गिरने से रोकने वाली हैं, जिनको महर्षि कणादजी ने संयोग शब्द से दिखाया है। जब ये रुकावटें न हों तब भारी वस्तु नीचे

गिरती है। जिन वस्तुओं में गुरुत्व नहीं अर्थात् जिन पर पृथिवी की आकर्षण शक्ति का प्रभाव नहीं है, वे नहीं गिरते, जिस प्रकार अग्नि को शिखा सदैव ऊपर को उठती हैं।

प्रश्न—यदि बोझ (गुरुत्व) के कारणही गिरना माना जावे तो गेंद ऊपर क्यों जाती है, और घूमती हुई नीचे को क्यों आती है ?

उत्तर—नोदन विशेषाभावान्नोर्ध्वं नतिर्यग्गमनम् ८

अर्थः—विशेष भावसे प्रयत्न के न होने से ऊपर नीचे नहीं जाता अर्थात् जब तक, क्रिया उत्पन्न करने वाले की क्रिया रहतीहै तब तक गेंद ऊपर चली जाती है, और जहाँ वह क्रिया समाप्त होतीहै वहाँसे लुड़कती हुई नीचे गिरती है। परन्तु वृक्षसे जो फल गिरताहै, और पक्षी जो ऊपरसे थककर गिरताहै, और तीर जो कमानसे चलकर किसी दूसरे स्थानपर गिरता है उनमें विशेष प्रयत्नका संयोग नहोनेसे ऊपर चलना और नीचेगिरना नहीं होता। जहां २ विशेष प्रयत्नसे सम्बन्ध होगा, वहां २ वस्तु लुड़कती हुई चलेगी। जहाँ पृथिवी के आकर्षणसे भारी होनेके कारण गिरेगी वहाँ सीधी गिरेगी, इसका यहीतात्पर्यहै।

प्रश्न—वह विशेष प्रकार की क्रिया, जिससे इसप्रकारका कर्म होताहै किस प्रकार उत्पन्न होती है ?

उत्तर—प्रयत्नविशेषान्नोदनविशेषः ॥ ९ ॥

अर्थः—वह विशेष क्रिया आत्मा के प्रयत्न से होती है अर्थात् जीवात्मा मन को प्रेरणा करता है और मन इन्द्रियोंको प्रेरित करता है। उस प्रेरणासे क्रिया उत्पन्न होकर उस कर्म का कारण होतीहै जो ऊपर जाति हुई गेंद गिरती है।

प्रश्न—बहुत चीजें थोड़ी दूर जाकर ऊपर रह जाती हैं और बहुत चीजें अधिक ऊंची जाती है ?

उत्तर—नोदनविशेषादुदसनविशेषः ॥ १० ॥

अर्थः—जो आत्मा के प्रयत्न से विशेष क्रिया उत्पन्न होती है जिससे प्रेरितहुई।गेंद ऊपर जारहीहै, यदि वह अधिक वेगवालीहैतो उस चीज से दूरतक ऊंची चली जातीहै। यदि वह क्रिया न्यून है तो चीज़ कम ऊंची जाती है। अधिक वा न्यून वेग

वस्तु के भारी और हलका होने पर निर्भर है, और क्रिया की न्यूनाधिकता से सम्बन्ध रखताहै। हलकी चीज अधिक क्रिया से बहुत ऊंची जावेगी, उसी क्रिया से भारी चीज कम ऊंची जावेगी। जो चीज बहुतही हलकी हो वह ऊंची कठिनता से जावेगी। अब इस अवस्था को दिखाते हैं कि जब प्रयत्न होता है और उस से पाप पुण्य नहीं होता, क्योंकि पाप पुण्य आत्मा के प्रयत्न से ही किये जाते हैं, परन्तु यदि आत्मा संस्कार के वश में क्रिया उत्पन्नकरे और उसमें प्रयत्न हो तो वह क्रिया यद्यपि आत्मा की उत्पन्न की हुई है परन्तु पुण्य पाप का कारण नहीं होती। उस का दृष्टान्त देते हैं

हस्तकर्मणा दारक कर्मव्याख्यातम् ॥११॥

अर्थः—ऊखल में मूसल गिरने से जो हाथ में क्रिया होती है, क्योंकि वह संस्कार के कारण होती है, इसलिये वह पाप पुण्य का कारण नहीं होती। उस का उदाहरण यह है, कि यद्यपि बालक के हाथ पाँव आत्मा की शक्तिसे कार्य करते हैं परन्तु उसके चित्त में कोई इच्छा इसप्रकार की नहीं जिससे किसी को हानिलाभ पहुंचाने का विचार हो, इसलिये उसके क्रिया कर्मों को पापपुण्य के कारण नहीं जानना चाहिये। इसीप्रकार वे क्रियायें जो हस्तादि से होतीहैं, पापपुण्य का कारण नहीं होतीं। आशय यहहै, कि प्रयत्नभी दोप्रकार काहोताहै-एकवह जिसमें दूसरोंको हानिलाभ पहुंचाने का विचार हो, वह पाप पुण्यका कारण होता है दूसरे जिसमें, हानिलाभ पहुंचानेका विचारनहो स्वभावके अनुसार चेष्टा होतीहो, जैसे छोटे से बालकका हाथ पांव चलाना, तो वह पाप पुण्य का कारण नहीं होगी।

तथादग्धस्य विस्फोटने ॥ १२ ॥

अर्थः—इसीप्रकार छः प्रकार के दोषोंसे जलाहुआ (दग्ध) जो आततायी है, उसके मारनेमें भी दोष नहीं है। आशय यहहै, किजहाँ दूसरोंकी रक्षाके विचार से किसी अन्यायी को माराजावे तो उस अवस्थामें जो कर्म होगा, यद्यपिवह प्रयत्नविशेषसेहोताहै तो भी हानि पहुंचानेके विचार नहोने से पुण्यपाप का कारण

नहीं होता । अपनी आत्माकी रक्षाके लियेभी यदि किसी ऐसे मनुष्यको माराजावे, जिसके बिना मारे अपनी जान न बचे उस काभी पाप नहीं । ऐसे विनादूसरेको हानि पहुंचाने के विचार के जो कर्म होतेहैं वे पाप पुण्य का कारण नहीं होसकते। यदि दग्ध का आशय ज्ञान अग्निसे दग्ध, जीवन मुक्त लियाजावे, तोभी उसके जो कर्म हैं वे पूर्व जन्म के कर्मोंके अनुसार दैवी नियमानुसार होनेके कारण भी पापपुण्य का कारण नहीं होते

प्रश्न—जिनछः दोषोंसे आततायी होताहै वे छः दोष कौनसेहैं ?

उत्तर—किसी के घरमें आगलगानेवाला, दूसरे को विष देनेवाला, हथियारोंसे मारनेवाला, डाँकू धन छीनने वाला, खेत छीनने-वाला और स्त्रीको छीननेवाला ये छः आततायी हैं । इनको मारना राजाको उचितहै और किसी समयपर अपनी रक्षाके लिये दूसरा मारनेवालाभी पापी नहीं ।

प्रश्न—विना प्रयत्न विशेषके कर्म किस प्रकार होसकताहै ?

उत्तर—यत्नाभावे प्रसुप्तस्य चलनम् ॥ १३ ॥

अर्थः—सोयेहुए मनुष्य के शरीर में जो क्रिया होतीहै वह प्राणवायु के कारण होतीहै और जीवात्माका कर्म नहीं होता । इसी प्रकार उन्मत्त मनुष्य, जो जीवित रहनेपर भी ज्ञान के विना ही हाथ-पांवको हिलाता है, विना प्रयत्न विशेष के करता है । आशय-यह है, कि इसप्रकार की क्रिया प्राणवायु के कारण समझना चाहिये । इसमें प्रयत्न विशेषका विचार करना ठीक नहीं । इसके सम्बन्ध में और भी उदाहरण देते हैं ।

तृणेकर्म वायुसंयोगात ॥ १४ ॥

अर्थः—घास और फल आदि के वृक्ष और सारे वनस्पति या झंडे आदि जो क्रिया करतेहैं, वह क्रियाभी वायुके कारण होती है, उसमें भी प्रयत्न काकोई सम्बन्ध नहीं होता । आशय यहहै, कि जिस वस्तुमें करना, न करना और उलटाकरना पाया जावे वहां तो समझना चाहिये कि जीवात्माके कारण प्रयत्न विशेष कामकररहाहै जहाँ उसके विरुद्धहो वहां अग्नि जल और वायु आदिके कारण, जो परमात्माके नियमसे क्रिया होती है, उसीके कारण समझना चाहिये ।

प्रश्न—प्रकृति में क्रिया स्वाभाविक है या नैमित्तिक? यदि नैमित्तिक है तो उसका कारण क्या है?

उत्तर—प्रकृति में क्रिया स्वाभाविक नहीं, किन्तु नैमित्तिक है। जो कि परमात्मा के नियम से होती है। जिस प्रकार घड़ी की सारी सुइयां और चक्र घड़ी साज के नियम और चाबी देनेसे क्रिया करती हैं और लौटकर उसी स्थानपर आजाती हैं। जब वह उत्पन्न की हुई क्रिया बन्द होजाती है तब घड़ी भी बन्द हो-जाती है।

मणिगमनं सूच्यभिसर्पणमदृष्टकारणम् ॥१५॥

अर्थः—जहाँ पर मणि में क्रिया होती है, या चुम्बक पत्थर के आकर्षण से सुई आदि क्रिया करती हैं, उन सब का अदृष्ट कारण है। जैसे लोहा चुम्बक पत्थर के कारण क्रिया करता है, उस चुम्बक पत्थर में जो आकर्षण शक्ति है, वह दृष्टिगत नहीं होती। अदृष्ट का आशय पूर्व जन्म के कर्मों का भी होसकता है। जीवों के कर्मानुसार भी चीजें क्रिया करके उनके पास पहुंच सकती हैं। यद्यपि उनकी क्रिया में कोई और कारण विना प्रयत्न का भी होता है, परन्तु अधिक ध्यान पूर्वक विचार करनेसे भोग ही का पता लगता है।

प्रश्न—तीर, पक्षी, और अलातचक्र (लकड़ी जलाकर घुमाने से जो ज्योति का चक्र बनजाता है) के नीचे से ऊपर जाने में एक ही क्रिया होती है या अधिक?

इषावयुगपत् संयोग विशेषाः कर्मान्यत्वे हेतुः ॥१६॥

अर्थः—तीर में एक काल में न होने वाला संयोग विशेष कर्म कई प्रकार का सिद्ध होता है। आशय यह है कि तीव्रता से चलते हुए तीर में यद्यपि क्रिया विद्यमान होती है, परन्तु वह दीवार के साथ मिलते ही चलना बन्द करदेता है। यहाँ इसक्रिया का नाश करने वाले आश्रयका नाश तो हो नहीं सकता, क्योंकि आश्रय विद्यमान। अर्थात् जिस तीर के भीतर क्रिया कार्य कररही थी वह तीर विद्यमान है, तहाँ विरुद्ध गुण भी नहीं प्रतीत होता कि जिससे कर्म का नाश हुआ हो, यही विदित होता है, कि कर्म से उत्पन्न हुआ

संयोग ही उसकर्म का नाश करनेवाला है । अर्थात् तीर के चलने से जो दीवार के साथ संयोग उत्पन्न हुआ वह मिला यही तीर के चलने को रोकता है । वह संयोग चौथे क्षण में उत्पन्न होकर पाँचवें क्षण में कर्म का नाश करदेता है ।

प्रश्न—पाँचवाँ और चौथा क्षण कहने से क्या आशय है ? क्या यहाँ क्षण कहने से वह क्षण अभिप्रेत है, कि जिस समय कार्य आरम्भ होता है और समाप्त होता है ?

उत्तर—पहिले क्षण में कर्म उत्पन्न होता है, दूसरे क्षण में जो तीरऔर कमानका संयोग था उसका नाश होता है, तीसरे क्षण में तीर कमान से पृथक होकर विभाग उत्पन्न करता है, चौथे क्षण में भित्ति से संयोग उत्पन्न होता है और पाँचवें क्षण में वह क्रिया नष्ट होजाती है । इसलिये एक साथ नहोनेवाले संयोग विशेष से कर्म का नाश होना विदित होता है ।

प्रश्न—यहाँ संयोग विशेष कहने से क्या आशय है ?

उत्तर—विशेष प्रकार का संयोग ही कर्म का नाश करता है यदि एक संयोग कर्म का नाश करता, तो कर्म कहीं रह ही नहीं सकता । इसलिये विशेष संयोग से ही कर्म का नाश होता है । प्रत्येक संयोग से नहीं, यह आशय है ।

प्रश्न—प्रेरणा से उत्पन्न हुआ कर्म तो प्रतीत हुआ । संस्कारसे उत्पन्न हुआ कर्म कौनसा होता है ?

नोदनादाद्यमिषोः कर्म तत्कर्म कारिताच्च संस्कारा दुत्तरं तथोत्तरमुत्तरञ्च ॥ १७ ॥

अर्थः—तीर में जो आरम्भ में क्रिया होती है । वह नोदना से होतीहै, अर्थात् क्रिया उत्पन्न करनेवाले की शक्ति से होती है । उस पहिले कर्म से तीव्रता से चलने वाला संस्कार उत्पन्न होता है । वह तीव्रता से चलती हुई चीज़ को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है, उस संस्कार से उस तीर में कर्म उत्पन्न होता है,और उस कर्म से दूसरा कर्म, इसी प्रकार कर्म से क्रिया करता हुआ तीर चलाजाता है । आशय यह है,कि जब तक चलताहुआ तीर गिरता नहीं तबतक संस्कार कर्मसेउस में क्रिया उत्पन्न करता रहता है । अर्थात् कर्म सन्तान उत्पन्न

होती चली जातीहै और अपने उत्पन्न किये संयोगसे कर्मका नाश होनेपर संस्कार से दूसरा कर्म उत्पन्न होनेके कारण, संस्कारएकही कर्म की सन्तान=कर्मपरम्परा उत्पन्न करनेका कारणहै। संस्कारकी सन्तान नहीं होती इसलिये संस्कारको एक वचन कहाहै।

प्रश्न—यदि एक ही संस्कार कर्म की उत्पत्तिका कारणहोतो कभीतीर पृथिवीपर नगिरे, क्योंकि काम का उत्पन्न करनेवाला संस्कार विद्यमान है?

उत्तर—संस्काराभावे गुरुत्वात् पतनम् ॥ १८ ॥

अर्थः—संस्कार के न होनेपर भारी होने से वस्तु गिरजाती है। आशय यहहै, कि भारीवस्तु पृथिवीकी आकर्षणशक्तिसे नीचे गिरती है। जब तक उस आकर्षण को रोकने वाला संस्कार कर्म को उत्पन्न करता है तब तक यह आकर्षण खींचने में विवश रहती है, और जब संस्कार नष्ट होगया तो आकर्षण को रोकनेवाला कर्म उत्पन्न नहीं होता। इसलिये वह आकर्षण उस बाण को गिरादेती है।

पांचवें अध्याय का प्रथम आन्हिक समाप्त।

पाञ्चवाँ अध्याय

दूसरा आन्हिक

इस अध्याय में कर्म की परीक्षा करते हैं :—

प्रश्न—ओर आदि को तो चलाताहुआ देखते हैं, परन्तु पृथिवी में जो क्रिया होती है उसका क्या कारण है।

नोदनाभिघातात् संयुक्त संयोगाच्च पृथिव्यांकर्म ॥१॥

अर्थः—पृथिवी में जो कर्म होता है उसका एक कारण तो प्रेरणा है, दूसरे किसी वस्तु का वेग से बढ़ना है। ये तो पृथिवी के नैमित्तिक कारण हैं। और जो नैत्यिक गति है। उसका कारण जो परमात्मा उस में व्यापक है, उसका संयोग है। आशय यह है, कि परमात्मा की व्यापकता से जड़ पृथिवी और तारे आदि क्रिया करते हैं। और विशेष क्रिया किसी विशेष प्रेरणा और किसी भारी वस्तु के गिरने से होती है।

प्रश्न—तुमने संयुक्त संयोग का अर्थ, और टीकाकारों के विरुद्ध परमात्मा का पृथिवी में व्यापक होना कैसे किया?

उत्तर—जड़ वस्तुओंमें स्वाभाविक क्रिया तो है नहीं, यदि स्वाभाविक होती तो प्रत्येक वस्तु सक्रिय दृष्टिगत होती, परन्तु यह प्रत्यक्ष के विरुद्ध है। किसी जड़वस्तु में जब कोई गति उत्पन्न करता है तबही वह क्रिया करती है इसीलिये श्वेताश्वतर उपनिषद् में जो लिखाथा "संयुक्त मेतत्क्षर मक्षरञ्चेत्यादि" विदित होताहै, कि ऋषिका तात्पर्य संयुक्त कहनेसे इसी पृथिवी और परमात्माके संयोगसे है। यदिकोई कहेकि वैशेषिक और उपनिषद् से क्या सम्बन्ध, तो ऋषिने पहिलेही अध्याय में तत्वज्ञानके लिये वेद कोही प्रमाण मानाहै। उसी के अनुसार यहाँ लिखा है।

प्रश्न—प्रतिदिन की साधारण गति के अतिरिक्त भूचाल आदि आते हैं जिससे पृथिवी की गति ज्ञात होती है परन्तु वहां प्रेरणा करने वाला और किसी वस्तु का गिरना सिद्ध होता है ?

उत्तर—तदविशेषेणाऽदृष्टकारितम् ॥ २ ॥

अर्थः—भूकम्प आदि जो पृथिवी में असाधारण क्रियायें होती हैं उनका कारण जीवों के अदृष्ट के अनुसार ईश्वरीय चेष्टा है, क्योंकि भूकम्प से जीवों को कष्ट पहुंचता है और जिस किसीको उस से लाभ पहुंचता हैं उनके पूर्व जन्म के किए हुए कर्म से उत्पन्न हुआ अदृष्ट फल ही उसका कारण होता हैं। और वह अदृष्टफल ईश्वर के नियम के अनुसार ही होता है। आशय यह है, कि जिसकर्म की प्रेरणा और किसी वस्तु के गिरने से नहो और उससे जीवों को किसी प्रकार का हानिलाभ अवश्य पहुंचताहै, इस लिये उस का कारण अदृष्टही मानना चाहिये। अदृष्टके अतिरिक्त और किसीसे जीवोंको सुख वा दुःख नहीं मिलसकता।

प्रश्न—वर्षा में जो पानी ऊपर से गिरता हैं, उस में जो कर्म हैं उस का क्या कारण मानोगे?

अपांसंयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम् ॥ ३ ॥

अर्थः—वर्षा में जो पानी ऊपर से नीचे गिरता है, वह संयोग के न रहने से भारी होने के कारण ही है अर्थात् प्रत्येक भारी वस्तु पृथिवी के आकर्षण से नीचे गिरती है जब तक कोई विरुद्ध शक्ति उसको नीचे गिरने से रोकती है तब तक वह नहीं गिरती जब संयोग जो रोकने वाला था नष्ट होगया तब पृथिवी के आकर्षण से पानी गिरने लगता है। इस कर्म का समवायकारण गुरुत्व और बादल में संयोग का अभाव निमित्त कारण है।

प्रश्न—जो पानी बरस कर नीचे की ओर जाता है, उसका क्या कारण है?

द्रवत्वात् स्यन्दनम् ॥ ४ ॥

अर्थः—पृथिवी पर गिरेहुए पानी की बूंदें, परस्पर मिलकर जो पानी के अवयवोंके समूहकी सूरत धारा को पैदा करती हैं उसका जो नीचे की ओर बहना है अर्थात् जहाँ पर पानी गिरा था वहां से दूर चलाजाना है वह कर्म द्रवत्व असमवाय कारणसे उत्पन्न होता है और भारी होना निमित्त कारण है और जल समवाय कारण है।

प्रश्न—द्रवत्व किसको कहते हैं ?

उत्तर—जो वहने वाली शक्ति है उसे "द्रवत्व" कहते हैं जिससे वहने वाली चीजों में नीचे की ओर वहना पाया जाता है ।

प्रश्न-यदि पृथिवी पर रहनेवाले पानी का ऊपर जाना होता तो भारी होने से उनका नीचे गिरना या वरसना सम्भव होता इसलिये जव जल नीचे की ओर जाता है ऊपर जाता ही नहीं तो यह कैसेसम्भव है ?

उत्तर—नाड्यौ वायुसंयोगादारोहणम् ॥ ५ ॥

अर्थः—पानी यद्यपि स्वाभाविक रूप से नीचे की ओर वहने वाला है और उसमें सूर्य की किरणों से, जो कि वायु के साथ मिलकर कार्य करती हैं, ऊपर जाता है । ग्रीष्म ऋतु में वायु के साथ मिली हुई सूर्य की किरणें ही पानी को ऊपरकी ओर ले जाती हैं । जव सूर्य उत्तरायण से दक्षिणायन हो जाता है, तो दूर हो जाने के कारण किरणें तिरछी होकर निर्वल पड़ने लगती हैं जिससे पानी वरसने लगता है आशय यह है कि सूर्य की किरणों और वायु के संयोग से पानी ऊपर जाता है, संयोग के न रहने से और भारी होने से नीचे गिर जाता है । संयोग का नाश विजली के कारण प्रायः होता है ।

प्रश्न—सूर्य की किरणों में यह शक्ति कहाँ से आई; कि वह पृथिवी के पानी को ले जावे ?

उत्तर—नोदना पीडनात संयुक्त संयोगाच्च ॥ ६ ॥

अर्थः—वलवान् वायु की प्रेरणा से पानी के भाग पृथक् २ होकर किरणों और वायु के संयोग से उड़ने लगते हैं या किरणों में जो व्यापक परमात्मा है उसके संयोग से किरणों के भीतर यह शक्ति आती है कि वह अपने अधिकरण वा भन्डार की ओर चलें । इसी प्रकार सूर्य की किरणें परमात्मा की नियम रूप शक्ति से प्रेरणा पाकर पानी को पृथक् करके तीव्र वायु के साथ मिलकर ऊपर लेजाती हैं, जैसे उष्ण जल को वायु और अग्नि मिलकर उड़ा ले जाती हैं और वह भाप वनकर उड़ता हुआ प्रत्यक्ष दिखाई देता है । ऐसे ही सूर्य की किरणें पानी को ऊपर ले जाती हैं ।

प्रश्न—जो पानी वृक्षों की जड़ में डाला जाता है वह वृक्ष के भीतर से ऊपर कैसे चला जाता है। वहाँ न तो प्रयत्न है और न उद्घाटन है?

उत्तर—वृक्षाभिसर्पणमित्यदृष्ट कारितम् ॥ ७ ॥

अर्थः—वृक्ष की जड़ में जो पानी डाला है वह उलटा मनुष्य की अदृष्ट अर्थात् प्रारब्ध से, जिन्हें उस वृक्ष की, छाया, लकड़ी पत्ते, फल, फूल, आदि से सुख या दुःख प्राप्त करना है, क्यों वह ईश्वर कर्म फल देने वाले के नियम से प्रेरित किरणों के साथ मिलकर वृक्ष के भीतर जाकर उसे बढ़ाता है। जो मनुष्य वृक्षों के बढ़ने में जीव को कारण मानकर वृक्षों में वृक्ष का अभिमानी जीव मानते हैं, उन्हें वैशेषिक के इस सूत्र पर ध्यान देना चाहिये।

प्रश्न—जल में यदि बहने की शक्ति मानी जावे और इस प्रकार के पानी का ऊपर जाना, नीचे गिरना और बराबर चलना माना जावे, वर्फ और ओलों में सरदी होने से उनका पानी होना तो सिद्ध है, फिर वह कठोर क्यों होजाते हैं और फिर क्यों बहने योग्य बन जाते हैं। पानी को यदि बहने वाला कहा जावे तो वर्फ़ और ओले क्यों ठोस होजाते हैं और फिर क्यों बहने वाले बन जाते हैं?

उत्तर-अपांसंघातो विलयनञ्च तेजःसंयोगात् ॥८॥

अर्थः—पानी इस रीति पर वर्फ़ का हिम बन जाता है कि जब वह तेज अर्थात् बिजली से रोके जाने लए पानी के परमाणु परस्पर मिलते तो उस द्व्यणुक में द्रवत्व को उत्पन्न नहीं करते। इस द्रवत्व से पृथक् द्व्यणुकों से वर्फ़ और ओले बन जाते हैं जिससे उनमें ठोसपन, बहने के स्थान में, उत्पन्न हो जाता है।

प्रश्न—इसी प्रकार ओले वा वर्फ़ के पानी होने में वा पानी उत्पन्न हुए होने में क्या प्रमाण है?

उत्तर—ओले और वर्फ नष्ट होकर पानी बन जाते हैं इससे स्पष्ट विदित है कि वे पानी से बनते हैं और उसीमें मिलजाते हैं।

प्रश्न—यदि तेज के कारण पानी का वर्फ और ओले बनना मान भी लिया जावे तो फिर पानी कैसे बनेंगे।

उत्तर—यह भी तेज के कारण से होता है कि वर्फ़ और ओले बनाने वाला तेज जब वर्फ़ और ओले बनने वाले परमाणुओं में तीव्र प्रभाव डालता है तो उस से क्रिया उत्पन्न होती है, और उस क्रिया से विभाग उत्पन्न होजाता है और उस से बनाने वाले संयोग का नाश होजाता है । इसी प्रकार ओलों और वर्फ़ के टुकड़ों का नाश होजाता है, जिससे द्रवत्व के विरोधनी शक्ति के नाश होने से पुनः द्रवत्व उत्पन्न होकर पानी होजाता है । इस प्रकार पानी में वर्फ़ और ओलों के सम्मिलित होजाने से दिव्य तेज का काम ही कारण है ।

प्रश्न—उसमें बलवान तेज सम्मिलित होगया इस में क्या प्रमाण है ?

उत्तर—तत्र विस्फूर्जथुर्लिंगम् ॥ ९ ॥

अर्थः—उस में आकाश में रहने वाले तेज के सम्मिलित होने में जो प्रमाण मांगा गया है उस में प्रमाण बिजली है । बिजली की चमक से इस बात का पता लगता है, क्योंकि जब ओले बरसते हैं या वर्फ़ पड़ती है, उस समय बिजली की चमक और बादलों की गरज भी प्रत्यक्षसे दिखाई पड़ती है जिससे अनुमान होता है, कि जिस बादल से ओले उत्पन्न होते हैं उस में सूक्ष्म तेज अर्थात् विद्युत विद्यमान है जो पानी के द्रवत्व गुणको रोककर संयोगका कारण होता है, उससे ओले आदि उत्पन्न होजाते हैं ।

प्रश्न—उस में कोई और प्रमाण भी है या यह नया विचार ही है ?

उत्तर—वैदिकश्च ॥ १० ॥

अर्थः—पानी के भीतर जो आकाश होता है उस में तेज का होना वेदों के प्रमाण से भी सिद्ध होता है । जब कि वेदों से पता लगता है और आज कल भी लोग बनाकर देख सकते हैं, तो किस प्रकार कहा जावे कि आकाश के रहने वाले पानियों में अग्नि नहीं है ।

प्रश्न—बिजली की उत्पत्ति किस प्रकार हुई है ?

उत्तर—अपांसंयोगाद्विभागाच्चस्तनयित्नोः॥ ११॥

अर्थः—पानी के भरे हुए दो बादलों के मिलने और पृथक् होने से जो रगड़ उत्पन्न होती है उससे बिजली उत्पन्न होती है, और बादलों का मिलना व पृथक् होना प्रायः वायु के कारण होता है और इसी रगड़ से बादलों में गड़गड़ाहट उत्पन्न होती है जिस को मनुष्य बादल का गरजना कहते हैं तात्पर्य यह है, कि बादलों की गरज का शब्द और बिजली की उत्पत्ति का कारण बादलों की रगड़ अर्थात् मिलना और पृथक् होना सिद्ध होता है। जब एक बादल उधर से आता है, इधर से जाता है तो प्रायः रगड़ उत्पन्न हो जाती है, जिसे शब्द और बिजली उत्पन्न होती है।

प्रश्न—भूडोल आदि पृथिवी की नैमित्तिक क्रियाओं का कारण तो जीवों का अदृष्ट कहा, परन्तु अग्नि के लगजाने से सहस्रों गृह भस्म हो जाते हैं। तीव्र वायु और आँधी से सैकड़ोंवृक्ष उखड़ जाते हैं, उसका क्या कारण है?

उत्तर—पृथिवी कर्मणां तेजः कर्म वायु कर्म च व्याख्यातम्॥ १२॥

अर्थः—जिस प्रकार भूचाल आदि पृथिवी की नैमित्तिक क्रियायें अदृष्ट अर्थात् जीवों के कर्म से होती हैं, इसी प्रकार अग्नि का लगना और उससे सहस्रों घरों का भस्म हो जाना और उन वृक्षों का उखड़ जाना आदि भी जीवों के अदृष्ट से होती है आशय यह है कि जिन जीवों को उस से हानि वा लाभ पहुंचता है उन्हीं के कर्म के फल देने के लिये परमात्मा की प्रेरणा से यह क्रिया होती है।

प्रश्न—अग्नि सदैव ऊपर ही जलती है वायु बराबर हिलती है अर्थात् तिरछी चलती है इसीप्रकार मन कर्म करता है और अणुओंमें क्रिया होती है, उसका क्या कारण है?

उत्तर—अग्नेरूर्ध्वं ज्वलनम् वायोस्तिर्यक्पवन मणूनां मनश्चाद्यं कर्मादृष्टकारितम्॥ १३॥

अर्थः—ये कर्म जीवों का अदृष्ट फल देने के लिये सृष्टि के आरम्भ से कर्म देने वालेकी ओरसे होते हैं । आशय यह है कि परमात्मा इन सब भूतों में क्रिया देकर उनकी क्रियाओं का नियमानुसार संचालन करते हैं, और नैमित्तिक क्रियायें भी होती हैं उनका कारण जीवों का अदृष्ट ही है, और परमात्मा की दी हुई प्रथम क्रिया से जो वेग का संस्कार उत्पन्न होता है उसी से अब क्रियायें होरही हैं, क्यों कि जहां प्रत्यक्ष से कारण का पता लगजावे वहां अनुमान आदि से दूसरा कारण ढूँढना ठीक नहीं । इन सूत्रोंसे स्पष्ट विदित होता है, कि जो पृथिवी की नैमित्तिक क्रियाओं से जो जीवों को हानि लाभ पहुंचाता है, वह जीवों के कर्मों के फल से नियत है, और उसके कारण से पृथिवी आदि में यह क्रियायें होती हैं । जो लोग आग से जल कर मरने वालों की अकाल मृत्यु मान लिया करते हैं उन्हें महर्षि कणाद के इन सूत्रों पर विचार करना चाहिये ।

प्रश्न—जो मन में कर्म बतलाया जाता है उसमें कोई प्रमाण नहीं ?

उत्तर—हस्तकर्मणा मनसा कर्म व्याख्यातम् ॥१४॥

अर्थः—यह पूर्व ही सिद्ध कर चुके हैं कि मन विभु अर्थात सारे शरीर में व्यापक नहीं किन्तु अणु है और मन का गुण एक काल में दो इन्द्रियों के विषय का ज्ञान न होना कर चुके हैं इसलिये मन में कर्म के बिना सुख और दुःख का ज्ञान हो ही नहीं सकता, क्योंकि जिस इन्द्रिय से सुख दुःख होता है जब तक उस इन्द्रिय तक मन न पहुंचे अर्थात् मन का और उसका सम्बन्ध न हो, तब तक उस इन्द्रिय को ज्ञान का होना सम्भव ही नहीं । यदि मन में कर्म न हो तो "मेरे सिर में दर्द है" और "मेरे पावों में कष्ट है" तो यह ज्ञान हो ही किस तरह सकता है । यद्यपि आत्मा के सारे नैमित्तिक गुण मन के सम्बन्ध पर निर्भर है, परन्तु सुख दुःख का होना सब से अधिक स्पष्ट है इसलिये कहा कि हाथ पावों की क्रिया के समान मन का कर्म भी जानना चाहिये ।

प्रश्न—यदि मन को चञ्चल मानोगे तो मन को टिकने के बिना योग नहीं होगा और योग के न होने से आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं

होगा, अतः मोक्ष भी नहीं होगी। इसलिये मनका चञ्चल होना ठीक नहीं ?

उत्तर—आत्मेन्द्रिय मनोऽर्थ सन्निकर्षात् सुखदुःखे ॥१५॥

अर्थः—जब विषयों को दूषित समझ कर मन उदास होकर बाहर की इन्द्रियों की ओर से हटकर आत्मा में ठहरता है अर्थात् केवल आत्मा से ही सम्बन्ध रखता है इन्द्रियों से नहीं, उस समय मन को कर्म में लगाने वाले गुणों के न होने से मन में कर्म उत्पन्न नहीं होता, मन नितान्त स्थिर होजाता है। वही अवस्था, जब सारे काम करना छोड़ दे, ध्यान कहाती है। और वही योग है। जब योग होगया तो मन में कर्म आरम्भ ही नहीं होता, जब योग होता है तो दुःख का अभाव होता है, और कर्म दुःख दूर करने के लिये किये जाता है, जब दुःख दूर हो गया तो किस की प्राप्ति के लिये और किस के त्याग के लिये मन कर्म करेगा। दुःख बाहर की इन्द्रियों से ग्रहण करने योग्य विषयों से होता है। इन्द्रियों का सम्बन्ध ही दुःख है।

प्रश्न—सुख प्राप्त करने के लिये मन यत्न करेगा, क्योंकि सुख को प्राप्त करने और दुःख को दूर करने के लिये यत्न किया जाता है ?

उत्तर—दुःख दूर हो जब होता है जब सुख प्राप्त होता है, क्योंकि दुःख का विरोधी सुख है और विरोधी ही दूर करने वाला होता है इस लिये आत्मा के साथ सम्बन्ध होने पर मन की कोई आवश्यकता नहीं रहती इस लिये काम बन्द होजाता है

प्रश्न—यदि प्राण और मनका कर्म आत्मा के प्रयत्न से है तो जब जीवात्मा की मृत्यु से प्राण और मन शरीर से बाहर निकल कर दूसरे शरीर में प्रवेश करते हैं वहां आत्मा का प्रयत्न न होने से उनका निकलना और प्रवेश करना दोनों असम्भव हैं और जो गर्भ में रहकर काम करते हैं उनका कारण क्या है?

तदनारम्भी आत्मस्थमनसि शरीरस्य दुःखा भावः संयोगः ॥ १६ ॥

अर्थः—अभ्यास वैराग्य द्वारा गन्धादि विषयों में मानस वृत्ति के अभाव से दुःखभाव का नाम योग है अर्थात् जब अभ्यासवैराग्य की दृढ़ता से गन्धादि विषयों में आत्मा की इच्छा का अभाव होजाता है तब इच्छा के आधीन उत्पन्न होने वाले मन के वृत्ति लक्षण कर्म का भी अभाव होता है उसके अभाव से चित्त की ईश्वर के स्वरूप में स्थिति होना ही योग है ।

उत्तर—अपसर्पणमुपसर्पण मशितपीत संयोगाः कायान्तर संयोगाश्चेत्यदृष्ट कारितानि ॥१७॥

अर्थः—जब शरीर के उत्पन्न करने वाले प्रारब्ध कर्म का नाश हो जाता है तो शरीर से प्राण और मन निकलकर दूसरे शरीरमें जाकर उत्पन्न होते हैं वहां प्राण मन का प्रवेश करनाही खाने पीने का कारण होता है वह दूसरे गर्भ और शरीर का कारण होता है । इस संयोग का कारण ही यह सब काम, अदृष्ट अर्थात् किये हुये कर्मों के फल से उत्पन्न होते हैं ।

प्रश्न—अपसर्पण किसको कहते हैं ?

उत्तर—मन और प्राण एक शरीर में से निकलना अपसर्पण कहाता है ।

प्रश्न—उपसर्पण किसको कहते हैं ?

उत्तर—प्राण और मनका जीव के साथ किसी दूसरे शरीर में प्रवेश करना उपसर्पण कहाता है । आशय है, कि शरीर के भीतर रजवीर्य का मिलना, उनका गोला बनना, जीवका प्राण मनके साथ एक शरीर को छोडकर दूसरे शरीर में जाना सबअदृष्ट अर्थात् पूर्व कर्मों के फल से होता है ।

प्रश्न—क्या प्राण और मन जीव से साथ एक शरीर को छोड कर दूसरे के विना नहीं रह सकते ?

उत्तर—मन और प्राण से सम्बन्ध रखने वाला शरीर के विना नहीं रह सकता ।

प्रश्न—यदि दूसरे शरीर का पाना आवश्यकीय है तो मोक्ष किस प्रकार हो सकती है ।

उत्तर—तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः १८

अर्थ—जब तक मिथ्या ज्ञान रहता है तब तक सूक्ष्म शरीर के साथ सम्बन्ध आवश्यकीय है जिससे दूसरे शरीर में जाना भी आवश्यक है। जब मिथ्या ज्ञान का नाश होकर निश्चयात्मक ज्ञान होजाता है तो उससे रागद्वेष नष्ट होजाते हैं और रागद्वेष के नष्ट होजानेसे प्रवृत्तिका नाश होता है जिससे जन्ममरणके अदृष्ट कर्मों का फल ही दूर होजाता है। जब कर्मों का फल अदृष्ट, जो प्राण और मन को शरीर से निकाल कर दूसरे में ले जानेका कारण था, नष्ट होगया तो, फिर शरीरका उत्पन्न होना बन्द हो जाता है, बस, यही मोक्ष है।

प्रश्न—सूत्र में जो अभाव और संयोग का अभाव लिखा है उसका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—विद्यमान शरीर का न रहना तो अभाव का तात्पर्य है और होने वाले शरीर का न उत्पन्न होना यह संयोग के अभावका आशय है। अर्थात् प्राप्त हुए शरीर का पुनः न मिलना ही मोक्ष है।

प्रश्न—यह अवस्था तो सदैव प्रलय के समय भी होती है तो क्या प्रलय में सारे जीव मुक्त हो जाते हैं।

उत्तर—प्रलय में जिन जीवों का उत्पन्न होना बन्द हुआ था वे सृष्टि के आरम्भ में ही जन्म ले लेते हैं, इस लिये बताया, कि जिन का सृष्टि के आरम्भ में भी जन्म न हो।

आगे अन्धकार की परीक्षा करते हैं कि वह द्रव्य है या गुण है।

प्रश्न—अन्धकार एक द्रव्य है, उसमें कर्म पाया जाता है। छाया के चलने का ज्ञान होने से न वहां आत्माका प्रयत्न है और नहीं गुरुत्व है, न द्रवत्व ही है, न प्रेरणा है, न अविघात है और नहीं संस्कार है, तो उस कर्म का क्या कारण है?

द्रव्यगुण कर्म निष्पत्ति वैधर्म्यादभावस्तमः ॥१९॥

उत्तर—द्रव्य गुण और कर्म इन तीनों के गुणों से रहित होने से अन्धेरा केवल प्रकाश का अभाव है, क्योंकि जिस द्रव्य में रूप रहता है उसमें स्पर्श भी होता है। स्पर्श से रहित रूप वाला पदार्थ कोई द्रव्य है ही नहीं। अन्धकार का रूप तो दृष्टिहोता है परन्तु स्पर्श पाया नहीं जाता। इसलिये द्रव्य ही नहीं है।

प्रश्न—हम मानते हैं, कि अन्धकार दसवाँ द्रव्य है ?

उत्तर—नौसे अधिक द्रव्य नहीं हैं, और नील रूप दूसरे के आधार है जो अन्धेरे में पाया जाता है इसलिये द्रव्य नहीं और गुण भी नहीं क्योंकि उसमें कालापन पाया जाता है और गुण में गुण होता ही नहीं।

प्रश्न—फिर छाया के चलने का क्या कारण है ?

उत्तर—तेजसो द्रव्यन्तरेणा वर्णाच्च ॥ २० ॥

अर्थः—प्रकाश पर दूसरे द्रव्य का परदा पड़जाने से दूसरे द्रव्य के चलने पर इस तरह का आवरण अर्थात् परदा आगे २ चला जाता है, जिससे छाया में चलने का भ्रम होता है। इसलिये वह केवल प्रकाश का अभाव ही है वास्तव में कोई द्रव्य नहीं और उसमें चलना भी नहीं, क्योंकि दूसरा चले तो साया चलता हुआ प्रतीत होता है, यदि न चले तो नहीं चलताज्ञात होता, इसलिये चलना किसी मनुष्य वा किसी वस्तु में है छाया में केवल भ्रम होताहै, इस लिये जहां प्रकाश न हो अर्थात् तेज परमाणु स्थूल अवस्था में प्रकाश के योग्य न हों वही अन्धकार कहाता है। इन दो सूत्रों में अन्धेरे का प्रकरण समाप्त हो गया॥

प्रश्न—दिशा, काल और प्रकाश में गति है वा नहीं ?

उत्तर—दिक्कालावाकाशञ्च क्रियावद्वैधर्म्यान्निष्क्रियाणि ॥२१॥

अर्थ—क्रिया एक देश में रहने वाली वस्तु में होती है। परन्तु समय दिशा और आकाश अनन्त है इसलिये उनमें क्रिया गुण नहीं अर्थात् चल फिर नहीं सकते। "च" शब्द से परमात्मा भी अनन्त होने से क्रिया नहीं करते ऐसा ज्ञात होता है।

प्रश्न—जीवात्मा क्रिया करता है वा नहीं ?

उत्तर—जीवात्मा शान्त है इसलिये उसमें क्रिया होना सम्भव नहीं है। जहाँ आत्मा को क्रियासे रहित बतलाया है वहाँ परमात्मा जानना, जहां सक्रिया हो वहाँ जीवात्मा जानना।

प्रश्न—गुण और कर्म में भी क्रिया है वा नहीं ?

उत्तर-एतेन कर्माणि गुणाश्च व्याख्याताः ॥२२॥

अर्थ—जिस प्रकार अनन्त और निराकार होने से आकाश, काल, दिशा और परमात्मा क्रिया से शून्य हैं इसी कारण गुण और और कर्म भी क्रिया से शून्य हैं क्योंकि गुण और कर्म का भी कोई शरीर नहीं, और जिसकी सीमा और शरीर नहीं उसमें गति किस प्रकार हो सकती है ?

प्रश्न—यदि गुण कर्म क्रिया शून्य हैं तो उनका द्रव्य से क्या सम्बन्ध है। संयोग सम्बन्ध है वा समवाय ? सम्बन्ध है तो वह कर्म पर निर्भर है ?

उत्तर-निष्क्रियाणां समवायः कर्मभ्यां निषिद्धः ॥२३॥

अर्थः—जो क्रिया से शून्य गुण कर्म हैं उनका द्रव्य के साथ केवल समवाय सम्बन्ध होता है और वह कर्म से उत्पन्न नहीं होता है क्योंकि उसकी उत्पत्ति ही नहीं संयोग आदि सम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाला सम्बन्धकर्मपर निर्भर है अर्थात् कर्माधीनहै।

प्रश्न—यदि अमूर्त्त होनेसे गुण कर्म समवाय कारण नहीं होते तोगुणों से गुण और कर्म से गुण कैसे उत्पन्न होते हैं क्योंकि समवाय कारण के बिना कार्य उत्पन्न ही नहीं होसकता ?

उत्तर—कारणत्वसमवायिनो गुणाः ॥२४॥

अर्थ—असमवाय कारण होते हैं, न कि समवाय कारण, जिससे कर्म परम्परा आरम्भ हुई। और असमवाय कारण होने का गुण भी तो कार्य के साथ ही मिला रहता है। जैसे आत्मा और मन के संयोग को आत्मा के स्वाभाविक गुण में पाते हैं और कभी संयोग और विभाग को शब्दों में कारण में अर्थ को मिला हुआ पाते हैं-जैसे कपाल (ठिकड़े) का जो रूपहै वही घट के रूप में असमवाय कारण से रहता है।

प्रश्न—समवाय कारण किसे कहते हैं ?

उत्तरजो कार्य के साथ प्रत्येक समय रहता है, कभी कार्य से पृथक् नहीं होता जैसे दो कपालों का मिलाप घड़े का समवाय कारण है।

प्रश्न—असमवाय कारण किसे कहते हैं ?

उत्तर—जिसका कार्य के साथ रहना आवश्यकीय नहीं, उसके अतिरिक्त भी रह सकते हैं। जैसे कपाल घड़ा बनने के बिना भी रह सकते हैं।

प्रश्न—"यहाँ कर्म उत्पन्न होता है" और "अब कर्म उत्पन्न होता है" ऐसा कहने से विदित होता है, कि दिशा और काल भी कर्म का समवाय कारण हैं, उसको आधार क्यों बतलाते हैं।

उत्तर—गुणैर्दिग्व्याख्याता ॥२५॥

अर्थः—जिस प्रकार गुरुत्व आदि गुण कर्म का समवाय कारणनहीं, क्योंकि ये अमूर्त्त हैं इसी प्रकार दिशा भी कर्म का समवाय कारण नहीं, क्योंकि दिशा अमूर्त्त है। और आधार तो वह भी हो सकता है कि जो समवाय कारण न हो। यह नियम नहीं, कि जो समवाय कारण हो वही आधार हो-जैसे कहते हैं कि कुण्ड में बेर हैं, यहाँ कुण्ड बेरों का समवाय कारण नहीं किन्तु आधार है। वन में सिंह का नाद है। यहां भी वन केवल आधार है समवाय कारण नहीं। कूँडे में दही है, घर में आदमी है। ऐसे ही अनेक उदाहरण हैं। यहां केवल आधार ही होता है समवाय कारण नहीं होता। इसी प्रकार दिशा आधार ही है।

प्रश्न—काल तो समवाय कारण है?

उत्तर—कारणे न कालः ॥ २६ ॥

अर्थः—कालभी आधार ही है, उसमें क्रिया नहीं या वह क्रिया का समवाय कारण नहीं, किन्तु निमित्त कारण होने से कर्मों का आधार ही समवाय कारण नहीं।

प्रश्न—जबकि काल से सब कार्य होते हैं तो सारी क्रियाओं का कारण काल है इसलिये उसे समवाय कारण मानना चाहिये?

उत्तर—काल केवल आधार है क्योंकि वह कर्मों में निमित्त है समवाय कारण नहीं हो सकता क्योंकि अमूर्त्त है।

पांचवें अध्याय का दूसरा आन्हिक समाप्त हुआ।

वैशेषिक दर्शन भाषानुवाद

छटा अध्याय

पहिला आन्हिक

इस छटे अध्याय में ऋषि, संसार के मुख्य उद्देश्य की परीक्षा के लिये जो प्रमाण वेद और साधन जो धर्म है, उसको आरम्भ करते हैं, क्योंकि तीसरे सूत्र में कहा था कि तत्व ज्ञान के लिये केवल वेद ही प्रमाण हो सकता है, क्योंकि वह ईश्वर का वाक्य या तत्व ज्ञान के अनुसार मुक्ति के कारण धर्म को बतलाने वाला है।

प्रश्न—वेद के बनाने की ईश्वर को क्या आवश्यकता थी ?

उत्तर—बुद्धिपूर्वावाक्यकृतिर्वेदे ॥ १ ॥

अर्थः—परमात्मा ने जितने मनुष्य के ज्ञान के साधन बनाये हैं, उन सबको हम बुद्धि पूर्वक पाते हैं। यदि उनको सहायता पहुंचाने वाली शक्ति विद्यमान न हो तो वे सब निकम्मे होंगे। जैसे आँख है, वह बिना प्रकाश की सहायता के कुछ भी नहीं कर सकती। ऐसे ही कान बिना आकाश की सहायता के कुछ भी नहीं सुन सकते। इसी प्रकार स्पर्शन शक्ति वायु की सहायता की आवश्यकता रखती है, वायु के बिना वह निकम्मी है। इसी प्रकार मनुष्य की पांचों इन्द्रियां बिना पञ्च भूतों की सहायता के कुछ काम नहीं कर सकती। अब प्रश्न यह है कि जीवात्मा का स्वाभाविक गुण जो बुद्धि है वह अपने काम के लिये दूसरे की सहायता की आवश्यकता रखती है वा नहीं ? जहाँ तक विचार किया जाता है वहां तक यही पता लगता है कि बुद्धि भी सहायता की आवश्यकता रखती है जिस प्रकार प्रकाश की न्यूनाधिकता से आंख की शक्ति घटती बढ़ती है। दीपक के प्रकाश में आंख के देखने की शक्ति जितनी होती है, चन्द्रमा के प्रकाश में उससे अधिक होती है, और सूर्य के प्रकाश में और भी

बढ़ जाती है। यही अवस्था बुद्धि की है कि जिस मनुष्य ने शिक्षा ग्रहण नहीं की उसकी बुद्धि मोटी से मोटी बात को भी समझने में असमर्थ होती है, और जितनी बुद्धि बढ़ती जावेगी उतनी ही समझने की शक्ति भी बढ़ती जावेगी। इससे स्पष्ट विदित होता है कि और इन्द्रियां तो भौतिक होने से भौतिक वस्तुओं की सहायता की आवश्यकता रखती हैं और अभौतिक बुद्धि अपनी सहायता के लिये अभौतिक शिक्षा की आवश्यकता रखती हैं जिस प्रकार इन भौतिक इन्द्रियों के लिये सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा ने उनकी सहायता के लिये उनके सहायक उत्पन्न किये, अर्थात् आँख के लिये सूर्य, इसी प्रकार भीतरी इन्द्रिय के लिये क्या कोई सहायक उत्पन्न न किया होगा। यद्यपि आँख की सहायता के लिये आजकल दीपक आदि भी काम में लाये जाते हैं, परन्तु यदि परमात्मा सूर्य को उत्पन्न न करता तो ये दीपक आदि होते ही नहीं। इसी प्रकार सृष्टि की आदि में यदि परमात्मा जीवों को शिक्षा का सूर्य न देता तो मनुष्य किसी प्रकार भी शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता था। इसलिये परमात्मा ने बुद्धि की सहायता के लिये अर्थात् बुद्धि को सहायता देने वाले वाक्य को वेद में प्रगट किया है जिस से मनुष्यों की बुद्धि की निर्बलता दूर होकर वह अपने काम को कर सकेंगे।

प्रश्न—परमात्मा को शिक्षा देने की क्या आवश्यकता थी, शिक्षा को तो मनुष्य स्वयं ही बढ़ाता जाता है?

उत्तर—या तो अभाव से भाव की उत्पत्ति माननी पड़ेगी, या शिक्षा या ज्ञान का कोई अधिकरण मानना पड़ेगा, क्योंकि जो शिक्षा प्राप्त की जाती है। या तो उसको मनुष्य का स्वाभाविक गुण मानना पड़ेगा या नैमित्तिक। यदि स्वाभाविक मानो तो प्रत्येक मनुष्य में समान माननी पड़ेगी और यदि नैमित्तिक माना जावे तो उसका निमित्त ढूँढना पड़ेगा कि वह यहां से प्राप्त होती है। अभाव से भाव की उत्पत्ति होना सम्भव ही नहीं, इसलिये यह शिक्षा सर्वज्ञ परमात्मा ही की ओर से है। जिस प्रकार आँख के लिये सूर्य मिला है उसी प्रकार

बुद्धि की सहायता के लिये वेदों का प्रकाश हुआ है, क्योंकि ज्ञान का अधिकरण केवल चेतन परमात्मा के और कोई हो ही नहीं सकता इस लिये आरम्भ में उसी ज्ञानाधिकरण से शिक्षा स्रोत वहा ।

प्रश्न—यह क्यों न माना जावे कि मनुष्य ने अपनी बुद्धि से वेदोंको बनाया है इस लिये वेदों की बनावट बुद्धि से हुई है !

उत्तर—यह विचार ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि विना शिक्षा के बुद्धि में शक्ति ही नहीं आती । दूसरे वेदों में उन आत्मिक विद्याओं की चर्चा है जिनको कोई लाख वर्ष तक भीअनुभव करने से विना शिक्षा को प्राप्त नहीं कर सकता, इस लिये योरुप वासी आत्मिक विद्या में निर्बल हैं ।

प्रश्न—यदि वेदोंको बुद्धि का सहायक माना जावे तो मनुष्यकेबनाये ब्राह्मणों में भी ये बातें पाई जाती हैं, इसलिये वेदोंको मनुष्य की बुद्धि के अनुकूल बनना ही माना जावे ?

उत्तर—ब्राह्मणे संज्ञा कर्मसिद्धिलिंगम् ॥ २ ॥

अर्थः—ब्राह्मण ग्रन्थों में कर्म को ठीक २ करनेके लिये उनमें कर्म की विधि और संज्ञा अर्थात् नामोंकाव्यवहार है जो इतिहास होने के कारण मनुष्य की बुद्धिके अनुसार होनेको सिद्ध करता है यदि वेद ईश्वर की ओर से प्रकाशित न होते तो मनुष्य के भीतर इतनी शक्ति कभी नहीं होती कि वह ब्राह्मणों जैसे कर्मकाण्ड के ग्रन्थ और उनके नियमों में कर्म के पूर्ण करने का सारा क्रम नियत कर सकता । इस लिये ब्राह्मण में जो कर्म और नाम के नियम हैं वह वेदों के प्रकाश के लिङ्ग हैं, क्योंकि ब्राह्मणों में सारी बातें प्रत्यक्ष ही नहीं हैं कि जिससे यह अनुमान कियाजावे कि मनुष्योंने अनुभव से ज्ञान करके लिखे होंगे, किन्तु उनमें परोक्ष बातों की भी चर्चा है जो बताता है, कि ब्राह्मण ग्रन्थबनानेवालों ने येबातें प्रत्यक्षजगत् से नहीं लीं बल्के किसी दूसरी जगह से ली हैं, इस लिये उनसे भी वेदों के ईश्वर उपदेश होने का पता लगता है । ब्राह्मण ग्रन्थों का बहुत सा भाग वेदों का व्याख्यान है और बहुत स्थलों पर कर्मकाण्ड में विनियोग करनेवाला है ।

प्रश्न—ब्राह्मण ग्रन्थों में तो दान देने का और यज्ञ करने का बहुत विधान है वह मन घड़त जान पड़ता है, बुद्धिके अनुकूल नहीं

उत्तर—बुद्धिपूर्वो ददाति ॥ ३ ॥

अर्थः—वेदों में जो दान की शिक्षा है वह भी बुद्धि के अनुकूल है। आशय यह है कि जो मनुष्य दान करता है वह बुद्धि के अनुकूल ही करता है क्योंकि जिस प्रकार दान दूसरों को दिया जाता है उसी प्रकार पृथिवी में बीज बोया जाता है। उस बीज में फल लगता हुआ देखकर अनुमान होता है कि दान का कोई फल है। जिस समय बीज बोया जाता है उस समय कोई फल नहीं लगता, नहीं कोई अंकुर निकलता है किन्तु आगे जाकर उत्पन्न होता है। ऐसे ही दान का फल भी आगे होता है। इस लिये ब्राह्मणग्रन्थों ने लिखाथा(परोक्ष प्रियादि देवाः प्रत्यक्ष द्विपः) आशय यह है, कि विद्वान् लोग परोक्षफल वाले कर्म को प्यार करते हैं और प्रत्यक्ष फल से द्वेष करते हैं क्यों कि प्रत्यक्ष फलवाले भोग के सम्बन्ध में कर्म हैं जिनसे विषय का भोग होकर दुःख ही मिलता है इस लिये जिन कर्मोंसे आने वाला दुःख दूर हो वेही विद्वानों के करने योग्य हैं।

प्रश्न—क्या जिन कर्मों को पाप लिखा है या जिस दान का लेना अच्छा माना है और किन्हीं को बुराबतलाया है, यह तो बुद्धि के विरुद्ध है?

उत्तर—तथा प्रतिग्रहः ॥ ४ ॥

अर्थः—जिस प्रकार दान देने वाली श्रुतियां बुद्धि के अनुकूल हैं ऐसे ही दान लेने योग्य अयोग्य बतलाने वाले ब्राह्मण ग्रन्थों का लेख भी ठीक है, क्योंकि बहुत से ऐसे दान हैं जिनके लेने वाले को झगड़े में पड़ना पड़ता है। कुछ जगह दान लेने में आत्महनन करना पड़ताहै। आशय यहहै कि जिसप्रकार दान के देनेमें बुराई भलाई विद्यमान है वैसेही जिससे अच्छा फल हो वह दानदेना, जिससे बुराफल हो वह न देना चाहिये। ऐसे ही दान लेने में भी दोनों प्रकार के फल होसकते हैं, इस लिये बुद्धि से विचार करलेने की आवश्यकता होने से और बिना

शिक्षा के बुद्धि के असम्भव होने से ब्राह्मण ग्रन्थोंमें दान और प्रतिग्रह देने और लेने का जो विचार लिखा है वह बुद्धि के अनुसार है।

प्रश्न--यदि हम मृत पितरों के लिये दान करें तो क्या वह नहीं पहुंचेगा?

उत्तर--किसी के किये का फल दूसरे को नहीं पहुंच सकता। केवल अपने किये कर्मों का फल मिलता है।

प्रश्न--क्यों नहीं मिलता हम तो प्रायः ऐसे सुनते हैं?

उत्तर--आत्मान्तर गुणानामात्मान्तरे कारणत्वात् ५.

अर्थः--दूसरी आत्मा के गुण पाप पुण्य आदि दूसरी आत्मा के लिये सुख दुःख का कारण नहीं होसकते, क्योंकि एक मनुष्य ने पाप किया है यदि उस से दूसरा मुक्त जीव बन्ध जावे और एक मुक्त जीव के ज्ञान से दूसरा बँधा हुआ मुक्त होजावे तो सारी कर्म परम्परा अस्तव्यस्त होजावे, और जिसने पाप नहीं किया उसे दण्ड मिल जावे और जिसने पाप किया हो वह छूट जावे। इससे सारे नियम भङ्ग होजावेंगे। इसलिये प्रत्येक मनुष्य अपने २ कर्मों का ही फल पाता है। यदि यह विचार लिया जावे कि कर्मों का फल किस प्रकार मिलता है तो कुछ सन्देह ही उत्पन्न नहीं होता मनुष्य जो कर्म करता है उससे दो अंकुर उत्पन्न होते हैं एक संस्कार दूसरा भोग। उस कर्मके संस्कार जो मन में होता है उसके भोग के समय वैसी ही बुद्धि होकर दुःख सुख अनुभव करता है। उसका संस्कार दूसरे जीव के अन्तःकरण में हो नहीं सकता। इस लिये वह उसके फल को भोग ही नहीं सकता, क्योंकि भोग बुद्धि है जिस वस्तु को मनुष्य अपने अनुकूल समझता है उस से सुख मानता है, जिस को विरुद्ध समझता है उससे दुःख मानता है। अब यह अनुकूल वा प्रतिकूल समझना संस्काराधीन है। कोई वस्तु जीवात्मा को सुख दुःख देने वाली नहीं, कि जिससे दूसरे को भोग मिल सके।

प्रश्न--भूख आदि तो प्रत्यक्ष में दुःख प्रतीत होती हैं। इसीलिये एक कवि ने कहा भी है कि (भूख बहुत बड़ा दुःख है)?

उत्तर—यद्यपि किसी कवि ने कहा हो परन्तु भूख दुःख नहीं, क्योंकि भूख यदि दुःख होती तो जिस आदमी को भूख कम होजाती हैं तो वह उसके बढ़ाने के लिये यत्न करता हुआ न देखा जाता, परन्तु प्रायः देखा जाता है इसलिये भूख न दुःख है न सुख जिसके पास खाने को हो उसे सुख प्रतीत होता है जिस के खाने को नहीं उसे दुःख प्रतीत होता है। इस लिये भूख की आवश्यक्ता का होना न होना ही दुख सुख का कारण है।

प्रश्न—यदि यह मानलिया जावे, कि एक के किये का फल दूसरे को नहीं मिलता तो पुत्रेष्टि यज्ञ करने से पुत्र का गुण वाला होना और पितृयज्ञ करने से पितरों का तृप्त होना जो वैदिक नियम है, झूँठ हो जावे ?

उत्तर—पुत्रेष्टि कर्म से पुत्र उत्पन्न होता है। उस का गुण वाला व निर्गुण होना उसके पूर्व कर्मों का फल हैं। और पितृयज्ञ में जो पुत्र पिता को तृप्त करता है वह पिता के पूर्व कर्मों के बदलेमें करता है जिसका नाम पितृऋण है। जो बाल्यावस्था में पालन पोषण करने से होता है, इसलिये उनका अपना ही कर्म है दूसरे का नहीं।

प्रश्न—यदि हम दान करें तो उस का फल अवश्य होगा चाहे किसी को दें ?

उत्तर—तद्दुष्ट भोजने न विद्यते ॥ ६ ॥

अर्थः—अच्छे मनुष्यों को दान से फल मिलता है परन्तु दुष्टों को खिलाने से दान का फल नहीं मिलता। जिस प्रकार अच्छी धरती में वृक्ष बोने से उत्पन्न होता है परन्तु ऊपर में बोने से बीज व्यर्थ जाता है। इसी लिये कहा है, कि बुद्धि के अनुसार दान करना चाहिये। जहां से फल प्राप्त होने की आशा न हो वहां बोना ठीक नहीं। इसीलिये अतिथि यज्ञ और ऋषितर्पण के समय धर्मात्मा और विद्वानों के स्थान में पापी और मूर्खों को खिलाने से ऋषितर्पण का फल नहीं मिलता, क्योंकि जिस वृक्ष का बीज जिस पृथिवी में बोया जाता है यदि वह पृथिवी उस योग्य न हो तो फल नहीं

आ सकता। इसलिये जो पुरुष पुण्य करने वाले नहीं उनको दान देने से पुण्य का फल मिलना असम्भव है।

प्रश्न—दुष्ट किसे कहते हैं? क्या जिसके खिलाने से पुण्य नहीं होता?

उत्तर—दुष्टं हिंसायाम् ॥ ७ ॥

अर्थः—दुष्ट उसे कहते हैं जो हिन्सा करने वाला हो। यहां हिन्सा का अर्थ वेद विरुद्ध कर्मों का उपलक्षण मात्र है। आशय यह है, कि लोग वेद के विरुद्ध कर्म करते हैं उनको दान देने या भोजन कराने से दान का फल नहीं मिलता। जिस प्रकार ऊपर भूमि में बोने से बीज भी नष्ट हो जाता है, इसलिये बुद्धि के अनुसार दान करना चाहिये, वरन् निष्फल कर्म के करने से हानि के अतिरिक्त लाभ कुछ नहीं होसकता।

प्रश्न—यदि दुष्ट मनुष्य को खिलाने से पुण्य नहीं होता तो पाप भी नहीं, इसलिये सबको विना सोचे खिलाना चाहिये?

उत्तर—तस्य समभिव्याहारतो दोषः ॥ ८ ॥

अर्थः—हिन्सा करने वाले वा पाप करने वाले पुरुष को खिलाने से तो पाप ही है, किन्तु उसके साथ व्यवहार करने से भी दोष है अर्थात् उसके हाथ का खाने से, उसके साथ एक पंक्ति में बैठकर खाने से, साथ सोने से भी पाप है। इसकी व्याख्या मनुस्मृति में भले प्रकार की गई है। इसलिये बुद्धि पूर्वक दान देना चाहिये और प्रत्येक काम में जांच करके व्यवहार करना चाहिये। विना बुद्धि से विचारे किसी से सम्बन्ध उत्पन्न कर लेने में बड़ी ही हानि है। इसलिये जब तक परमात्मा के दिये वेदों की आज्ञा से ज्ञान प्राप्त करके कर्म न किया जावेगा, तब तक बहुत प्रकार की हानि होना सम्भव है।

प्रश्न—यह दोष तो सबके साथ व्यवहार करने से होता है। इसलिये किसी के साथ खाना और सोना आदि व्यवहार नहीं करना चाहिये।

उत्तर—तददुष्टे न विद्यते ॥ ९ ॥

अर्थः—जो लोग शास्त्र की आज्ञा के अनुकूल कार्य करने वाले हैं उनके साथ व्यवहार करने से कोई हानि नहीं। आशय यह है

कि कुसंग से पाप होता है, अच्छे संग से पाप नहीं होता। पापी मनुष्य के साथ भोजन करने, काम में लगने और अन्य व्यवहार में दोष अवश्य लगता है। ऐसे को दान देने से पुण्य के स्थान में पाप होता है।

प्रश्न—फिर कैसे मनुष्यों को दान देना चाहिये ?

उत्तर—पुनर्विशिष्टे प्रवृत्तिः ॥ १० ॥

अर्थः—जो उत्तम गुण वाले हैं उनको दान देना, भोजन कराया जाना और उनका संग करना चाहिये, क्योंकि जिसकी उपासना की जाती है उसके गुण हममें आते हैं, इसलिये अपने बड़े पिता, दादा, गुरु, आचार्य, अतिथि और विद्वान् ही इस योग्य हैं कि उनकी सेवा की जावे, और उनके संग से लाभ उठाया जावे। यदि हमारे पास कोई वस्तु हो और उसको किसी को देने का भी विचार हो यदि वह दुष्ट हो तो त्याग देना ही चाहिये नहीं तो उससे अधिक विद्वान् मनुष्य मिले तो उस योग्य मनुष्य को ही देना चाहिये, जिसको देने का विचार हो उसको नहीं देना चाहिये क्योंकि प्रत्येक मनुष्य का स्वभाव ही यह है, कि वह उन्नति का इच्छुक है। इसलिये जैसे अच्छा लेने वाला मिलेगा वैसा ही अधिक फल मिलेगा जैसे कोई मनुष्य किसी पृथिवी में बोना चाहता है परन्तु उसको उससे अच्छी पृथिवी मिलजावे तो उसी में बोयेगा।

समे हीने वा प्रवृत्तिः ॥ ११ ॥

अर्थः—श्रेष्ठ गुणों वाला न मिल सके तो दान देना बन्द न करे किन्तु अपने बराबर गुण वाले पुरुष को दान दे, यदि वह पापी न हो तो। यदि अपनी बराबर का भी न मिले तो अपने से न्यून गुणों वाले शुद्ध आचारी पुरुष को दान दे क्योंकि न देने से देना अच्छा है। केवल पापी को देना बुरा है। यदि पापी न हो तो कर्म विद्या वाले को भी विद्वान् न मिले तो दान दे दे। दान की रीति बन्द न करना चाहिये। केवल पापीको देना वा उससे लेना वा अन्य व्यवहार न करे।

एतेन हीनसम विशिष्ट धार्मिकेभ्यः परस्वादानं व्याख्यातम् ॥ १२ ॥

अर्थः—जिस प्रकार अपने से निर्बल अर्थात् कम गुण वाले और बराबर गुण वाले और बड़े गुण वाले धर्मात्माओं को दान देना बतलाया गया है इसी प्रकार दान लेते समय पर भी ध्यान रखना चाहिये । आशय यह है, कि दुष्टों से दान नहीं लेना चाहिये क्योंकि वे अधर्म से कमाते हैं। कुछ मनुष्य दूसरे से अर्थात् दान लेने के स्थान में चोरी आदि से लेना बताते हैं सो ठीक नहीं। क्योंकि विषय केवल वेदोक्त विधि अर्थात् जिसका करना वेद ने बतलाया है और जिसका न करना बतलाया है वह भी केवल दान देने और लेने के सम्बन्ध में है, इसलिये यहां किसी शब्द से चोरी आदि का लेना ठीक नहीं इसी जगह पर वे एक श्रुति प्रस्तुत करते हैं कि जिस का अर्थ यह करते हैं, कि यदि सात दिनतक खानेको न मिले तो शूद्र के घर से चुराकर खा लेने से भी पाप नहीं। यदि दस दिन तक भोजन न मिले तो वैश्य के घर से चुराना उचित है यदि १५ दिन तक न मिले तो क्षत्रिय के घरमें चोरी करे। यदि जीवन जाने का भय होतो ब्राह्मण के घर से चोरी करे। यद्यपि यह श्रुति हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुई तथापि यह आपद्धर्म वालों के लिये आसकती है।

प्रश्न—क्या धार्मिकों को ही दान देना चाहिये और उनसे ही लेना चाहिये ? धर्म विरोधियों से दान लेना देना नहीं चाहिये ?

उत्तर—तथा विरुद्धानां त्यागः ॥१३॥

अर्थः—जो मनुष्य धर्म के विरोधी हैं उनसे कदापि दान लेने देने का व्यवहार नहीं करना चाहिये क्योंकि उनसे व्यवहार करने में दोष पूर्वही बतला चुके हैं। कुछ लोग इस सूत्रका यहअर्थकरते हैं कि जब मनुष्य क्षुधा से मरता हो, जिसका उल्लेख पीछे आचुका है और वह किसी के घर में चोरी करने जावे, उस समय जो उस को चोरी करने से रोके तो उस रोकने वाले को मार देने में भी पाप नहीं होता, परन्तु यह अर्थ यथार्थ नहीं हैं क्योंकि वेदों में किसीका स्वत्व लेना पाप बताया है, और जो अपने स्वत्व की रक्षा करता है उसको बिना किसी दोष के अपने स्वार्थ के लिये मार डालना अवैदिक कर्म है। जो किसी प्रकार भी निर्दोष नहीं हो सकता। इसलिये यह

अर्थ ठीक है कि जो मनुष्य धर्म के विरुद्ध हो उनका दान देना और उनसे दान लेना त्याग दे ।

प्रश्न---यदि एक मनुष्य के खाने योग्य भोजन बना हो तो उस समय जो दूसरा आ जावे तो क्या करे ?

उत्तर—हीने परेत्यागः ॥१४॥

अर्थः---जब ऐसी अवस्था हो कि एक मनुष्य की जान भोजन से बचती हो तो उस समय बुद्धि से विचार लेना चाहिये कि दो में से कौन संसार के लिये अधिक उपकार करने वाला है, कौन ईश्वर की आज्ञाओं का ठीक २ पालन करने वाला है, यदि यह निश्चय हो जावे कि जो दूसरा आया है, वह संसार का उपकार करने और धर्म के कार्यों में हीन है तो उसको न देकर स्वयं खाले, क्योंकि जीवन दूसरों की भलाई के लिये है । जिससे संसार को अधिक लाभ पहुंचे उसका जीवित रहना अच्छा है । शङ्कर मिश्र ने इस सूत्र का यह अर्थ किया है कि यदि भूख से मरता हुआ मनुष्य दूसरे के घर पर चोरी करने जावे और घरवाला उसे चोरी करने से रोके और वह गुण कर्म में अपने से न्यून हो तो उसे मार-डालना चाहिये । ये अर्थ वैदिक सिद्धान्तों के नितान्त विरुद्ध है ?

प्रश्न—यदि आने वाला अतिथि गुणों में बराबर हो और उपकारी भी समान ही हो और भोजन एकही के लिये हो तो क्या करे ?

उत्तर—समेआत्मात्यागः परत्यागो वा ॥ १५ ॥

अर्थः—यदि दोनों धर्म और उपकार में बराबर हों तो चाहे स्वयं न खाय चाहे स्वयं खाले अर्थात् चाहे स्वयं खाय वा अतिथि को खिलादे । इस अवस्था में दोनों से उपकार एक ही सा होगा । इसमें अपने को छोड़कर दूसरे को दे देना उत्तमपक्ष है और स्वयं खा लेना मध्यम पक्ष है ।

प्रश्न—यदि दूसरा अपने से धर्मात्मा और परोपकारी अधिक हो तो क्या करे ?

उत्तर—विशिष्टे आत्मत्याग इति ॥ १६ ॥

अर्थः—यदि दूसरा अपने से अधिक धर्मात्मा हो तो उसकी रक्षा करना और अपने को छोड़ देना ही अच्छा है। उस अवस्था में अपनी रक्षा करना पाप है, क्योंकि उससे संसार में अधिक उपकार होना सम्भव है। इस सूत्र का तात्पर्य यहांपर लगता है कि जहां दोनों बराबर के विद्वान् मृत्यु के संकट में पड़े हों और उनमें से एक का बचना सम्भव हो तो किसको बचाना चाहिये तो उत्तर ऊपर लिखा हुआ है। आशय यह है कि वेदों में जो कुछ लिखा है सब बुद्धि पूर्वक करने के लिये है।

छठे अध्याय का पहिला आन्हिक समाप्त हुआ।

वैशिषिक दर्शन भाषानुवाद

छटा अध्याय

आन्हिक दूसरा

प्रश्न--बहुत ऐसे कर्म हैं कि जिनका फल संसारमें दृष्टिगत नहीं होता

उत्तर--दृष्टादृष्ट प्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोजन मभ्युद-याय ॥ १ ॥

अर्थ--दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष फल वाला कर्म जैसे खेती, व्यवहार और नौकरी आदि और अदृष्ट अर्थात् जिसका फल संसारमें दृष्टि गत नहीं होता है। जिस कर्म का फल प्रत्यक्षमें नहीं मिलता वह तत्वज्ञानके प्राप्त करनेके लिये है। वेदमें निष्काम करनेके लिये आज्ञा दी है और उस कर्मका फल संसारमें दृष्टिगत नहीं होता जिस पर निर्बुद्धि मनुष्यों को सन्देह होता है कि यह कर्म निष्फल गया। ऋषि इस भ्रमको दूर करतेहैं कि निष्काम कर्म अन्तःकरण की शुद्धि के द्वारा तत्वज्ञान के लिये किया जाता है दृष्टफल न होनेसे वह कर्म निष्फल नहीं जाता किन्तु उससे अन्तःकरण का मल दूर होता है। दृष्ट कर्म से तात्पर्य इसी जन्म में भोगने योग्य कर्म से है जिसको भोक्तव्य कहते हैं और अदृष्ट से आशय उन कर्मों से है जो आने वाले दुःखों से बचने के लिये जाते हैं जिनका नाम कर्मतत्व या धर्म है।

प्रश्न--जिन कर्मों का फल इस समय न हो उसके आगे फल देने का क्या प्रमाण है?

उत्तर--जो कर्म इस दुनिया के भोग के लिये किये गये उनके भी दो भेद हैं। एक वह जिसका फल तत्काल होता है जैसे खाना पीना आदि दूसरे वह जिसका फल आगे होता है जैसे बोना

बढ़ेगा आदि। जैसे आज बोकर महीनों उपरान्त उठाते हैं वर्षों के उपरान्त फल खाते हैं। यह दृष्टान्त देव ने कर्मों का फल आगे होने के प्रमाण में प्रस्तुत कर दिया है। यदि कोई मनुष्य यह विचार करले कि कर्मों का फल आगे को नहीं होता, केवल वर्त्तमान में ही होता है, तो खेती भी न बोये, वाटिका कभी न लगाये।

प्रश्न—वाटिका और खेती का फल तो प्रत्यक्ष बोने से काटते हुए देखते हैं परन्तु अदृष्ट कर्मों का फल तो किसी को नहीं दीखता?

उत्तर—जिस प्रकार खेती बोने वाला फल उठाता हुआ देखा जाता है ऐसे ही पूर्व कर्मों का फल मिलता हुआ भी देखा जाता है एक जीव राजा के घर उत्पन्न होता है और सारी सामग्री विना कमाये प्राप्त कर लेता है। दूसरा ऋण चुकाता रहता है। इस से स्पष्ट विदित है कि जिसने पूर्व जन्म में अच्छे कर्म किये हैं अर्थात् बोया है उसको फल पका पकाया मिलता है जिसने नहीं किये उसको नहीं मिलता।

प्रश्न—आगे के लिये फल उत्पन्न करने वाले कौन से कर्म हैं?

उतर—अभिषेचनोपवास ब्रह्मचर्य गुरुकुलवास यज्ञ दान मोक्षणदिङ् नक्षत्र मन्त्र काल नियमाश्चादृष्टाय॥ २॥

अर्थः—निम्न लिखित कर्म्म अदृष्ट फल अर्थात् मोक्ष और आगामी जीवन में सुख देने वाले हैं। पहिले अन्तःकरण की शुद्धि का प्रबन्ध करना जिसको स्नान कहते हैं। कुछ मनुष्य स्नान का तात्पर्य केवल जलसे शरीर को पवित्र करना ही समझते हैं, परन्तु इतना ही नहीं प्रत्युत शुद्धि के लिये ऐसे स्नानकी आवश्यकता है जिसको महात्मा श्रीकृष्णजी ने अर्जुन को बतलाया था। आत्मा रूपी नदी है संयम और पुण्य के घाट हैं, सत्य का जल भरा है शील के तट हैं और दया की लहरें उठ रहीं हैं हे अर्जुन! तू ऐसी नदी में स्नान कर। केवल जल से आत्मा शुद्ध नहीं हो सकता। व्रत करना अर्थात् कृच्छ्र चान्द्रायण आदि ब्रह्मचारी होना गुरुकुल में शिक्षा प्राप्ति के लिये वास करना वानप्रस्थाश्रम का यथा मन्त्र से पालनकरना,

दान करना प्रमोक्ष अर्थात यज्ञ में विधिवत् सामग्री डालना, और सन्ध्या आदि में दिशा और नक्षत्र और समय के नियमों का यथावत् पालन करना ।

प्रश्न—ब्रह्मचारी बनने से तो शरीर पुष्ट होता है और ज्ञान की प्राप्ति होती है इसलिये वह दृष्ट कर्म है ?

उत्तर—यद्यपि ब्रह्मचारी होने का कुछ फल यहां भी मिलता है परन्तु विद्याफल नहीं है किन्तु कर्मों का साधन है या उद्देश प्राप्ति में सहायक है, इसलिये इस व्रत का मुख्य फल आगे ही मिलेगा । कर्म के दो फल होते हैं एक संस्कार दूसरे भोग । यह केवल संस्कार है । भोग इस समय नहीं मिलता । इस ही प्रकार और कर्मों को भी विचार लेना चाहिये ।

प्रश्न—नक्षत्र के नियम से क्या तात्पर्य है ? वह किस प्रकार से फलों देने वाला है ?

उत्तर—प्रातःकाल की सन्ध्या तारों की विद्यमानता में करे और सायं संध्या सूर्य के होने पर । इस प्रकार के जो कर्मकाण्ड के नियम हैं उनका पालन करे ।

प्रश्न—क्या शुभ कर्मों का ही अदृष्ट फल होता है या अशुभ कर्मों का भी यदि बुरे कर्मों का भी अदृष्ट फल है तो वे कौन से हैं ?

उत्तर—चातुराश्रम्यमुपधा अनुपधाश्च ॥ २ ॥

अर्थः—अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के कर्मों का अदृष्ट फल होता है । परन्तु उनमें अधिकतर विचारों पर भी ध्यान देना चाहिये क्योंकि यदि शुद्ध इच्छा से एक कार्य किया जावे और उसका परिणाम बुरा हो तो उससे बुरा अदृष्ट उत्पन्न नहीं होगा । जैसे एक वैद्य किसी के फोड़े को चीरता है, किसी प्रकार की न्यूनता हो जाने से रोगी मरजाता है तो उस अवस्था में वैद्य दोषी नहीं होगा और नहीं अगले जन्ममें उसको उसका बुरा फल मिलेगा यद्यपि मरने वाला उसके अस्त्र से मरा है । आशय यह है कि चारों आश्रमों के कर्म श्रद्धा से करने से उत्तम फल मिलता है उसके विरुद्ध करनेसे बुरा फल मिलता है परन्तु यह दोनों कर्म श्रद्धा की न्यूनाधिकता से भिन्न २ फल उत्पन्न करते हैं ।

प्रश्न—इस सूत्र में उपधा शब्द जिसके अर्थ अश्रद्धा के लिये गये उसका क्या आशय है।

उत्तर—यहां उपधा शब्द से कुल अधर्मों के साधनों का लेना ऋषि का अभिप्रेत है। उसका विवरण अगले सूत्र में ऋषि स्वयं करेंगे।

भावदोष उपधादोषोऽनुपधाः ॥ ४ ॥

अर्थः—इस सूत्र में ऋषि उपधा का लक्षण करते हैं। भाव में जो दोष हैं उसको उपधा कहते हैं। जैसे राग, द्वेष, प्रमाद, अश्रद्धा, अहङ्कार, अभिमान और निन्दा आदि। ये मन के दोष हैं, जो उपधा नाम से कहे जाते हैं। और उसके विरुद्ध जो कर्म करने योग्य हैं और जो गुण ग्रहण करने के योग्य हैं जैसे ज्ञान, वैराग्य, सत्संग श्रद्धा, संयम, प्रेम गाम्भीर्य या मनु महाराज के बतलाये। दश लक्षण ये अनुपधा शब्द से ग्रहण किये जाते हैं। ये दोनों प्रकार के गुण और कर्म धर्म और अधर्म के कारण होते हैं।

प्रश्न—जो शुद्धि बतलाई गई है उससे क्या तात्पर्य है? उसकी पहचान किसप्रकार हो सकती है?

उत्तर—यदिष्टरूपरसगन्धस्पर्शं प्रोक्षित मभ्युक्षितञ्च तच्छुचिः ५

अर्थः—जो रूप, रस, स्पर्श और गन्ध श्रुति वेद और स्मृति धर्म शास्त्र ने लाभ दायक बतलाये हैं वे शुद्ध हैं। जैसे जो धन न्याय से कमाया जाता है वह पवित्र है। जो वेद मंत्रों में बतलाये हुए नियम के साथ पवित्र किया जाता है वह शुद्धि है। जिस प्रकार बतलाया गया है कि ब्राह्मण यज्ञ कराने और विद्या पढ़ाकर गुरु दक्षिणा लेने से धन प्राप्त करे यह धन पवित्र है। इसके विरुद्ध कमाया हुआ धन अपवित्र है इसी प्रकार क्षत्री जो प्रजा की रक्षा करके धन प्राप्त करता है वह धन पवित्र है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु वेद के अनुसार शुद्धि कहलाती है।

प्रश्न—अशुद्ध किसे कहते हैं।

उत्तर—अशुचीति शुचीप्रतिषेधः ॥ ६ ॥

अर्थः—जो शुद्ध द्रव्य है उसके विरुद्ध अशुद्ध है अर्थात् वेद शास्त्र ने जैसा लिखा है उसके प्रतिकूल को अशुद्ध मानना चाहिये। अर्थात् ब्राह्मण जो धन व्यापार द्वारा प्राप्त करते हैं वह अशुचि होगा।

प्रश्न—क्या इसके अतिरिक्त और किसी प्रकार से अपवित्र नहीं होगा

उत्तर—अर्थान्तरञ्च ॥ ७ ॥

अर्थः—यदि सत्यता से कमाया हुआ धन है तो भी भाव दुष्ट होने से जो दान है वह भी अशुचि है। इसी प्रकार जल का दोष भी अशुद्ध कर देता है। इस प्रकार दान लेने देने में दोष का होना स्पष्ट है।

प्रश्न—क्या उपरोक्त बातों के अतिरिक्त धर्म का कोई और भी कारण है?

उत्तर—अयतस्य शुचिभोजनादभ्युदयोनविद्यते नियमाभावात् विद्यते वार्थान्तरत्वाद्यमस्य ॥ ८ ॥

अर्थः—जो मनुष्य यम से रहित है अर्थात् हिंसक है, असत्य वादी है पर धन का हरने वाला, व्यभिचारी, अभिमानी, इन्द्रियो के विषयों में फंसा हुआ है ऐसे मनुष्य के खिलाने से धर्म नहीं होता किन्तु पाप होता है क्योंकि ऐसा करनेवालों से जितने पाप होते हैं उनका भाग उनके सहायकों परभी पड़ता है। संयमी को खिलाने से धर्म का साधन होता है। आशय यह है कि चाहे पुण्य न करता हो उसको भोजन करावे, परन्तु पापी को कभी न खिलावे।

प्रश्न—क्या केवल यम ही फलदायक है, शुद्ध भोजन फलदायक नहीं है?

उत्तर—असति चाभावात् ॥ ९ ॥

अर्थ—यदि जिसको खिलाया जावे या खिलानेवाला यम से युक्त हो परन्तु जो दान दिया हो वह श्रद्धा युक्त न होने से अशुद्ध हो तब भी वह धर्म अर्थात् मोक्ष का साधन नहीं इसलिये जो

दान दिया जावे उसका सत्यता से कमाया हुआ होना और सुकर्मी को दान देना ही धर्म के लिये कहाता है। यहां दान और भोजन सब अच्छेकर्मोंके लिये कहतेहैं अर्थात् यह सत्यता से कमाया हुआ धन ही दान देने और लेने योग्य है।

प्रश्न—प्रवृतिके सहायक जो रागद्वेषादि दोष हैं उनका कारण क्याहै?

उत्तर—सुखाद्रागः ॥ १० ॥

अर्थः—चन्दन आदि की सुगन्ध लगाने, या सुन्दर वस्तु के देखने, अच्छे रस के खाने, सुन्दर रागके सुनने आदि से सुख प्रतीत होता है उससे उस प्रकार की वस्तुओं में सुख या सुख का कारण समझने से राग उत्पन्न होता है। इस प्रकार जिन बुरी वस्तुओं से दुःख मिलता है. जैसे सर्प और कांटे आदि में द्वेष उत्पन्न होता है और द्वेष मोह प्रवृत्ति के कारण होने से दोष कहाते हैं। महात्मा गौतम जीने दोष का यही लक्षण किया है कि जो काम में लगानेवाला हो।

प्रश्न—यदि दुःख सुख से ही राग द्वेष उत्पन्न होते हैं तो उनके नाश से वे कैसे रहते हैं?

उत्तर—तन्मयत्वाच्च ॥ ११ ॥

अर्थः—राग द्वेष से उत्पन्न होने वाले द्वेषों का दृढ़ संस्कार मन में उत्पन्न होता है जिसके कारण जो काम में फंसा हुआ मनुष्य है उसको सारा संसार, स्त्री न होने पर भी, स्त्री ही दीख पड़ता है, या जिस किसी को सर्प का संस्कार उत्पन्न हो गया है तो अन्धेरे में हर जगह साँप भूत ही दीख पड़ते हैं, ऐसी अवस्था को तन्मय कहते हैं।

प्रश्न—इसका कोई और भी कारण है?

उत्तर—अदृष्टाच्च ॥ १२ ॥

अर्थः—अदृष्टसे भी दोष उत्पन्न होते हैं। यद्यपि सामान्यतया अदृष्ट एक साधारण कारण है परन्तु प्रायः अदृष्ट साधारण कारण भी होजाता है। जिस प्रकार पूर्वजन्म में जिसने स्त्री के विषयों को अनुभव किया है उनको युवावस्था में स्त्रियों से प्रेम उत्पन्न होजाता है, और जिसने पूर्व जन्म में सर्प से कष्ट पाया है उसको इस जन्म में सर्प से द्वेष उत्पन्न होजाता है।

प्रश्न—इस जन्म ही के होने वाले संस्कार से राग होता है पूर्व जन्म की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—इस जगह होने वाला संस्कार कारण नहीं होसकता। जो हुआ नहीं उसको कारण मानने में कोई प्रमाण नहीं। इस लिये अदृष्ट से मानना ठीक है। उस राग द्वेष का और भी कारण बताते हैं।

जाति विशेषाच्च १३

अर्थः—जाति विशेष का भी जाति विशेष से राग और द्वेष होताहै। मनुष्य अन्न की इच्छा रखते हैं। पशु हरी घास को ही अच्छा समझते हैं, कर्म जाति के पशु कांटों को खाना ही अच्छा समझते हैं। इसमें उस जाति का पिछले जन्म के कर्म से उत्पन्न हुआ अदृष्ट ही कारण है। जाति तो केवल एक द्वार है। इसी प्रकार भैंस, ऊँट और घोडे से द्वेष होता है न्योले का साँप से द्वेष होता है। इसी प्रकार और भी जातियों में विचार से ज्ञात कर सकते हैं।

प्रश्न—धर्म और अधर्म का क्या कारण है ?

उत्तर—इच्छाद्वेषपूर्विका धर्माधर्म प्रवृत्तिः॥ १४ ॥

अर्थः—प्राप्त करने में राग से प्रवृत्ति होती है, हिंसा आदि के दुष्कर्मों में द्वेष से प्रवृत्ति होती है। राग अर्थात् इच्छा के कारण यज्ञदान और परोपकार के कामों में जो प्रवृत्ति होती है यह धर्म को उत्पन्न करती है। और द्वेष से हिंसा आदि दुष्ट कर्मों की प्रवृत्ति अधर्म को उत्पन्न करती है। राग द्वेष ही सारे संसार को चला रहे हैं इसीलिये महात्मा गौतम जी ने न्यायदर्शन में प्रवृत्ति का यह लक्षण किया है। जो वाणी, मन और शरीर से काम करता है उसका नाम प्रवृत्ति है। जो वाणी से काम किया जाता है उसका नाम वाचक प्रवृत्ति जैसे सत्य बोलना, मीठा बोलना दूसरों के भले के लिये बोलना पुण्य का कारण है और झूँठ बोलना, कड़वा बोलना और दूसरों को हानि पहुंचानेवाली बात बोलना पाप कहाती है।

प्रश्न—धर्म अधर्म से उत्पन्न होता है ?

उत्तर—तत् संयोगो विभागः ॥ १५ ॥

अर्थ—धर्म अधर्म से संयोग अर्थात् आत्मा का शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरण के साथ सम्बन्ध होता है जिसको जन्म कहतेहैं। विभाग अर्थात शरीर का इन्द्रियों से पृथक् होना जिसको मृत्यु कहते हैं। इसलिये यह जन्म और मृत्यु का जो चक्र है उसी का नाम संसार है इसको प्रेत्यभाव भी कहते हैं अर्थात् मरना और जीना। इस मरने जीने का कारण धर्माधर्म है। धर्माधर्म न हो तो यह चक्र चलही नहीं सकता। धर्माधर्म का कारण रागद्वेष है और उनका कारण मिथ्या ज्ञान है।

प्रश्न—इस प्रेत्य भाव का कभी नाश होता है वा नहीं?

उत्तर—आत्मकर्मसु मोक्षो व्याख्यातः ॥ १६ ॥

अर्थः—जब आत्मा में स्वरूप और परमात्मा का ज्ञान होता है तो उस समय शरीर और मन का जो जीवात्मा से पृथक् होना है उससे मोक्ष हो जाता है। आत्मा को जानने का साधन क्या है? पहिले मनको शुद्ध करने के लिये कर्म काण्ड और उपासना काण्ड नियम के अनुसार करना। अष्टाँग योग भी मुख्य साधन है। जब निर्मल मन से तत्व ज्ञान हो जावेगा तो मिथ्या ज्ञान का नाश हो जावेगा। जिस प्रकार प्रकाश से अन्धकार का नाश होजाता है। मिथ्या ज्ञान से राग द्वेष का नाश होगा। इसी प्रकार आगे की प्रवृत्ति का नाश होने से मुक्ति हो जाती है।

छठा अध्याय समाप्त हुआ।

वैशेषिक दर्शन भाषानुवाद

सातवां अध्याय

आन्हिक पहिला

पिछले अध्याय में संसार सागर से तरने और बन्धन में फंसने के कारण धर्म अधर्म की परीक्षा को बतला कर अब महर्षि कणादजी गुणों की परीक्षा करते हैं क्योंकि पिछले अध्यायों में गुण का उद्देश हो चुका है, विभाग भी हो चुके हैं, लक्षण भी बता चुके हैं । इस अध्याय में परीक्षा करते हैं । अतः लिखते हैं कि—

उक्ता गुणाः ॥ १ ॥

अर्थः—रूप आदि २४ गुणों को पहिले बतलाचुके हैं, जिनमें १७ तो ऋषि ने अपनी जिह्वा से कहे हैं और शेष ७ चकार शब्द से जो आदि आदि के कर्म में हैं, जाने जाते हैं।

प्रश्न—परीक्षा उस वस्तुकी की जाती है जिसमें सन्देह हो । गुण के होने में कोई सन्देह नहीं उसकी परीक्षा क्यों की जावे ?

उत्तर—गुणों के सद्भाव में कोई सन्देह नहीं किन्तु उनके नित्य वा अनित्य होने में तो सन्देह है, इसलिये परीक्षा करना आवश्यकीय है ।

प्रश्न—गुण के नित्य वा अनित्य होने की ही परीक्षा होगी वा और किसी प्रकार की भी ?

उत्तर-नित्य, अनित्य, पाकज, संख्या और परिमाण इन पाँच प्रकार के गुणों की परीक्षा इस पहले आन्हिक में होगी।

प्रश्न—रूप आदि गुण नित्य हैं वा अनित्य ?

उत्तर—पृथिव्यादि रूपरसगन्ध स्पर्शा द्रव्या. नित्यत्वाद नित्याश्च ॥ २ ॥

अथ—पृथिवी, जल, अग्नि और वायु जो कि परमाणुओं से मिल कर बनते हैं उनके गुण, गन्ध, रस, रूप और स्पर्श ये सब

अनित्य हैं, क्योंकि ये अनित्य वस्तुओं में पाये जाते हैं। यद्यपि और समवाय पदार्थ में रहने वाले गुण अनित्य ही हैं, परन्तु ये गुण विरुद्ध गुण के उत्पन्न होने से नष्ट होते हैं। ये चार गुण आश्रय के नाश से ही नाश को प्राप्त होते हैं। उनके नाश का कोई दूसरा कारण नहीं, उनके नाश के बहुत से कारण हैं। आशय यह है कि ये गुण जिन पदार्थों में रहते हैं वे अनित्य हैं इसलिये वे गुण भी अनित्य ही हैं।

प्रश्न—क्या जब पृथिवी, जल, अग्नि और वायु नित्य हों तब भी ये अनित्य होंगे?

उत्तर—एतेन नित्येषु नित्यत्वमुक्तम् ॥ ३ ॥

अर्थः—जो रूप आदि गुणों के अनित्य होने में उनके आश्रय के अनित्य होने को हेतु दिया गया है तो इस हेतु से सिद्ध होता है कि जब द्रव्य, जिन में ये गुण रहते हैं, नित्य हैं तो उस अवस्था में रूप आदि चारों गुणों को नित्य कहा गया है आशय यह है कि आश्रय के नित्य होने से नित्य और अनित्य होने से गुण अनित्य हैं।

प्रश्न—क्या पृथिवी के परमाणुओं में ही रूप आदि गुण होते हैं या और द्रव्यों में भी?

उत्तर—अप्सु तेजसि वायौ च नित्या द्रव्य-नित्यत्वात् ॥ ४ ॥

अर्थः—जल के परमाणुओं में रूप, रस और स्पर्श ये गुण नित्य हो सकते हैं। और अग्नि के परमाणुओं में रूप और स्पर्श गुण नित्य हो सकते हैं क्योंकि जब ये द्रव्य नित्य होंगे तो उनके गुण भी नित्य होंगे।

प्रश्न—यदि नित्य द्रव्यों में रूप आदि गुणों को अनित्य माना जावे तो उसमें क्या हानि है?

उत्तर—इसलिये कि द्रव्य गुण का समवाय सम्बन्ध होता है अतः नित्य द्रव्य में स्वाभाविक गुण अनित्य नहीं हो सकता।

प्रश्न—जब नित्य आकाश का गुण शब्द अनित्य है, ऐसे ही नित्य आत्मा में बुद्धि अनित्य उत्पन्न होती है। इसी प्रकार इन गुणों को भी नित्य द्रव्यों में अनित्य मानने में कोई दोष नहीं?

उत्तर—ऋषि ने जो सूत्र में बतलाया है वह स्पष्ट करता है कि शब्द और बुद्धि में दूसरे विकार उत्पन्न होते हैं जिससे वे अनित्य हो सकते हैं किन्तु रूप आदि में यह स्पष्ट नहीं होता। जैसे शब्द में हलका और तीव्र होना पाया जाता है, और बुद्धि अर्थात् ज्ञान में अज्ञान के संस्कार आदि उत्पन्न होते हैं, परन्तु रूप आदि में किसी प्रकार का विकार सिद्ध नहीं होता अर्थात् किसी दूसरे गुण का ज्ञान नहीं होता।

प्रश्न—यदि रूप आदि में दूसरे गुण की प्रतीति मान ली जावे तो क्या हानि है ?

उत्तर—यदि प्रतीति हो तो उसके कारण द्व्यणुक आदि से आरम्भ होकर जल सावयव पदार्थों में विरुद्ध रूप आदि की प्रतीति हो, परन्तु अग्नि और जल में स्पर्श रूप और आदि का वैसा ही ज्ञान होता है, विरुद्ध ज्ञान नहीं होता।

प्रश्न—जल गरम है वायु ठण्डी है यह ज्ञान बतलाता है कि उनमें दूसरे गुण आसकते हैं ?

उत्तर—इस प्रकार का ज्ञान तो निमित्त से किसी दूसरी वस्तु के उसमें प्रवेश करने से होता है।

प्रश्न—अनित्य पदार्थों के गुण नित्य होंगे ?

उत्तर—अनित्येष्वनित्या द्रव्यानित्यत्वात् ॥५॥

अर्थः—जल आदि के अनित्य होने में उनके गुण भी अनित्य होंगे, क्योंकि आश्रय के नाश होने से वे गुण भी नष्ट हो जायेंगे। जब कि आश्रय अनित्य है तो उसका नष्ट होना भी अवश्य है, और जब आश्रय का नाश होगया तो उनमें रहने वाले गुण कहां रहेंगे ? अवश्य ही नष्ट होजायेंगे।

प्रश्न—कार्य रूप पृथिवी में भी रूप आदि गुणोंके मिलने से उत्पन्न होते हैं और नष्ट भी होते हैं, तो वे किस प्रकार आश्रय के नष्ट होने से नष्ट होने के योग्य होंगे ?

उत्तर—कारण गुणपूर्वकाः पृथिव्यां पाकजाः ॥६॥

अर्थः—पृथिवी में जो रूप, रस और गन्ध हैं वे कारण के गुण के अनुसार हैं अर्थात् जिस प्रकार के अवयवों से कोई पार्थिव वस्तु बनती है जैसे उन परमाणुओं में रूप, रस, गन्ध होंगे

वैसे ही उस कार्य में प्रगट होंगे। जिस रंग के सूतका कपड़ा बुना जावेगा उसी रंग का कपड़ा होगा, ऐसे ही जिस प्रकार के फूलोंसे हार बनायाजावेगा वैसाही गन्ध उन फूलोंमें होगा यदि रेशम के तारों से कपड़ा बनाया जावेगा तो उसका स्पर्श रेशम के समान होगा, यदि सनके तारों से बनाया जावेगा तो उसका स्पर्श वैसाही होगा।

प्रश्न—क्या जिसको आँख से जाने वही रूपत्व है, ऐसे ही रसना से ग्रहण किया जावे वही रसत्व है, इसी प्रकार स्पर्श और गन्धआदि भी नाक और त्वचा से ही जाने जाते हैं?

उत्तर—यदि ऐसा माना जावे तो केवल ज्ञान इन्द्रिय के नष्ट हो जाने से ही यह रूप है इस ज्ञान की उत्पत्ति का न होना ही सिद्ध होगा। इसलिये चक्षु मात्र वाह्य अनुभव से ग्रहण के योग्य होता है जिसकी जाति है वह रूप है और जो रूपत्व है वह इन्द्रियों से ग्रहण नहीं हो सकता।

प्रश्न—क्या कोई रूप ही नहीं जो इन्द्रयों से ग्रहण न हो?

उत्तर—क्योंकि केवल आंख ही से जो वाह्य अनुभव है उससे ज्ञात होने के योग्य जातित्व हो वह रूपत्व है। इस प्रकार की जातित्व नीलत्व आदि हैं।

प्रश्न—नीला पीला आदि एक २ ही नित्य हैं, उनमें नीलत्व आदि जातित्व है ही नहीं क्योंकि वे व्यक्ति में रहने वाले गुण हैं।

उत्तर—ये थोड़ा नीला है, यह अधिक नीला है इस प्रकार के भेद की उत्पति नहीं होगी यदि नील को नित्य माना जावे।

प्रश्न—जो नील आदि में यह कम नीला है, यह अधिक नीला है, ऐसा विचार किया जाता है वह श्वेतपन के भेद से उत्पन्न होते हैं?

उत्तर—यह नहीं क्योंकि नील की न्यूनाधिकता में श्वेतपन के भेद का कोई प्रमाण नहीं, क्योंकि यह ज्ञात होता है कि काला रंग नष्ट होगया और श्वेतरंग उत्पन्न हो गया इसमें नील जो एक है वह अनित्य है। यदि कहो कि वह समवाय की उत्पत्ति और नाश से होता है तो यह ठीक नहीं क्योंकि नित्य वस्तु का समवाय होता ही नहीं क्योंकि समवाय पीछे से उत्पन्न होता है। यदि ऐसा ही माना जावे तो घट आदि

अनित्य वस्तु भी अविनाशी मानना पड़ेगी, जो प्रत्यक्ष के विरुद्ध है ।

प्रश्न—नीला, पीलापन आदि जो गुण हैं ये द्रव्य से भिन्न नहीं है क्योंकि धर्म और धर्मी एक ही होते हैं; न कभी धर्म से धर्मी पृथक् होता है न धर्मी से धर्म पृथक् होता है ?

उत्तर—यह बात ठीक नहीं, क्योंकि रूप घड़ा है, स्पर्श घड़ा है ऐसा प्रयोग नहीं होता, जिससे जाना जाता है धर्म से धर्मी पृथक् है ।

प्रश्न—इसमें कुछ हानि नहीं क्योंकि प्रायः प्रयोग किया जाता है कि श्वेत वस्त्र है, नीला वस्त्र है, यह बात ज्ञात भी होती है ।

उत्तर—यह कथन तो उपचार से होता है वास्तव में यहाँ सर्वनाम का लोप होगया है । श्वेत वस्त्र कहने से आशय यही है कि कपड़े में श्वेत पन है । भेद के जान लेने पर ये सारे माने हुए विचार हैं ऐसा जान लिया जाता है, क्योंकि यह चन्दन का गन्ध है और यह चन्दन का रंग है, इस प्रकार के कथन से भी भेद सिद्ध होता है । यदि कपड़े और रंग का भेद न माना जावे तो जिस प्रकार छूने से कपड़े का ज्ञान होता है वैसे ही कपड़े के रंग का ज्ञान होजाना चाहिये, जो नहीं होता । दूसरे ऐसा कहने पर कि वस्त्र लाओ तो किसी रूप को ले आवे रंग लाओ ऐसा कहने पर किसी द्रव्य को ले आवे ।

—ऐसा ही मानलो कि भेद भी है और भेद नहीं भी, क्योंकि सारा भेद होने में कोई पूरी युक्ति नहीं ?

उत्तर—यह ठीक नहीं क्योंकि पृथक् करने वाले भेद के बिना दो विरुद्ध गुणों अर्थात् भेद और अभेद का एक स्थान पर रहना असम्भव है । जिस प्रकार प्रकाश और अन्धकार एक स्थान में नहीं रह सकते क्योंकि दोनों में अन्योन्याभाव के होने से एक दूसरे में रहना अत्यन्ताभाव के समान सिद्ध है जिसको प्रत्येक बुद्धिमान समझ सकता है कि भेद अभेद नहीं रह सकता और न इस प्रकार का प्रमाण किसी वस्तु से मिल सकता है, और यह रूप पृथिवी में बहुत प्रकार का है । पानी और अग्नि में केवल श्वेत ही रहता है ।

प्रश्न—जितने रंग माने गये हैं प्रायः कपड़े में रंग बरंग का रूप देखते हैं वह इनसे पृथक् है ?

उत्तर—वह रूप से पृथक् नहीं है क्योंकि चक्षु इन्द्रिय से ग्रहण किया जाता है। यदि रूप न होता तो आँख से न देखाजाता और उसके कारण में भिन्न भिन्न प्रकार के रूप सम्मलित हैं उससे वह रंग बरंग का दृष्टिगत होता है, क्योंकि जो गुण अवयवों में होंगे वही अवयवी में पाये जायेंगे। जहाँ भिन्न २ वस्तुओं के परमाणुओं में भिन्न २ प्रकार का रूप है, वही रूप क्रम से द्व्यणुक आदि में होता हुआ वस्त्र में विद्यमान है आशय यह है कि गुण जब कारण में होते हैं तब ही कार्य में आते हैं और जो कर्म से संयोग से उत्पन होते हैं वे पाकज कहाते हैं। यद्यपि स्वाभाविक गुणों का प्रत्यक्ष कभी संयुक्त होने की अवस्था में होता है परन्तु वे अपने उपादान कारण में भी होते हैं, कार्य में केवल प्रत्यक्ष होता है पाकज गुण संयोग से उत्पन्न होते हैं, वे संयोग से पूर्व एक पदार्थ में विद्यमान नहीं होते। जैसे संयोग किसी परमाणु में नहीं जब दो परमाणुओं को किसी विशेष प्रकार की क्रिया मिलती है तब उससे संयोग उत्पन्न होता है। इसी प्रकार और गुणों के विषय में भी जान लेना चाहिये।

प्रश्न—पृथिवी आदि में जो रूप आदि गुण हैं उनका कारण क्या है। क्या वह द्रव्यों का गुण है ?

उत्तर-एक द्रव्यत्वात् । ७ ।

अर्थः—जितने स्वाभाविक गुणों को छोड़कर नैमित्तिक गुण भी हैं, उनके अतिरिक्त जो संयोग से उत्पन्न होते हैं, ये सब किसी न किसी द्रव्य में रहने वाले हैं। जैसे पृथिवी में गन्ध स्वाभाविक गुण हैं, रूप, रस; स्पर्श अग्नि, जल और वायु के गुण हैं और सूक्ष्म वस्तु स्थूल के भीतर रहती हुई भी दूसरे आकाश को नहीं घेरती। इसलिए प्रत्येक सूक्ष्म द्रव्य के गुण प्रत्येक स्थूल द्रव्य में रह सकते हैं इसलिए स्थूल वस्तु में यद्यपि अपने और सूक्ष्म वस्तु के गुण सर्वदा पाये जाते हैं परन्तु तो भी वे पाकज कहलायेंगे। वास्तव में एक द्रव्य में एक ही गुण रहता है। अब परिणाम की परीक्षा करते हैं।

यद्यपि गुणों की व्याख्या में संख्या का परिमाण से पूर्व ही परिगणन है, परन्तु यह विचार करके कि संख्या में बहुत आक्षेप है परिमाण प्रत्येक स्थलपर सिद्ध है, इसलिये परिमाण की ही पहिले परीक्षा करते हैं।

अणोर्महतश्चोपलब्ध्यनुपलब्धी नित्ये व्याख्याते॥ ८ ॥

अर्थ—प्रत्येक वस्तु के भीतर छोटा, बड़ा और मध्यम होना पाया जाता है। जिस वस्तु को देखते हैं जब ही उसके रूपका ज्ञान होता है तबही परिमाणका भी ज्ञान होता है, इसलिये अणु और महत् आदि परिमाण नित्य रहनेवाले गुण कहे गये हैं। जैसे यह ज्ञान होता है कि घड़ा पतला है, साथ ही यह ज्ञान भी होता है। कि घड़ा छोटा है या घड़ा बड़ा है। इसी प्रमाण से परमाणु तकके परिमाण का अनुमान किया जाता है। क्योंकि द्रव्यमें जैसे रूप आदि गुण रहते हैं, वैसे ही परिमाण भी रहता है और परिमाण द्रव्य के प्रतीत होने का कारण भी है, क्योंकि कोई द्रव्य जो कि महत् हो तब उसका प्रत्यक्ष होता है, परमाणु का प्रत्यक्ष नहीं होता इसलिये द्रव्य के प्रत्यक्ष होने का कारण होने और द्रव्य के साथ परिमाण का भी प्रत्यक्ष होने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि परिमाण गुण है।

प्रश्न—यदि परिमाण को घड़ी आदि के रूप से भिन्न कोई गुण न मानकर यह माना जावे कि घट आदि का रूप भी परिमाण है तो क्या हानि है ?

उत्तर—यदि ऐसा माना जावे तो (घड़ा लाओ) इस कहने से प्रत्येक घड़े को ले आवें, परन्तु प्रतिदिन इसके विरुद्ध देखा जाता है, इसलिये ऐसा मानना ठीक नहीं अतः परिमाण के व्यवहार का सामान्यकारण, और द्रव्य के प्रत्यक्ष होने का विषय में रहने वाला सामान्य गुणत्व जिसमें पाया जावे वह परिमाण है।

प्रश्न—वह परिमाण कितने प्रकार का है ?

उत्तर—परिमाण चार प्रकार का है ?—छोटा, बड़ा, सूक्ष्म और स्थूल

प्रश्न—विभु को परिमाण क्यों नहीं वतलाया ?

उत्तर—सबसे बड़ा होने से विभु कहलाता है इसलिये बड़ा कहने से उसका ज्ञान होता है।

प्रश्न—परमाणु भी तो एक परिमाण है, जिस परिमाण वाली वस्तु को परमाणु कहते हैं।

उत्तर—परमाणु सब से छोटा कहने में सम्मिलित है, इसलिये सारी वस्तुओं के परिमाण इनही चारके अन्तर्गत हो जाते हैं। उन में से एक परमाणु से लेकर द्व्यणुक त्रसरेणु तक छोटे और उससे आगे बड़े के अन्तर्गत आजाते हैं। कतिपय मनुष्योंके मन में विल्व (बेल) के बराबर बड़े और आंवले के बराबर छोटे परिमाण होते हैं। सबसे छोटा होना और सबसे बड़ा होना ये नित्य पदार्थों में रहते हैं, परन्तु जो सावयव और मध्यम परिमाण वाले हैं वे सब अनित्य हैं।

प्रश्न—जब अणु में अणु परिमाण अर्थात् छोटापन तो है और बड़ापन नहीं है तो परमाणु से बने हुए कार्य में बड़ाई अर्थात् महत् परिमाण वाला होना कहां से आता है?

उत्तर—कारण बहुत्वाच्च ॥ ९ ॥

अर्थ—कारण के महत् होने से उन के संयोग से महत् गुण उत्पन्न होता है। यद्यपि एक परमाणु में अणु में रहने वाला छोटापन है, परन्तु परमाणुओं के समूह को परमाणुओं की संख्या की अधिकता है, उसी के संयोग से बड़ापन अर्थात् महत् नाम हो जाता है। यदि कोई एक परमाणु में बड़ापन मानता तो यह प्रश्न उत्पन्न होना सम्भव था, परन्तु यह गुण तो परमाणुओं के समूह से उत्पन्न होता है। जैसे, जब दो परमाणु मिलते हैं उनमें जहाँ एक एकमें स्वाभाविक धर्म अर्थात् छोटे होने का गुण है वहां दोनों में एक दूसरे के गुण एक से एक मिलकर दो होना भी सम्मिलित है जिससे परमाणु द्व्यणुक होता है ऐसे ही द्व्यणुक के मेल से त्र्यणुक उत्पन्न होता है। वह मोटाई जो त्र्यणुकमें विद्यमान है मानो छः परमाणुओं के मिलने से उनकी संख्या का रूपान्तर है। इसी प्रकार बड़ी से बड़ी वस्तु बन जाती है। जैसे सूत्र के एक तार में लम्बाई तो है चौड़ाई कम है, जब उसके साथ दूसरे

तार मिले तो चौड़ाई कुछ बढ़जाती है । इसी प्रकार बढ़त २ एक चौड़ा कपड़ा बन जाता है । अब उस चौड़ाई का कारण एक तो तारों का संयोग है दूसरी तारों की अधिकता है । यदि तारें अधिक न होतीं तो संयोग किस प्रकार होता ? क्योंकि संयोग एक से अधिक नहीं होता है , यदि तारों में संयोग नहीं होता तो बहुत से तारों के होने पर भी उनके संयोगके बिना कपड़े का बनना सम्भव नहीं था, इसलिये ऋषि ने बतलाया कि मध्यम परिमाणु वाली वस्तुओं में जो महत् उत्पन्न होता है वह बहुत कारणों के संयोग से उत्पन्न होता है ।

प्रश्न—अणु परिमाण किस प्रकार का होता है ?

उत्तर—अतो विपरीतमणु ॥ १० ॥

अर्थ:—इस प्रत्यक्ष से मानने योग्य महत् परिमाण से जो विरुद्ध है सो वह अणु है । आशय यह है कि जिस प्रकार बड़ाई दीख पड़ती है इसी प्रकार छोटी वस्तु के दृष्टिगत न होने से छोटाई नहीं दीख पड़ती । छुटाई बड़ाई यहाँ बुद्धि से जानी जाती है । जिस प्रकार महत् कारणों से बनता है ऐसेही अणु एक और कारण संयोग से रहित है । जितने अधिक परमाणुओं का संयोग होगा उतना ही बड़ा कहावेगा, जिस के विरुद्ध जितना कम परमाणुओं का संयोग होगा उतना ही छोटा कहावेगा, सबसे बड़ावह होसकताहै जिस में सारे पर माणु आजावें । सब से छोटा वह है जिसमें परमाणुओं का संयोग ही न हो अर्थात् सबसे छोटा अवयव हो ।

प्रश्न—जब संयोग से रहित अणु है तब महत् के विरुद्ध बतलाया गया तो आंवले आदि को छोटा क्यों कहा ?

उत्तर—अणुमहदिति तस्मिन् भावात् विशेषाभा- वाच्च ॥ ११ ॥

अर्थ—पहले बतला चुके हैं कि व्यवहार में छोटा और बड़ा अपेक्षा कृत है जैसे घड़े की अपेक्षा लोटा छोटा है परन्तु आँवले की अपेक्षा बड़ा है इसलिये प्रत्येक सावयव पदार्थ में बड़े छो

होना तो स्वाभाविक है, परन्तु जहां छोटा कहा जावे वहां अपेक्षा कृत होगा । जिसमें एक से अधिक परमाणुओं का संयोग है वह परमाणु की अपेक्षा तो बड़ा है परन्तु जिसमें कम परमाणुओं का संयोग है उसकी अपेक्षा छोटा भी है, इसलिये परमाणु को छोड़कर और में छोटेपन का व्यवहार है वह अपेक्षा कृत है, इसी प्रकार जो बड़े का शब्द बोला जाता है वह सबसे बड़े को छोड़कर और सबमें अपेक्षा कृत है जैसे द्व्यणुक को छोटा कहागया है वह कार्य और अपेक्षा कृत है इसलिये वह छोटापन अनित्य है, परन्तु परमाणुओं में जो छोटापन है वह कारण और नित्य है । घड़े आदि में उस कारण रूप छोटाई का भी अभाव है क्योंकि उसमें किसी की अपेक्षा बहुत परमाणुओं के संयोग का अभाव है, और किसी की अपेक्षा अधिक परमाणुओं का संयोग विद्यमान है, इसलिये उनको अपेक्षाकृत ही कहना चाहिये ।

प्रश्न—इन में छोटे का शब्द जो प्रयोग किया जाता है वह अपेक्षा कृत है इसमें क्या प्रमाण है ?

उत्तर—एककालत्वात् ॥ १२ ॥

अर्थ—छोटा और बड़ा होना दोनों एक काल में विदित होते हैं, यथा एक स्थान पर एक आंवला, एक आम और एक घड़ा रक्खा हुआ है, तो तत्काल ही देखने से आम आंवले से बड़ा और घड़े से छोटा दीखपड़ता है, परन्तु बड़ाई और छोटाई जो एक दूसरे से विरुद्ध गुण हैं, उनका एक वस्तु में रहना सम्भव ही नहीं । इसलिये बड़ाई की सामग्री के विद्यमान होने अर्थात् बहुत से परमाणुओं के संयोग होने से और छुटाई के कारण परमाणुओं में संयोग के अभाव के न होने से वे बड़े हैं,उनमें जो छोटेपन का व्यवहार किया जाता है वह अपेक्षा कृत है ।

प्रश्न—बड़ापन ज्ञान करने में सब से बड़ी युक्ति कौनसी है ?

उत्तर—दृष्टान्ताच्च ॥ १३ ॥

अर्थः—यह तो दृष्टान्त के देखने से ही विदित होता है कि वास्तव में आमला, आम और घड़े में बहुत परमाणुओं के संयोग होने से बड़ा, बहुत बड़ा और बहुत ही बड़ा कहना चाहिये था। जैसे श्वेत वस्तु में रूप को देखकर श्वेत, बहुत श्वेत और बहुत ही श्वेत इसके शब्दों का प्रयोग होना चाहिये। जो छोटापन आदि बतलाये वे वास्तव में अपेक्षाकृत ही हैं। वास्तव में प्रत्येक संयुक्त पदार्थ में बड़ाई विद्यमान है। जो परमाणुओं की अधिकता और संयोग से प्रतीत होती है।

प्रश्न—छोटे और बड़े परिमाण में व्यवहार के बल से जो छोटाई बड़ाई बताई जाती है यह किस प्रकार सम्भव हो सकती है, क्योंकि परिमाण अर्थात् छोटा और बड़ा दोनों गुण हैं, और गुण में गुण हो नहीं सकता ?

उत्तर—अणुत्वमहत्वयो रणुत्व महत्वाभावः कर्म गुणैर्व्याख्यातः ॥ १४ ॥

अर्थः—जैसे गुण और कर्म में छोटाई बड़ाई नहीं है, ऐसे ही छोटे और बड़े परिमाण में छोटाई बड़ाई नहीं, किन्तु छोटी बड़ी वस्तु की छोटाई और बड़ाई की अपेक्षा सेवा उपचार से प्रयोग होता है।

प्रश्न—गुणों में गुण है, यदि न होता तो किस प्रकार कहते कि (बड़ा शब्द है) (एक शब्द है) (दो शब्द हैं) चौबीस गुण हैं। इस प्रकार के व्यवहार से परिमाण आदि गुण गुणों में भी पाये जाते हैं। कर्मों में भी गुण पाये जाते हैं, यदि न होता तो कैसे कहा जाता कि शीघ्र चलता है, इसलिये अणु और महत्व में गुण समझना चाहिये ?

उत्तर—कर्मभिः कर्माणि गुणैश्च गुणाव्याख्याताः ॥१५॥

अर्थः—न तो कर्म कर्म वाले हैं, अर्थात् कर्म में कर्म नहीं होता किन्तु सक्रिय वस्तु में क्रिया होती है, इसी प्रकार गुण में गुण नहीं होता किन्तु द्रव्य में गुण रहता है। जहाँ कहीं ऐसा प्रयोग किया जाता है वहां अपेक्षा वा उपचार से कहा जाता है।

प्रश्न—"बड़ी क्रिया है, छोटी क्रिया है, बड़ा गुण है, छोटा गुण है"

इस प्रकार के शब्दों के प्रयोग से कर्म में परिमाण गुण पाया जाता है, ऐसेही गुण में भी गुण कर्म दोनों पाये जाते हैं ?

उत्तर—अणुत्व महत्वाभ्यां कर्मगुणाश्च व्याख्याताः॥ १६॥

अर्थ:—जैसे छोटे बड़े में दूसरी छोटाई बड़ाई नहीं है ऐसे ही कर्म और गुणों में गुण नहीं। जहाँ कोई प्रयोग ऐसे शब्दों का करता है जिससे ऐसा पाया जाता है उसका व्यवहार या तो उपचार से होता है या अपेक्षा से होता है।

प्रश्न—क्या जिस प्रकार छोटे बड़े हैं, छुटाई बड़ाई गुण नहीं, इसी प्रकार स्थूल और सूक्ष्म में भी नहीं ?

उत्तर—एतेन दीर्घत्व ह्रस्वत्वे व्याख्याते॥ १७॥

अर्थ:—सूक्ष्म और स्थूल में भी सूक्ष्मत्व और स्थूलत्व के अतिरिक्त उनके भीतर कोई गुण नहीं रहता। आशय यह है कि सूक्ष्म द्रव्य में सूक्ष्मता रहती है, परन्तु उस सूक्ष्मता में कोई गुण नहीं। ऐसे ही स्थूल द्रव्य में स्थूलत्व रहता है परन्तु स्थूलत्व में कोई गुण नहीं। जिस में महत्व है, उसमें संयुक्त होने से स्थूलत्व अवश्य होगा, और छोटे और एक द्रव्य में सूक्ष्मता अवश्य होगी। जहां छोटापन नित्य है वैसे ही सूक्ष्मत्व भी नित्य है। अब इन परिमाणों के अनित्य वा नित्य होने का विचार करते हैं, और उनके नाश का कारण बताते हैं—

अनित्येऽनित्यम्॥ १८॥

अर्थ—ये चारों प्रकार के परिमाण नाश होने वाले द्रव्यों में अपने आश्रय द्रव्य के नाश होने से नष्ट होजाते हैं। किसी विरुद्ध गुण के कारण इनका नाश नहीं होता।

प्रश्न—आश्रय के विद्यमान रहने पर भी परिमाण का नाश होजाताहै जैसे घट के रहने पर उसका गला टूट जाने से यह ज्ञान होता है कि यह वही घड़ा है।

उत्तर—यह ठीक नहीं है, क्योंकि जिस घड़े का वह परिमाण विद्यमान था उसके आश्रय के नाशके लिये घड़ेकानाश होना अवश्य था, परन्तु घड़ा बना हुआ है, अतः किसी वस्तु के किसी अवयव के नाश होजाने पर वह वस्तु कोई दूसरा

पदार्थ नहीं हो जाती क्योंकि परमाणुओं में जो व्यूह रचना है उसके नाश होने से त्रसरेणु के होते हुए सारी वस्तु का नाश नहीं होता। जब ऐसा सामान्यतया देखा जाता है; तो उस स्थान में यह वही है कैसे दोष आसकता है। जिस प्रकार यद्यपि, दीपक की शिखा बदलती जाती है, तो भी सारे अवयवों के नाश न होने से वही दीपक कहाता है, परन्तु दीपक और घड़ा दोनों नाशवान होने से उनके भीतर जो परिमाण है वह भी नाश होनेवाला है जिसकी सिद्धि उसके अवयवों की न्यूनाधिकता से होती है, परन्तु परिमाण का नाश उसके आश्रय के नाश से होता है।

प्रश्न—क्या जिस प्रकार पृथिवी के परमाणुओं में जो छोटापन है, जो आकाशादि में महत् है, उसका भी नाश होजाता है?

उत्तर—नित्ये नित्यम् ॥ १६ ॥

अर्थः—नित्य जो आकाश और परमाणु आदि हैं उनमें जो परिमाण है वह नित्य है क्योंकि उसका नाश आश्रय के नाश से होता है, और नित्य पदार्थ का नाश होता नहीं, इसलिये उसमें रहने वाले परिमाण का भी नाश नहीं होता, क्योंकि आश्रय का नाश, जो परिमाण का नाश करनेवाला है, विद्यमान नहीं। आशय यह है कि नित्य पदार्थ का परिमाण भी नित्य ही है इसको अगले सूत्र से और पुष्ट करते हैं—

नित्यं परिमण्डलम् ॥ २० ॥

अर्थ—परिमण्डल अर्थात् गोल परमाणु जिससे यह सारा जगत् बनता है, अथवा जो चारों ओर घेरे रहे हैं, वे नित्य हैं। इस जगह स्पष्टतया बतलादिया गया कि परमाणु गोल है, और जहाँ गोल वस्तु मिलती है उसमें आकाश अवश्य रहता है इसलिये सावयव पदार्थ में आकाश अवश्य होगा, और जिसमें आकाश होगा उसका विभाग हो सकता है, जिसके भीतर आकाश नहीं उसमें विभाग भी नहीं हो सकता इसलिये वह नित्य है।

प्रश्न—यदि आँवला, बेल और गन्ना आदि में जो छोटे होने का

व्यवहार किया जाता है वह वास्तव में सत्य नहीं हैं, तो इन के वास्तव में सत्य होने का क्या प्रमाण हैं ?

उत्तर—अविद्याच विद्यालिंगम् ॥ २१ ॥

अर्थः—अविद्या विद्या का लिंग होता है क्योंकि अविद्या से विदित होता है कि वास्तव में विद्या कोई वस्तु है जिसकी विरोधनी होने से ये अविद्या कहाती है इसी प्रकार आँवले आदि में जो छोटे होने का ज्ञान है वह मिथ्या ज्ञान है, परन्तु उससे यह सिद्ध होता है कि छोटी कोई और वस्तु है जिसके विरुद्ध होने से इस ज्ञान को असत् ज्ञान कह सकते हैं, इसलिये मिथ्या ज्ञान कहने से सत्य ज्ञान का विश्वास हो जाता है, अतः आंवला आदि छोटे नहीं। इससे स्पष्ट है कि कोई और वस्तु छोटी है अब आकाश और आत्मा का परिमाण बतलाते हैं।

विभवान् महानाकाशस्तथा चात्मा । २२ ।

अर्थ—प्रत्येक सावयव पदार्थ के साथ सम्बन्ध होने से आकाश विभु है, और उसका विभु होना सबसे बड़े होने के अतिरिक्त हो नहीं सकता, इसलिये आकाश को सब से बड़ा कहना चाहिये, क्योंकि आकाश का गुण जो शब्द है वह भी सब जगह पाया जाता है अर्थात् जिस प्रकार पाताल में शब्द विद्यमान है उसी प्रकार काशी में भी विद्यमान है, इससे स्पष्ट है कि आकाश दोनों स्थानों पर है, इसी प्रकार और स्थानों पर भी होने से आकाश का सर्वत्र होना पाया जाता है अतः आकाश का विभु होना सिद्ध है और वह महान् है। यदि बहुत से आकाश माने जावें तो उनमें विशेषता उत्पन्न करनेवाला कोई गुण नहीं, इसलिये ऐसा मानना व्यर्थ होगा ऐसे ही आत्मा भी प्रत्येक शरीर के साथ सम्बन्ध रखने से सबसे बड़ा सिद्ध होता है ।

प्रश्न—यदि आकाश और आत्मा दोनों एक ही से हैं तो उसमें व्याप्य व्यापक सम्बन्ध कैसे सिद्ध करोगे, क्योंकि एकबराबर की दो वस्तु एक ही स्थान में रह नहीं सकतीं और आकाश और आत्मा में अन्तर क्या है ?

उत्तर—आकाश तो विभु है आत्मा व्यापक है तात्पर्य यह है कि आकाश और आत्मा दोनों का एक स्थान पर होना पाया जाता है परन्तु अन्तर इतना है कि आकाश सावयव पदार्थ के भीतर और निरवयव के बाहर रहता है, और आत्मा आकाश से भी सूक्ष्म होने से सावयव और निरवयव दोनों पदार्थों के भीतर और बाहर रहता है।

प्रश्न—आत्मा को तो, नाना अर्थात् बहुत बताचुके हैं, वह व्यापक किस प्रकार हो सकता है?

उत्तर—आत्मा दो प्रकार का है एक जीवात्मा दूसरा परमात्मा। जीव तो जाति के कारण विभु है. और परमात्मा सर्वव्यापक है और स्वरूप से एक है। बहुत तो जीवात्मा हैं और प्रत्येक शरीरमें व्यापक हैं और परमात्मा सारे संसारमें व्यापक है।

प्रश्न—क्या प्रमाण हैं कि परमात्मा सर्वत्र व्यापक है?

उत्तर—इसलिये कि परमाणुओं में नियम पूर्वक क्रिया नहीं, और प्रत्येक देश में नियमानुकूल क्रिया पाई जाती है जिससे स्पष्ट है कि उनको नियम पूर्वक चलाने वाला आत्मा वहां पर विद्यमान हैं जिस की शक्ति से सारे ब्रह्माण्ड क्रिया कर रहे हैं।

प्रश्न—क्या मन नित्य नहीं है क्योंकि उसका सदैव स्पर्श से रहित द्रव्य होना सिद्ध है? आकाश के समान उसको विभु मानना चाहिये और ज्ञान आदि का समवाय कारण है संयोग का आधार होने से आत्मा के समान। इसलिये आकाश और आत्मा की समानता से मन विभु क्यों न कहा जावे?

उत्तर—तदभावादणुमनः ॥ २३ ॥

अर्थ—यदि मन विभु होता तो उसका एक ही समय में सारी इन्द्रियों से सम्बन्ध होने से एक ही समय में दो इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान होना सम्भव होता, जब कि ऐसा ज्ञान नहीं होता इसलिये व्यापक नहीं। जब कि मन विभु नहीं तो अणु ही मानना चाहिये।

प्रश्न—केवल विभु होने से अणु होना सिद्ध नहीं होता क्योंकि घट आदि सावयव पदार्थ न तो विभु हैं और न अणु हैं।

उत्तर—जब मन विभु नहीं तो एक शरीर में भी विभु नहीं, क्योंकि एक शरीर में विभु मानने से भी वही आक्षेप होता है अर्थात् एक ही समय में दो इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान सिद्ध हो जाता है। यदि शरीर के किसी भाग में माना जावे तो उनके स्पर्श से रहित होने से यह सिद्ध हो जाता है कि वह अणु अर्थात् छोटा है।

प्रश्न—दिशा सर्वत्र रहने वाला होने से बहुत ही बड़ा सिद्ध करनेमें क्या प्रमाण है ?

उत्तर—गुणैर्दिग्व्याख्याता ॥ २४ ॥

अर्थ—प्रत्येक देश में मनुष्य को समान्यतया आगे पीछे का ज्ञान होने से प्रत्येक सावयव पदार्थ में इस बातके ज्ञात करने से कि यह उससे वरे है अर्थात् समीप है, और वह परे अर्थात् दूरस्थ है, इस से दिशा का भी व्यापक अर्थात् विभु होनासिद्ध होता है। परत्व और अपरत्व अर्थात् वरे और परे अर्थात् सावयव वस्तुओं के सम्बन्ध से बुद्धि पूर्वक मानी जाती हैं अर्थात् अपेक्षासे हैं। जिसप्रकार देहली काशीसे परे औरअली गढ़ उसकी अपेक्षा वरे है, परन्तु कलकत्ते की अपेक्षा काशी वरे है और कलकत्ता परे है। दिशा एक है उसका विभाग उपाधि से होता है, यह पूर्व ही सिद्ध कर चुके हैं कि जो दस दिशा कहलाती हैं वे सब उपाधि के कारण हैं, अब काल को सब जगह रहने वाला और व्यापक सिद्ध करते हैं।

कारणे कालः ॥ २५ ॥

अर्थ—पहिले, पीछे, एकसाथ, आगे, पीछे, जल्दी और सुस्ती से आदि का ज्ञान का कारण और गुणों के होने से द्रव्य भी है वह काल है। यह ज्ञान किसी विशेष देश वा स्थान पर नहीं होता, किन्तु प्रत्येक स्थान पर विद्यमान है, इसलिये इसको सबसे बड़ा कहना चाहिये, और इस विचार से भी, जैसा कि कहते हैं कि, इस समय (यह उत्पन्न हुआ) ऐसा सम्बन्ध प्रत्येक उत्पन्न होनेवाली वस्तु के साथ रहता है, जिससे प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति का काल भी एक कारण है, जिसका

होना बिना सर्वव्यापक के सम्भव ही नहीं, या व्यतीत हो गया, व्यतीत हो रहा है और व्यतीत होगा, यह काल के सम्बन्ध में शब्दों का व्यवहार प्रत्येक देश में होता है। कोई देश इससे खाली नहीं, जिससे स्पष्ट होता है कि काल सब जगह विद्यमान है। इसके अतिरिक्त घण्टा, मिनिट, सेकैण्ड रात, दिन, सप्ताह, मास और वर्ष आदि भी काल के कारण से प्रत्येक स्थान पर होते ही हैं, इससे भी काल का सर्वस्थानों पर होना सिद्ध होता है। यह पूर्व ही सिद्ध कर चुके हैं कि काल को बहुत से बतलाना व्यर्थ है, वास्तव में वह एक है, और उपाधि के कारण से उसके बहुत से भेद प्रतीत होते हैं।

सातवें अध्याय का पहला आन्हिक समाप्तः

वैशेपिक दर्शन भाषानुवाद

सातवाँ अध्याय

आन्हिक दूसरा

इस दूसरे आन्हिक में यह विषय होंगे।

(१) यह गुण एक में रहते हैं अथवा अनेक में

(२) केवल अनेक में रहने वाले गुणों की जांच जैसे गिनती आदि

(३) ऐसे ही शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की जाँच

(४) विशेष गुणों से प्रत्येक स्थान में स्थित संयोग के असमवाय कारण एक में रहने वाले गुण की जांच

(५) समवाय की जांच

अब संख्या और पृथक्त्व की जांच करते हैं।

रूपरसगंधस्पर्शाव्यतिरेकादर्थान्तरमेकत्वम् ॥१॥

अर्थ—रूप, रस, गन्ध और स्पर्शसे पृथक् संख्या है जिसका प्रमाण व्यतिरेक से निकलता है क्योंकि वह संख्या एक ही वस्तु में न रहकर दूसरों में भी पाई जाती है जैसे कहते हैं (घड़ा एक है) यह संख्या घड़े से उत्पन्न नहीं होती इस संख्या के उत्पन्न होने का कारण घड़े की विशेषता नहीं क्यों? तादाद कपड़े में भी मौजूद है।

प्रश्न—क्या एक में जो एकत्व है वह सत्ता की तरह प्रवृत्त नहीं?

उत्तर-एकत्व सत्ता की तरह प्रवृत्त नहीं क्योंकि किसी में एकत्व और किसी में बहुत्व देखा जाता है जिसप्रकार सत्तामें न्यूनाधिकता नहीं और नहीं कोई वस्तु सत्ता से रिक्त है, किन्तु एकत्व से उत्पन्न हुई २ चीजें बहुत सी खाली हैं अतएव एकत्व से लेकर बहुत्व तक संख्या सत्ता से पृथक् वस्तु है।

प्रश्न—पृथक्त्व का जो प्रमाण है वह रूपादि से पृथक् है या इनही में शामिल है।

उत्तर—तथा पृथक्त्वम् ॥ २ ॥

अर्थ—जिस प्रकार, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि से एकत्व भिन्न वस्तु है, इसी प्रकार पृथक्त्व भी उनसे भिन्न है। जिस प्रकार (एक घड़ा है) ऐसा कहने से घड़े से भिन्न एकत्व का बोध होजाता है। इसी प्रकार घड़ा कपड़े से पृथक् वस्तु है, ऐसा कहने से घड़े और कपड़े में जो पृथक्त्व अर्थात् वेदधर्म जो दो वस्तुओं में भेद बतलाता है उसको भी कहते हैं। प्रत्येक मनुष्य जानता है कि घोड़ा और गौ भिन्न २ पशु हैं। घोड़ा गौ और गौ घोड़ा नहीं होसकती है। जिन दो वस्तुओं में अन्योन्याभाव है उनसे साफ पता लगता है, कि यह दो भिन्न २ द्रव्य हैं और उन उन में भेद उनके रूपादि गुणों से भिन्न वस्तु है जो उन दोनों के एक प्रकार का होने से रोकता है।

प्रश्न—क्या अन्योन्याभाव पृथक्त्व है ?

उत्तर—जिन दो वस्तुओं में अन्योन्याभाव नहीं है उनही में पृथक्त्व भी सिद्ध होता है। किन्तु पृथक्त्व इस प्रकार के अन्योन्याभाव से पृथक् है।

प्रश्न—जिस प्रकार रूपादि से एकत्व और पृथक्त्व भिन्न है ? क्या उनकी असलियत उन से भी भिन्न वस्तु है।

उत्तर—एकत्वैकपृथक्त्वयो रेकत्वैक पृथक्त्वाभावो ऽणुत्व महत्वाभ्यां व्याख्यातः ३

अर्थः—जिस प्रकार अणु और महत् में उन से पृथक् कोई दूसरी नई उत्पत्ति नहीं है क्योंकि पीछे प्रमाणित करचुके हैं, कि गुण में गुण नहीं रहता, इसी प्रकार एकत्व और पृथक्त्व में कोई दूसरा गुण नहीं रह सकता क्योंकि उसमें व्यवहार अर्थात् शब्दार्थ संबन्ध दृष्टिगत होता है. वह या तो उपचारक है अथवा सम्बन्धी है। किसी प्रकार भी गुण में गुण न होने से एकत्व और पृथक्त्व में कोई विशेष गुण नहीं।

प्रश्न—यदि कहो कि गुणों और कर्मों में एकत्व का व्यवहार पाया जाता है। इसमें क्या प्रमाण है ? कि द्रव्यों में एकत्व है और कर्म में गुण नहीं ?

उत्तर—निःसंख्यत्वात् कर्मगुणानां सर्वैकत्वं न विद्यते। ४।

अर्थ—कर्म और गुणों में एकत्व नहीं रहता, यह पक्ष है। इसका प्रमाण यह है, कि संख्या से भेद होने से क्योंकि संख्या गुण है जो द्रव्य में रहता है और गुण में गुण किसी प्रकार नहीं रह सकता और एकत्व गुण है। और नहीं कर्म में गुण रह सकता है, क्योंकि इसवात को पहले प्रमाणित कर चुके हैं कि गुण केवल द्रव्य में नहीं। बस संख्या के गुण होने से उसका गुण और कर्मों में रहना असम्भव है। इसलिये एकत्व को संख्या में गणना करने से उसका गुण और कर्मोंमें रहना असम्भव है।

प्रश्न—यदि एकत्व का गुण और कर्म में रहना असम्भव है, तो ऐसा क्यों कहते हैं कि एक रूप है एक रस है इत्यादि?

उत्तर-भ्रान्तं तत् ५

अर्थ-गुण और कर्म में जो एकत्व का ज्ञान है उनको एक समझा जाता है। यह ज्ञान भ्रम से है। ठीक नहीं।

प्रश्न-सूत्र में तो ज्ञान का शब्द भी नहीं तुम कहाँ से कहने लगे, कि ऐसा ज्ञान भ्रम से है।

उत्तर—सूत्रकार के तात्पर्य से जो प्रश्न के उत्तर में कहा है यह साफ प्रतीत है कि वह तत् शब्द से ज्ञान ही का अर्थ लेते हैं। तात्पर्य यह है, कि यह कथन भागत है।

प्रश्न—भागत किसे कहते हैं?

उत्तर—जिसमें भक्ति हो वह भागत है।

प्रश्न—भक्ति किसे कहते हैं?

उत्तर-जहाँ न स्वरूप से पृथक् न होने वाली भक्ति कहलाती है तात्पर्य यह है कि जो किसी वस्तु के वस्तुत्व से बाहर हो।

प्रश्न—हम कहते हैं कि द्रव्यों में भी एकत्व नहीं है उनमें भी भ्रम से होता है।

उत्तर—एकत्वाभावाद्भक्तिस्तु न विद्यते॥ ६॥

अर्थ—यदि द्रव्यों में एकत्व न रहा तो किसी में भी न होनेसे उसकी कुछ सत्ता ही न होगी और जब कुछ सत्ता ही नहीं तो भक्ति से है यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि जब कोई वस्तु होती है तो उसका भ्रम भी दूसरी वस्तु में हो सकता है और जब कोई वस्तु ही नहीं होतो उसका भ्रम कैसा? जैसे रस्सी में साँप का भ्रम होता है। वह संसार में असली साँप को कहीं देखने से होता है किन्तु यदि कहीं देखा नहीं तो रस्सी में साँप का भ्रम हो ही नहीं सकता अत एव जब एकत्व द्रव्यमें रहता है तब ही गुण कर्म में उसका भ्रम होता है। यदि द्रव्य में भी भ्रम से कार्य माना जावे तो उसकी सत्ता नष्ट हो जाने उसका कार्य में परिणत होना असम्भव है। इस वास्ते द्रव्यों में ही एकत्व है और गुण द्रव्यों में रहते हैं। इसलिये कोई आक्षेप ही नहीं।

प्रश्न—कार्य और कारण एकही है क्योंकि उनमें पृथक्त्व और एकत्व नहीं पाया जाता। कोई वस्तु अपने से आप पृथक् नहीं हो सकती क्योंकि यदि कपड़े की तारों को पृथक् २ कर दिया जावे तो उससे पृथक् कोई कपड़ा प्रतीत नहीं होता किन्तु वह तारें ही कपड़ा मालूम होती हैं। यदि तारों से पृथक् कोई कपड़ा होता तो अवश्य दृष्टिगत होता, ऐसे ही घड़ा जिन दो कपालों से बना है, उनके पृथक् २ होने से घड़ा भी नजर नहीं आता। इस वास्ते वस्तु के भागों से पृथक् कोई वस्तु नहीं अत एव कार्य और कारण को एकही समझना चाहिये।

उत्तर—कार्यकारणयोरेकत्वैक पृथक्त्वाभावा देकत्वैक पृथक्त्वं न विद्यते ॥ ७ ॥

अर्थः—कार्य और कारण एक नहीं होते क्योंकि उनमें एकत्व का अभाव और भेद भी पाया जाता है क्योंकि जो कारण है वही कार्य है। ऐसा मानने से यह स्वीकार करना पड़ेगा जो तन्तु हैं वही कपड़ा है, यद्यपि बहुत तन्तु मिलने से कपड़ा पैदा होता है, किन्तु एक तन्तु को कोई भी कपड़ा नहीं कहता जिससे मालूम होता है कि तार कपड़े से पृथक् वस्तु है क्यों कि

कपड़ा बहुत तारों का संगठन है और तार एक हैं और एक और बहुत को एकसा बतलाना बड़ी भारी भूल है।

प्रश्न—यद्यपि यह बात प्रसिद्ध है कि तन्तुओं से कपड़ा और कपालों से घड़ा बनता है, तो इससे प्रतीत होता है कि तन्तु और कपड़े का बनने से, पथम भी सम्बन्ध था। क्योंकि यदि कार्य कारण का उत्पत्ति से प्रथम सम्बन्ध न होता तो तारों से घड़ा और कपालों से कपड़ा बन जाता, किन्तु ऐसा नहीं होता, जिससे साफ यह प्रतीत होता है कि कारण में कार्य छिपा रहता है।

उत्तर-जो जिसमें छिपा रहता है वह उससे पृथक् वस्तु होती है। इस से भी कार्य से कारण पृथक् प्रतीत होता है। उपादान कारण में कार्य के बनने की शक्ति होती है। न कि कार्य होता है। यदि यह विचारा जावे कि एक तार के अन्दर कपड़ा छिपा हुआ है तो ठीक नहीं, क्योंकि उस अवस्था में एकही तार से कपड़ा निकल सकता है किन्तु निकलता नहीं। इस से साफ प्रतीत होता है कि तारों के संयोग से कर्ता (जुलाहा) कपड़े को उत्पन्न करता है, न कि कपड़ा एक तार में मौजूद था, किंतु संयोग से पैदा हुवा है। इसलिये कारण कार्य का भेद मानना चाहिये। यह अवश्य है, कि उपादान कारण और कर्ता में उस संयोग को ग्रहण करने की शक्ति है। किसी काम की कर्तृत्व शक्ति और वस्तु है और कार्य और वस्तु है, इस वास्ते कार्य कारण का एक होना ठीक नहीं होसकता, परन्तु कारणसे कार्य किस समय उत्पन्न हुआ है, जिससे पूर्व कर्तृत्वशक्तियें तो उपस्थित थीं, किन्तु कार्य न था।

प्रश्न—इस में क्या प्रमाण है, कि कार्य से कारण पृथक् है?

उत्तर—घड़े और कपालों का भिन्न २ होनाही उनके पृथक्त्व का कारण है। जिस समय तक दोनों कपाल मिल न जायं, तब तक उन्हें कोई भी घड़ा नहीं कहता और संयोग होने के पश्चात् कोई भी कपाल नहीं कहता। इससे साफ प्रतीत होता है, कि कपाल और चीज़ है, और घड़ा दूसरी वस्तु है।

एतदनित्ययोर्व्याख्यातम् ॥ ८ ॥

अर्थ--अनित्य गुण अर्थात् संख्या और पृथक्त्व आदि को कारण के गुण के अनुसार होना जो बतलाया है, और केवल अनित्य गुणों के लिये ही विचार करना नित्य गुणों के वास्ते नहीं तात्पर्य यह है, कि कारण के गुणों के अनुसार होना केवल कार्य में ही पायाजाता है। शेष संख्या और पृथक्त्व की अपेक्षा बुद्धि होने से। यथा-अनित्य तेज में जो रूप और स्पर्श है वह कारण की विशेषता के अनुसार ही कार्य में प्रकाशित होता है। ऐसी संख्या और पृथक्त्व को विचार लेना चाहिये अर्तात् एकसे जियादा द्रव्य अर्थात् दोसे लेकर संख तक जो संख्या है उसकी उत्पत्ति और नाश का प्रसंग निम्न लिखितानुसार प्रतीत होता है और इसके अतिरिक्त पृथक्त्व का भी। सम और असम द्रव्योंमें चक्षुका सम्बन्ध होनेसे उन में स्थित एकत्व और पृथक्त्व जो बराबर हैं और फ़र्क बिना किसी फ़र्ज़ करने के मालूम होता है उस से विशेषण की विशेषता का ज्ञान होता है। उसीका नाम अपेक्षा बुद्धि है। उससे उन द्रव्यों में द्वैतभाव उत्पन्न होता है अर्थात् दो होने का गुण प्रकाशित है। फिर उसद्वैत भाव से दो का आलोचन अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। उस प्रत्यक्ष ज्ञान से अपेक्षा बुद्धि का नाश होजाता है और उस द्वैत की विशेषता से सम्बन्ध रखनेवाला एकवार उत्पन्न होजाता है। उस से अगले क्षण में द्वैतका अपेक्षा बुद्धि के नाश से नाश होजाता है। और यह दो वस्तु हैं ऐसा ज्ञान होजाता है। उससे संस्कार उत्पन्न होता है। यह द्वैत के सहारे स्थित होने वाला इन्द्रियों का सम्बन्ध है। उस से एकत्व गुण का सामन्य ज्ञान होता है और उससे एकत्व में रहने वाली नवोत्पत्ति का सामान्य और विशिष्ट एकत्व और विशेषणों के संग्रह को अनुभव करनेवानी अपेक्षा बुद्धि है और उससे द्वैत भाव की उत्पत्ति और उसी में रहने वाले सामान्य का ज्ञान उससे सामान्य और विशिष्ट द्वैत ज्ञान और द्वैत भाव से द्रव्य का ज्ञान और उससे संस्कार इस प्रकार इन्द्रिय के सम्बन्ध होने से संस्कार तक आठ क्षण

होते हैं । और उन के नाश का क्रम यह है । कि वस्तु के सामान्य ज्ञानकी अपेक्षा बुद्धि से नाश होजाता है और द्वैतमें रहने वाले द्वैत भाव का सामान्य ज्ञानसे नाश होजाताहै । और द्वैत भावके ज्ञानका द्रव्य ज्ञानसे नाश होजाताहै । और द्वैत भाव से द्रव्य के ज्ञान संस्कार से नाश होजाता है अथवा किसी दूसरे विषय के ज्ञान से नाश होता है ।

प्रश्न—गुण के ज्ञान से द्रव्यका ज्ञान क्यों नहीं उत्पन्न होता उसकी उत्पत्तिका सामान होनेसे ? ।

उत्तर—गुणके ज्ञान के पश्चात् द्रव्यके ज्ञान में देरी नहीं होती जैसे कहाहै । उस अपेक्षा बुद्धि के नाशसे उसके नाश के अगले क्षणमें द्वैत का नाश होजाता है यह दो वस्तु हैं इस विशिष्ट ज्ञानसे प्रथम क्षणमें ही द्वैत का नाश होनेसे. अगर द्वैत से द्रव्यके ज्ञान की उत्पत्ति को न माना जावे तो यह ठीक नहीं क्योंकि द्वैत आदि की उत्पत्ति का समान नियमानुसार अपेक्षाबुद्धि में द्रव्य से ज्ञान की उत्पत्ति करने का ज्ञान होने से । जो कि परिमाण और बुद्धि द्वारा विचारने से साफ प्रतीत हो जाता है ।

प्रश्न—अपने से उत्पन्न हुए संस्कार से अपेक्षा बुद्धि नाश होने से फिर वही दोष वैसा ही बना है अर्थात् द्वैत से ज्ञान के प्रथम क्षण में द्वैत का नाश सम्भव होने से ?

उत्तर—यह ठीक नहीं । क्योंकि केवल गुणों का ज्ञान ही संस्कार की उत्पत्ति का कारण है और नहीं केवल अकेले गुण का बिना किसी द्रव्य के स्मृति होती है । सर्वदा द्रव्य के साथ मिला गुण स्मरण होनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि अकेले गुण से संस्कार उत्पन्न नहीं होता किन्तु द्रव्य और गुण से ।

प्रश्न—यदि ऐसा भी मान लिया जावे कि गुणों के ज्ञान से संस्कार नहीं उत्पन्न होता तो भी विशिष्ट ज्ञान के समय द्वैत के नाश से और विशेष प्रकार की अवस्था के उत्पन्न न होने से वही अवस्था है क्योंकि वर्तमान दशा में प्रकाशित होने वाली विशेष वृत्ति विशेष कर कर्त्ता के नाश अवस्था में सम्भव ही नहीं ?

प्रश्न—यदि हम ऐसा ही न मालूम होने के कारण से ही स्वीकार करें तो क्या हानि है ?

उत्तर—विशेष्य का ज्ञान विशिष्ट से, इन्द्रिय के सम्बन्ध से उन दोनों का ग्रहण न होनेसे खास ज्ञानके कारण की वर्तमान अवस्था भी सम्भव होने से यदि विशेषता से इन्द्रिय सम्बन्ध का ही विचार किया जावे तो भी प्रथम क्षण में उसके भी होने से प्रथम क्षण में काम करने वाली इन्द्रिय के सम्बन्धी कारण को मालूम करने से विशेष्य का विशिष्ट ज्ञान से प्रतीत होने वाला भी सम्भव होता है, क्योंकि विशिष्ट ज्ञान और ज्ञान का उत्पन्न करने वाला केवल विषय ही गणनामें आता है, किंतु विशिष्ट ज्ञान की सत्ता विषय है वह गणना में नहीं आता ।

प्रश्न—क्या अब तटस्थ लक्षण को भी विशेष्य कह सकते हैं ।

उत्तर—नहीं, क्योंकि विशेष्य उसको विशेषण द्वारा सामान्य से पृथक् करदेता है और विशेष्य और विशिष्ट दोनों एक स्थान पर रहते हैं किन्तु तटस्थ लक्षण उस स्थान से पृथक् स्थान को घेरता है । जब देवदत्त के मकान पर कौवा बैठा हो उस समय वह इस मकान का विशेष्य होगा, और जब उस मकान पर चक्कर लगा रहा हो उस समय वह उपलक्षण व तटस्थ लक्षण होगा ।

प्रश्न—इस प्रकार से मानने में रूप वाली वस्तु में रस ही रूपादि में भी विशेष्य पैदा होगा ।

उत्तर—ऐसा नहीं, क्योंकि यह हमारे मतलब को ही प्रमाणित करता है ।

प्रश्न—तो उस में भी रस होगा अर्थात् रूप वाले तेज में रस मानना पड़ेगा ?

उत्तर—यह हानि नहीं क्योंकि विशिष्ट की वृत्ति विशेष्य की आवश्यकता न होने से, क्योंकि विशेष्य और विशिष्ठ एक ही तत्व नहीं है द्वैत नाश के समय में विशेष्य का सम्बध नहीं है, पुनः विशिष्ठज्ञान किससे होगा? यदि ऐसा मानलिया जावे तो भी ठीक नहीं क्योंकि दूसरों से पृथक् हुई विशिष्ठ वस्तु है उस का भाव नहीं उपस्थित है इसमें कुछ भी अशुद्धि नहीं इस प्रकार द्वैत की उत्पत्ति और नाश को प्रमाणित किया ।

तीन में रहने वाली संख्या का भी विचार कर लेना चाहिये जो अपेक्षा बुद्धि से नाश होता है वह द्वैत ही उत्पत्ति के स्थान के नाश करने वाले दूसरे विपक्षी गुण के न होने से गुण की सत्ता से नाश होना ही सम्भव है। सूक्ष्म ज्ञानका या कार्य ज्ञान का नाश करनेवाला अप्रत्यक्ष होता है और कभी उत्पत्ति स्थान के नाश से भी नाश होजाता है। जहां द्वैत का सहारा भागों की हरकत और उस काल एकत्व का सामान्य ज्ञान जब के भागों की हरकत के सामान्य ज्ञान होने में विभाग के साथ सम्बन्धी रखने वाली बुद्धि अर्थात् मेल को नाश करने वाले गुण की उत्पत्ति और द्रव्य से नाश होने वाले सामान्य द्वैत के ज्ञान में वहां द्रव्य के होने से द्वैत का नाश होगा और सामान्य ज्ञान से केवल अपेक्षा बुद्धि का नाश होगा; क्योंकि अपेक्षा बुद्धि और द्वैत का नाश एक ही समय में होता है। यदि कार्य कारण के एकसा न होने से जिस समय द्वैत का सहारा हिस्सों की हरकत का सम्बन्धी ज्ञान है वह दोनों एक साथ होते हैं दोनों का नाश आश्रय के नाश से और अपेक्षा बुद्धि से द्वैत का नाश होजायगा जैसे हिस्सों की हरकत के सम्बन्धी ज्ञान से शेष की उत्पत्ति होती है वही द्वैत की उत्पत्ति है। संयोग और द्वैत के सामान्य ज्ञान में द्रव्य के नाश से अपेक्षा बुद्धि का नाश होता है उनसे द्वैत का नाश हो जाता है प्रत्येक में सामर्थ्य मालूम करने की यही रीति है और ज्ञानों में रोकने वाला और नाश करने वाला बहुत्व का नियम प्रमाणिक है अर्थात् जब दूसरा ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रथम ज्ञान को नाश कर देता है और जिस समय एक ज्ञान उत्पन्न होता है उस दूसरे ज्ञान को उत्पन्न नहीं होने देता।

प्रश्न—दो और तीन की संख्या में कारण तो एक से हैं, कार्य भिन्न भिन्न किस प्रकार होते हैं क्योंकि दो अकेली वस्तुओं से दो और तीन से तीन उत्पन्न होते हैं अर्थात् दो और तीन का सामान एकत्व ही है ?

उत्तर—एकत्व में द्वित्व और बहुत्व नहीं है इस वास्ते दोनों की उत्पत्तिका कारण पृथक् है अर्थात् दो व तीन समवाय कारण

अर्थात् मिलाप से द्वित्व और बहुत्व संयोग में है एकत्व में नहीं। वहां कारण पर ध्यान देने से उससे यह फल निकलता है कि सम्बन्धी ज्ञान तो एकत्व में रहता है और इस प्रकार के विशिष्ट के न पाये जाने से यदि कहो वह रुका हुवा है उसको फल के कारण अनुमान करते हैं अथवा द्वित्वादि भी वहीं है तो क्या द्वित्व आदि से वह कोई विशेष छिपा हुवा है तो ऐसा मानने से सम्भव है, कि द्वित्व के उत्पन्न करने वाले कारण तीन व चार पैदा हो जावें और इस से तमाम अनियमता फैल जावे।

प्रश्न—विशिष्ट प्राक्भाव से विशेषता उत्पन्न होकर जैसे एक से कारण उत्पत्ति वाले रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का पृथक् २ होना ही समान्यतया है इसी प्रकार द्वित्व आदि में समझना चाहिये?

उत्तर—अपने २ कार्य के प्राक्भाव का सम्बन्ध ही कारण के धारण से पता लगता है। चाहे शुद्ध सम्बन्धी ज्ञान से द्वित्व दो के मिलाने से और उस में एक और मिलाने से तीन होता है। यह मत कहो; क्योंकि प्रायः कहते हैं कि (मैंने सौ च्योंटी को मार डाला) ऐसे समय पर समवाय कारण के न होने से द्वित्व तब तक पैदा ही नहीं होसकता, तात्पर्य यह है, कि दो एक अर्थात् (१+१) के मिलने से दो और तीन एक (१+१+१) के मिलने से तीन होता है विना एक (१) के मेल के नहीं अतः एक संख्या को काम में लाना गौण है और सेना और जंगल के वृक्षोंमें नियमित सम्बन्धी ज्ञानके न होने से केवल बहुत में ऐसा ज्ञान होता है, परन्तु शत, सहस्रादि संख्या का वर्णन नहीं होता ऐसा कोई आचार्य मानते हैं, इसी प्रकार लक्ष और कोटि सब मेल से उत्पन्न होंगे और जहां सम्बन्धी ज्ञान न होगा वहां बहुत, बहुत ज़ियादा, बहुत ही ज़ियादा सेना है ऐसा नहीं यह औदिन्याचार्य कहते हैं इस जगह समझना चाहिये कि तीन से लेकर संख्य तक संख्या ही बहुत के नाम से कही जाती है। उस से पृथक् कोई दूसरी वस्तु संख्या नहीं है। इस में से प्रथम आक्षेप अर्थात् ज़ियादती ही संख्या नहीं है, ठीक नहीं, क्योंकि

फ़ौज के सिपाहियों की सैकड़ों और सहस्रों में संख्या मालूम होने से ऐसेही जंगल के वृक्षों की संख्या से और दूसरा पक्ष, कि केवल संख्या ही होती है बहुत्व नहीं । यह भी ठीक नहीं, क्योंकि तीन आदि कारण से पृथक् बहुत के अनुभव करने पर मालूम न होने से इस लिये नियमित रीति से एकत्व का ज्ञान न होकर सम्बन्धी ज्ञानवाली ज़ियादती ही सौ आदि की संख्या हैं उसमें सौ आदि की कोई पृथक् अवस्था नहीं होती । इस प्रकार के पृथक् करने वाले गुण के न होने से हमारा केवल यही तात्पर्य है कि जिस अधि-करण में तीन आदि संख्या रहती हैं उसी में स्थित दूसरी संख्या ही बहुत्व है अथवा तीन आदि के उत्पन्न करने वाले सम्बन्धी ज्ञान से उत्पन्न हुवे २ प्राक् भाव से सत्ता के घटाने से, संख्या होती है उसके विरुद्ध नहीं । बहुत्व तब तक होता है जब तक सौ अथवा सहस्र है । इस संख्या को हम विशेषतया नहीं जानते जैसे एक वस्तु में स्थूल होता, और सूक्ष्म होना रह सकता है ऐसे एक अधिकरण में तीन आदि बहुत्व हैं

प्रश्न—निश्चय यह बात है अथवा सहस्र में, चार फल ले आऊ यहां केवल संख्या है बहुत्व नहीं ?

उत्तर—इसका तात्पर्य यह है कि दो से ज़ियादा अर्थात् बहुत ही है और बहुत ही फल लाते हैं उसमें कोई विशेष मालूम करने वाली बात नहीं । इस प्रकार दो के साथ सम्बन्धी ज्ञान मिलने से चार । ऐसे ही आगे ज़ियादा में खियाल करो । बहुत्व के उत्पन्न होने में संख्या और सम्बन्धी ज्ञान के मिलने का नियम नहीं । इस प्रकार सेना और वन के वृक्षों में बहु-त्व उत्पन्न होता है कोई दूसरी वस्तु उत्पन्न करनेवाली नहीं होती संदेह तो प्रत्येक अवस्था में होसकता है जिस प्रकार एक ही अधिकरण में एकत्व और पृथक्त्व रहते हैं इसी प्रकार एक ही अधिकरण में दो की संख्या और द्वित्व रहता है । जैसे द्वित्व है उसी प्रकार उसकी पृथक्ता है ।

प्रश्न—दो और तीन आदि एक ही अधिकरण में है । एकत्व और पृथक्त्व के व्यवहार का होना सम्भव होने से क्या द्वित्व और पृथक्त्वादि नहीं है ?

उत्तर—जिस प्रकार घड़ा, ढेला, सरावा पृथक् है इसी प्रकार दो और पृथक्त्व में एक दूसरे को पृथक् करने वाला स्थान मालूम नहीं होता। प्रत्येक भिन्न २ वस्तु में पृथक्त्व बराबर नहीं है किन्तु भिन्न २ प्रकार की वस्तु का प्रकाशित होना है इस प्रकार नहीं मालूम होते। द्वित्व का सहाधिकरण वाला जो परत्व अर्थात् वरे या परे हैं उससे उसका ज्ञान हो जाता है जिस प्रकार पृथक्त्व में एक दूसरे से घिरे हुवे होने के कारण फ़र्क होता है। इस प्रकार फर्क परत्व में नहीं। जिस प्रकार यह दोनों नीले हैं, इसबात को जानने से (नीलेपन) और (दो) में हठ नहीं मालूम होता। दोनों सहाधिकरण हैं ! इसी प्रकार द्वित्व और परत्व भी सहाधिकरण और हठ से मेरा है एक देश में स्थित और आपस में मेल और एकता न होने पर भी दिशा और शरीर जैसा जो समवाय कारण में उनके भेद हैं और प्रकार कार्य की उत्पत्ति सम्भव होने से जो एकत्व और द्वित्व मिले हुवे हैं, जैसे असमवाय कारण से मिले हुवे एक और पृथक्त्व द्वित्व और पृथक्त्व का असमवाय कारण भी होना सम्भव है। द्रव्य से पृथक् एक कार्य के वास्ते अनेक पदार्थों के मेल से कार्यानुसारी समवाय ज्ञान के न होने पर भी उत्पन्न करने वाले के दर्शन न होने से सम्भव नहीं, कारणों का एक साथ ज्ञान होनेसे बहुत से तन्तुओं और कार्यानुसारी शस्त्रों का मेल एक कपड़े और शस्त्र के मेलको उत्पन्न करता है। यही केवल नमूना है। द्वित्वादि के नाश की तरह द्वित्व और पृथक्त्वका नाश भी विचार लेना चाहिये।

इस के आगे दूसरे विषय को आरंभ करते हैं।

अन्यतरकर्मज उभय कर्मजः संयोगजश्च संयोगः६

अर्थ—मिलाप में जो मिले हुवे का मालूम होना है प्रमाणों से नहीं करता और सब कार्य भागों के संयोग में द्रव्य होते हैं अर्थात् द्रव्य में अग्नि के मिलने से रूपादि पाकज गुण के मालूम होने में विशेषतासे (भेरी) आदि वाद्य और आकाश के संयोग से शब्दादि पैदा होते हैं। यह स्वयं विचार करना चाहिये ऐसे ही और पाकज गुण के सम्बन्ध में सोच लेना चाहिये। संयोग के अर्थ प्रायः ऐसा विचार किये जाते हैं कि (जिसमें बिल्कुल अन्तर नहीं) वह संयोग है, किन्तु एक क्षण में नाशवान् वस्तु में यह बात सम्भव नहीं। अतएव जिसके पहले प्राप्त न हो उसका प्राप्त हो जाना ही संयोग है वह कर्म से उत्पन्न होता है जैसे चञ्चल वाज़। (एक पक्षी का नाम है) एक स्थायी वृक्ष पर जा बैठता है। अब पहले उस वृक्ष को वह वाज़ प्राप्त न था अर्थात् उससे पृथक् था अब उस कर्म के कारण जो उस वाज़ की आत्मा से आरम्भ होकर शरीर में पहुंची। वाज़का और वृक्ष का संयोग होगया इसी प्रकार अन्य स्थानों पर हरकत से एक अप्राप्त वस्तु दूसरी वस्तु में मिल जावे। इस मिलने का नाम संयोग है प्रायः परस्परा संयोग जैसे एक वृक्ष के साथ अंगुली लगाने से वृक्ष और हाथ का संयोग कहलाता है। इसी प्रकार तारों के साथ कच मिलनेसे कपडेके साथ कच का मेल होता है। कहीं दो के साथ मेल होने से संयोग होता है। जैसे दो तारे आकाश से मिली हुई हैं, और दो तारों का बना हुआ कपड़ा आकाश से सयोग रखता है। कहीं बहुत से संयोगों से एक संयोग पैदा होता है जैसे बीस तारों के साथ जो आकाश का मेल है। उससे बीस तारों से बने हुवे एक कपड़े से आकाश का संयोग उत्पन्न होता है। किन्तु पुनः एक असमवाय कारण संयोग से भी दो संयोग उत्पन्न हो जाते हैं जैसे मिट्टी और जल के परमाणु का दूसरे जल परमाणु से दो दो तक उत्पन्न करने वाले दो संयोगों से उत्पन्न होते हैं

और उन सवर्ण संयोग से एक साथ दो दो तक उत्पन्न होते हैं। इस जगह जो मिट्टी और जल के परमाणुओं में न पैदा करने वाला संयोग उत्पन्न हो उस एक ही मिट्टी के परमाणुओं से जल की दो तक से भी एक ही संयोग और पानी के परमाणु और मिट्टी के दो तक से दूसरा संयोग इस प्रकार और दोनों के संयोग की उत्पत्ति एक ही समय में होती है। कारण और अकारण उनके संयोग द्वारा कार्य और अकार्य के संयोगों को आवश्यकीय तौर पर उत्पन्न करने से मूर्तिमान वस्तु और विभु से सम्बन्ध रखनेवाली वस्तु का संयोग कर्म से होना आवश्कीय नहीं, क्योंकि कारण के न होने से वहां हरकत ही नहीं और न कारण ही है अतव कारण और अकारण के संयोग के अकार्य और कार्य का संयोग भी नहीं है। विभु और मूर्तिमान द्रव्य का संयोग नित्य ही है। प्रथम न मिले हुवे का मिलना जो संयोग का लक्षण किया था उससे संयोग उत्पन्न होना प्रमाणित होता है और विभु का संयोग नित्य कहते हैं। यह उसका विपक्षी है। दूसरा विभाग भी नित्य हो जावेगा और यदि कहो विभाग का नित्य होना भी हमें लाभदायक ही है किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि संयोग व विभाग जो एक दूसरे के विपक्षी हैं यदि दोनों अविनाशी हों तो एक ही स्थान में उनका पाया जाना असम्भव है इस वास्ते दोनों अनित्य हैं। इस वास्ते आवश्यक, दो वस्तुओं का होना है किन्तु दो विभु वस्तु नहीं हो सकती। जो मूर्त्तिमान भी हो, जिन में संयोग सम्भव हो। विभु वस्तु तो दोनों मिलने से और दोनों पृथक् और उनसे बिलकुल पृथक् रहने वाला संयोग का आश्रय जो द्रव्य में विभु उनका भी आश्रय है। और संयोग का नाश प्रथम तो साधिकरण विभाग से होता है अथवा आश्रय अर्थात् अधिकरण के नाश से होता है। जैसे किसी स्थान पर दो तारों के मिलने के बाद एक तार के किसी भाग में कर्म उत्पन्न हो और उस कर्म से दूसरे काम से वह वस्तु पृथक् होजावे और विभाग से उत्पन्न करने वाले संयोग का नाश और उससे तार का नाश और तार के

नाश से संयोग का नाश। जहां दो तारें बहुत समय से मिली हों और उसमें कर्म उत्पन्न होनेसे नाश होजाता है। कुछ ऐसा कहते हैं तारके भागके कर्म से तार के उत्पन्न करने वाले संयोग का नाश हो जाता है तब दूसरे तारमें कर्म विचार करने से अधिकरण का नाश और विभाग से जो दोनों एक साथ उत्पन्न होते हैं संयोग का नाश होजाता है, किन्तु यह कहना ठीक नहीं क्योंकि समवाय कारण के नाश होने वाले क्षण में विभाग उत्पन्न नहीं हो सकता क्योंकि समवाय कारण कार्य के रहने तक बराबर रहता है यह नियम है। अतएव यह संयोग द्रव्य के उत्पन्न करने में किसी प्रकार की सहायता की आवश्यका नहीं रखता है परंतु गुण को कर्म के पैदा करने में दूसरी वस्तुओं की आवश्यका है। अपना सहाधिकरण मालूम होने से। बड़े पीपल के वृक्ष पर बैठा हुवा जो बंदर है, यद्यपि वह पीपल की एक शाखा पर बैठा है तो भी यही अनुभव होता है कि पीपल के वृक्ष से बन्दर का संयोग है। केवल अभावके कारण अनित्य सिद्ध होने से परमाणु में रहने वाला प्रमाणित होता है, किन्तु ऐसा प्रतीत नहीं होता। इसलिये विभु का भी उपाधि भेद के कारण एक भाग होता है और भाग से होने वाला संयोग भी एक देश में ही होता है। अत एव परमाणु स्थित संयोग का भी दिशा आदि के साथ पृथक् करने वाला विचार करना चाहिये।

प्रश्न—विभाग में संयोग की उत्पत्ति किस प्रकार हो सकती है ?

उत्तर—एतेनविभागो व्याख्यातः ॥ १० ॥

अर्थ—संयोग की तरह विभाग से और दोनों प्रकार के कर्म से पैदा होता है अथवा विभाग से और दोनों प्रकार के कर्मका विभाग उत्पन्न होता है। जैसे कि, बाज़ के कर्म से जो बाज़ और वृक्ष में विभाग होगया वह कर्म से हुवा। ऐसे ही दो मल्ल जो मल्ल युद्ध छोड़कर पृथक् २ होगये उन में जो विभाग हुवा उन दोनों के कर्म से हुवा। यह विभाग केवल कर्मके पैदा करने वाले क्षण में हुए हैं, क्योंकि इसमें किसी दूसरी वस्तु की आवश्यका नहीं मालूम हुई। इस वास्ते कहा है,

कि संयोग और विभाग का कर्म कारण है। विभाग पैदा करने के वास्ते तो अधिकरण का नाश और संयोग उत्पन्न करनेके लिये प्रथम संयोग नाशका विचार करना चाहिये। ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि अपनी उत्पत्ति के सम्बन्धी कर्म के अनावश्यक होने से और विभाग से उत्पन्न होने वाला विभाग दो प्रकार का है। एक केवल कारण के विभाग से उत्पन्न होने वाला, दूसरा कारण और अकारण के विभाग से उत्पन्न होने वाला अथवा कारण और अकारण के विभाग से उत्पन्न होने वाला. कार्य और अकार्य उनके विभाग से उत्पन्न होते हैं। उनमें केवल कारण के विभाग से, कारण और अकारण के विभागसे। जैसे दोनों कपालों के पृथक् होने से कपाल और आकाश में विभाग होता है और कारण और अकारण के विभाग से कार्य और अकार्य के विभाग। जैसे अंगुली के वृक्ष से पृथक् होने से हाथ वृक्ष सेपृथक् होजाता है उससे शरीर और वृक्ष में विभाग हो जाता है।

प्रश्न—विभाग के होने में प्रमाण नहीं, केवल संयोग के अभाव में विभाग का शब्द काम आने से ?

उत्तर—यह ठीक नहीं, क्योंकि यदि संयोग का अत्यन्ताभाव नहीं होता, द्रव्यों में रहनेवाला संयोग का अत्यन्ताभाव विभाग होने के ज्ञान का कारण है यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि भाग और सम्पूर्ण में भी ऐसा ही व्यवहार करना पड़ेगा।

प्रश्न—जो द्रव्य कार्य नहीं कारण है यदि उनमें विभाग मानलिया जावे तो क्या हानि है ?

उत्तर—यदि ऐसा माना जावे तो विन्ध्याचल और हिमालय में भी विभाग मानना पड़ेगा, जो नहीं है। यदि कोई कहे कि ऐसा होने में क्या हानि है तो विचार करना चाहिये कि नियम विरुद्ध करने में गुण और कर्म में भी विभाग मानना पड़ा क्योंकि व्यवहार का विचार करने से।

प्रश्न—यदि संयोग के नाश का नाम विभाग रखा जावे तो क्या हानि है ?

उत्तर—एकही संयोग के नाश से संयोग के नाश होने पर विभाग कहना पड़ेगा, किन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि दोनों संयोगों के

उपस्थित होते हुये भी एक संयोग के नाश होने के पश्चात् पुनः मिलने पर सरवि या आंवले में मिली हुई, अवस्था में भी विभाग होने का ज्ञान होने से।

प्रश्न—जितना अथवा जिस समय तक संयोग का नाश है वही विभाग है?

उत्तर—यह भी ठीक नहीं, क्योंकि एक संयोग के नाश होने में उस का अभाव कहने से, क्योंकि एक संयोग के नाश होने से संयोग का अभाव नहीं होता और कुल अर्थों अर्थात् वस्तुओं के अभाव से। इस वास्ते संयोग के अभाव से पृथक् व विभाग एक गुण है। और दूसरे विपक्षी गुण से नाश होने वाला है, क्योंकि बिना सहाधिकरण विपक्षी गुण के उसका नाश होना सम्भव न होने से क्योंकि आश्रय उपस्थित हो तो विपक्षी के गुण के बिना नाश नहीं हो सकता।

प्रश्न—कर्म भी संयोग से नाश होता है और विभाग को भी संयोग से नाश होने वाला मान लिया जावे तो लक्षण अति व्याप्त हो गया?

उत्तर—गुणों का विपक्षी गुण आने से नाश होता है, क्योंकि जिस समय अँगुली, हाथ और शरीर का अपने २ कर्म से वृक्ष के साथ मिलाप हुआ। उस अवसर पर केवल अँगुली में उत्पन्न हुये कर्म से; अँगुली और वृक्ष के संयोग का नाश असम्भव होने से हाथ और वृक्ष, भुजा और वृक्ष, शरीर और वृक्ष के संयोग का नाश स्वीकार करना पड़ेगा और हाथ आदि उस स्थान पर कर्म से खाली हैं और अँगुली में जो कर्म है उसका अधिकरण हाथ से पृथक् है। दूसरे अधिकरण में होने वाले कर्म से भी संयोग का नाश मानने में किसी स्थान पर कर्म होने से सन्सार के संयोगों का नाश होना

प्रश्न—तुम्हारे विचार में उस अवसर पर क्या होगा?

उत्तर—अंगुली और वृक्ष के पृथक् होने से हाथ और वृक्ष का विभाग उत्पन्न होकर हाथ और वृक्ष के सँयोग का नाश करता है। यह ज्ञान होने से दूसरे अधिकरण अर्थात् अँगुली के कर्म से हाथ के संयोग का नाश हो जावे। इससे अति प्रसंग होना सम्भव नहीं, क्योंकि जो एक दूसरे से मिले हुये हैं उन्हीं में

एक वस्तु के कर्म से दूसरे के संयोगके नाश होने को देखने से यह भी ठीक नहीं, क्योंकि साधिकरण विरुद्ध गुणों को प्रत्येक स्थान पर नाश करने वाला मालूम करने से । दूसरे हठ के अतिरिक्त उसका आश्रय छोड़ना सम्भव नहीं शब्द में जो विभाग है वह विभाग से उत्पन्न होता है । इस अवसर पर विभाग के असमवाय कारण होने का विचार करते हैं । किसी एक सेना में कहे हुये शब्दों की दूसरी सेना में जो आवाज होती है । उस स्थान पर सेनाऔर आकाश का समवाय कारण नहीं देखते और आगसे जलते हुये बांसों में जो आवाज हो रही है उस स्थान पर भी विभाग के अतिरिक्त कोई दूसरा समवाय कारण दृष्टि गत नहीं होता । इस लिये कारण और अकारण के विभाग से ही कार्य और अकार्य के विभाग का उत्पन्न होना । हम अनुमान करते हैं, यदि ऐसा न हो तो किस प्रकार अपने अपने कर्म से उत्पन्न हुवे अंगुली और वृक्ष का संयोग, भुजा और वृक्ष का संयोग, शरीर और वृक्ष के संयोगों का केवल अंगुली में उत्पन्न हुवे कर्म से अंगुली और वृक्ष में विभाग होने से अंगुली और वृक्ष का संयोग नाश होने पर भी हाथ आदि के संयोग का नाश हो सकता है । उस स्थान पर विभाग से उत्पन्न हुवे विभाग के प्रसंग से संयोग का नाश हो जाता है । यह कह चुके हैं दो कारणों के विभाग के द्वारा कारण और अकारण का विभाग होना साफ प्रतीत होता है । जो बांस के दल अर्थात् गुद्दे में कर्म उत्पन्न हुवा है उसका दूसरे दल से विभाग की तरह आकाशादि से भी विभाग होना सम्भव होने से । जब तक वह बांस का दल अर्थात् गुद्दा मिला हुवा था तब तक उस कर्म से उसका विभाग देखने से प्रकाशित ही है और वही अंगुली में उत्पन्न कर्मसे दूसरी अंगुलियों से विभाग की तरह आकाश आदि से विभाग पैदा होता है । द्रव्य में संयोग का विरुद्ध विभाग उत्पन्न करनेवाले सौ विभाग एक कर्म से उत्पन्न हो जाते हैं । जो कर्म द्रव्य के उत्पन्न करनेवाले संयोग के विरुद्ध विभाग को उत्पन्न करता है । वह द्रव्य के उत्पन्नकरने वाले

संयोग के अनुसार उत्पन्न नहीं करता। जो द्रव्य के उत्पन्न करने वाला कर्म है वही संयोग के विरुद्ध विभाग को उत्पन्न करने वाला है। तात्पर्य यह है, कि कर्म ही से संयोग उत्पन्न होकर द्रव्य बनता है और कर्म ही से विभाग उत्पन्न होकर द्रव्य का नाश होता है।

प्रश्न—यह ठीक नहीं, क्योंकि संयोग और विभाग दो भिन्न प्रकार के कार्यों के लिये भिन्न प्रकार के कारण चाहियें। एक प्रकार के कारण से भिन्न प्रकार के कार्यों का उत्पन्न होना सम्भव नहीं। अतएव एक ही कर्म द्रव्य के उत्पन्न करनेवाले संयोग को उत्पन्न करे और उसके नाश करने वाले विभाग को भी। जैसे खिला हुआ फूल और उसके बंद करने को भी उत्पन्न करना सम्भव नहीं ?

उत्तर—द्रव्य के उत्पन्न करनेवाले संयोग के विरुद्ध नहीं, इन दोनों का उत्पन्न करनेवाला कर्म है। ऐसा मत कहो, क्योंकि कारण के भिन्न प्रकार के होने के विचार की बुनियाद है न कि विरुद्ध है। एक के द्रव्य के उत्पन्न करने वाले संयोग का हठ होने से। इस वास्ते भिन्न प्रकार का विचार करना भी उचित ही है। इस वास्ते यह जो बांस के दल में कर्म उपस्थित है दोनों की तरफ विभाग को उत्पन्न करता है। और यह विभाग आकाशादि स्थानों से विभाग को उत्पन्न करता है उसकेविनो दूसरे की सहायता के विभाग उत्पन्न करने वाले को विभाग का कारण होने से कर्म ही मानना पड़ेगा, क्योंकि वह नाश से पृथक समय की आवश्यक्ता रखता है नहीं उस समय भी उसे कर्म ही उत्पन्न करता है। भूतकाल होनेसे कर्त्ता का अपनी उत्पत्ति के बिना ही विभाग का उत्पन्न करना सम्भव है।

प्रश्न—नहीं इस प्रकार दूसरे विभाग को उत्पन्न करता हुवा कहीं दूसरे देश अर्थात् स्थान में संयोग को भी उत्पन्न न करदे ?

उत्तर—नहीं संयोग की उत्पत्ति के संबध में कर्म अतीत काल में नहीं, यदि विरुद्ध इसके माना जावे तो कर्म का नाश ही न हो। इस प्रकार योग से नाश होने वाला

[illegible] होने से इस वास्ते यह विभाग, आने वाले संयोग से नाश

होनेवाला तीन क्षण तक रहता है। कहीं तो आश्रय के नाशसे नाश होता है जबकि तारों के भागों में उत्पन्न हुवे २ कर्म से आगे चलकर दो भागों का विभाग उत्पन्न होता है और उससे दूसरे तार में कर्म उत्पन्न होता है। उन दो तारों के विभाग तारके उत्पन्न करने वाले संयोग का नाश और तार के कर्म से बिभाग। उससे वस्तु के उत्पन्न करने वाले संयोग का, उसके नाश से तार का नाश हो जाता है।

प्रश्न—इस प्रकार दूसरे तार में उत्पन्न हुवे कर्म का नाश नहीं होगा, क्योंकि उसका कोई नाश करने वाला नहीं क्योंकि आगे होने वाले संयोग ही से उसका नाश होना सम्भव है परन्तु विभागके नाश होने पर आगे को संयोगही नहीं होगा

उत्तर—तारमें जो कर्म उत्पन्न हुवा है उससे जिस प्रकार उपस्थित तार में विभाग पैदा हुवा है उसी तरह उसका भाग भी विभाग को उत्पन्न करेगा वह भी उत्पन्न करने वाले संयोग का विपत्ती ही होगा। उससे उत्तर को संयोग होगा और उससे कर्म का नाश हो जावेगा अथवा ऐसा विचारना चाहिये. जिस समय जिस स्थान में तार में कर्म होगा उसी समय उस के भाग में भी होगा और वह कर्म मौजूदा नाश होने वाली तार और उसके भाग के आकाशादि से विभाग को एक साथ ही उत्पन्न करता है। सम्पूर्ण विभाग के उत्पन्न करने वाले संयोग का विपत्ती होने से उदाहरणतः भागों और आकाशदि अकारण उसके विभाग होने से कार्य तार का अकार्य आकाशादि से जो विभाग उत्पन्न हुवा है, उससे पश्चात् उत्पन्न होने वाले संयोग से तार में मिला हुवा जो कर्म है उससे कर्म का नाश होगा। और कहीं पर दो से, जैसे तारों और वैरन जिससे जुलाहा बुनता है) के संयोग होने से तार के हिस्सें के परमाणुओं में कर्म होता है और उसी समय वैरन में भी कर्म होता है तार के भाग के कर्म से दूसरे भाग के साथ विभाग उत्पन्न होता है। उससे तार उत्पन्न करने वाले संयोग का भी नाश होजाताहै और वैरन के कर्म से तार और वैरन में विभाग उत्पन्न होता है। और उस तार और वैरन में जो संयोग था उसका नाश

हो जाता है। और तार पैदा करने वाले संयोग का भी नाश होजाता है। तार और वैरन के संयोग के नाश के पश्चात् वैरन में दो प्रदेश से संयोग उत्पन्न होता है। उस संयोग और आश्रय के नाश विभाग का भी नाश हो जाता है

प्रश्न—क्या संयोग में संयोग और विभाग में विभाग होता है ?

उत्तर–संयोगविभागयोः संयोगविभागाभावोऽणुत्व महत्वाभ्यां व्याख्यातः ॥ ११ ॥

अर्थ—जिस प्रकार अणु और महत् अर्थात् छोटे और बड़े में विशेषता पाई जाती है उसमें परिमाण के गुण होने से दूसरा परिमाण नहीं रहता और नहीं कोई गुण रह सकता है। ऐसे ही संयोग और विभागादि नहीं रहे।

कर्मभिः कर्माणि गुणैर्गुणा अणुत्व महत्वाभ्यामिति ॥ १२ ॥

अर्थ—कर्म सदैव किसी कार्मिक (हरकत करने वाली) वस्तु में तो रहता है परन्तु कर्म में कर्म नहीं रहता और गुण द्रव्य में तो रहते हैं किन्तु गुणों में गुण नहीं होते। जिस प्रकार छोटे अथवा बड़े परिमाण में कोई गुण नहीं होता। तात्पर्य यह है, कि गुण में गुण और कर्म में कर्म रहना असम्भव है।

प्रश्न—अवयव और अवयवी में संयोग किस प्रकार नहीं?

उत्तर–युतसिद्ध्यः भावात् कार्य कारणयोः संयोग विभागो न विद्यते ॥ १३ ॥

अर्थ—विना सम्बन्ध एक से जियादा वस्तु की उपस्थिति का नाम युत सिद्धि है, अथवा दो पृथक् २ आश्रयों में रहने वाली वस्तु को भी युत सिद्ध कहते हैं परन्तु अवयव और अवयवी में युत सिद्धि नहीं पाई जाती, क्योंकि इन दोनों में सम्बन्ध है। यह विना सम्बन्ध के उपस्थित नहीं रहते। दूसरे इन दोनों का आश्रय भी एक ही होता है अर्थात् जिस स्थान पर मनुष्य खड़ा है उसी जगह पर मनुष्य के शरीर के अवयव

भी है, शरीर के अवयवों ने कोई अन्य स्थान नहीं घेरा । अतः कार्य और कारण में संयोग विभाग नहीं है, क्योंकि एक आश्रय में सम्बन्ध और भिन्नता दोनों में नहीं हो सकती जहां ये पाये जायंगे वहां साधिकरण नहीं कहलायेंगे ।

प्रश्न—क्या शब्द और अर्थ में संयोग सम्बन्ध है ? या और किसी प्रकार का सम्बन्ध है ?

उत्तर—गुणत्वात् ॥ १४ ॥

अर्थ—संयोग के गुण होने से शब्द के साथ के जो गुण है किस प्रकार सम्बन्ध हो सकता है और शब्द गुण का घट आदि द्रव्य के साथ भी सम्बन्ध नहीं होसकता, क्योंकि संयोग द्रव्य से द्रव्य का हो सकता है परन्तु शब्द गुण है इसलिये शब्द का अर्थ के साथ संयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता ।

प्रश्न—क्या गुण का गुण के साथ संयोग नहीं हो सकता ? अर्थात् शब्द का अर्थ जहां गुण हो वहां तो संयोग होगा ?

उत्तर—गुणोपिविभाव्यते ॥ १५ ॥

अर्थ—गुण भी शब्द का विषय है अर्थात् शब्द के द्वारा गुणों को भी कहा जाता है । अर्थात् कहते हैं, कि काला रूप, खट्टा रसादि, किन्तु उस रस और रूपादि के साथ शब्द का संयोग सम्बन्ध नहीं होता । तात्पर्य यह है, कि जिस प्रकार *शब्द गुण का द्रव्यों के साथ संयोग नहीं होता ऐसे ही गुणों* के साथ भी संयोग सम्बन्ध नहीं होता, क्योंकि संयोग कर्म से उत्पन्न होता है, किन्तु आकाशादि द्रव्य से न तो एक वस्तु कर्म करके मिल सकती है और नहीं दोनों के कर्म से संयोग होता है ।

प्रश्न—कर्म केकारण संयोग के न होने का क्या कारण है ?

उत्तर—निष्क्रियत्वात् ॥ १६ ॥

अर्थ—न तो शब्द ही कर्म करनेवाले हैं और नहीं जिस आकाश का का गुण शब्द है उसमें कर्म है और नहीं शब्द का अर्थ कर्म करके शब्द की तरफ जाता प्रतीत होता है । इन कारणों से स्पष्ट प्रतीत होता है, कि शब्द का अर्थ के साथ संयोग नहीं होता । इसके लिये और युक्ति देते हैं ।

अस्तिनस्तीति च प्रयोगात् ॥ १७ ॥

अर्थ—यदि शब्द का अर्थ के साथ संयोग होता तो जहां शब्द जाता वहीं अर्थ का होना भी आवश्यक होता, किन्तु हम इसके विरुद्ध देखते हैं अर्थात् घट जब नहीं होता तो कहते हैं, कि घड़ा नहीं है। यह कहना उस अवस्था में सम्भव है जब के घड़े का शब्द घड़े के साथ संयोग नहीं रखता वरन जहां शब्द घड़ा होगा वहीं घड़ा होगा। इसी प्रकार और वस्तुओं के अस्तित्व से जो इंकार किया जाता है उनके आगे बनने का वर्णन किया जाता है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है, कि शब्द और अर्थ का संयोग नहीं वरन किसी वस्तु की हस्ती से इंकार करना हीं सम्भव नहीं इस वास्ते अर्थ के साथ शब्द का न संयोग सम्बन्ध है नहीं समवाय सम्बन्ध है, क्योंकि यह दोनों सम्बन्ध जिन वस्तुओं में होंगे उनका एक साथ होना भी आवश्यक होगा।

शब्दार्थावसम्बन्धौ ॥ १८ ॥

अर्थ—यदि शब्द और अर्थ में संयोग ही नहीं है और नहीं समवाय सम्बन्ध है तो इस से स्पष्ट है, कि शब्द और अर्थ में किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं।

प्रश्न—संयोग और समवाय सम्बन्ध के अतिरिक्त और प्रकार का संबन्ध न होगा?

उत्तर-संयोगिनोदण्डात् समवायिनो विशेषाच्च ।१९।

अर्थः—दन्डी पुरुष, इस ज्ञान में दण्ड और पुरुष का संयोग संबंध है अर्थात् पुरुष के साथ दन्ड मिला हुवा होने से दण्डीपुरुष कहलाता है। और हाथी कुँजर इस ज्ञान में समवाय संबंध अर्थात् जिन अवयवों के संगठन का नाम हाथी है उन सम्पूर्ण अवयवों के मिले होने की अवस्था में ही हाथी का ज्ञान होसकता है दूसरी अवस्था में नहीं। इस वास्ते वह विशेषतया मिले होने से ही वह विशेष शकल उत्पन्न होकर अपने प्रकाश का कारण होती है। जिस प्रकार तारों के संगठन और कपड़े का ज्ञान एक साथ होता है जो कि

समवाय संबंध को बताता है ऐसा ही शब्द और उसके अर्थ का ज्ञान नहीं होता। इस वास्ते शब्द और अर्थ में न संयोग संबंध है और नहीं समवाय सम्बन्ध है।

प्रश्न—यदि शब्द और अर्थ में संयोग और समवाय सम्बन्ध नहीं, तो किस सम्बन्ध से शब्द नियमित अर्थों को प्रकाशित करता है।

सामयिकः शब्दार्थसम्बन्धः ॥ २० ॥

अर्थः—शब्द और अर्थ में जो सम्बन्ध है वह संकेत के स्थायी नियम दूसरी सोसाइटी के स्थायी नियम से होता है तात्पर्य यह है, कि शब्द दो प्रकार के है एक लौकिक दूसरे वैदिक वेद के शब्दों का अर्थ के साथ सम्बन्ध संकेत के स्थायी नियम से है अर्थात् इस शब्द से यह अर्थ लेना चाहिये। ऐसा नियम जो ईश्वर में परिमाणित कर दिया है। इससे वैदिक शब्दों के अर्थ का ज्ञान होता है और लौकिक शब्दों के अर्थों के लगाव जो सोसाइटी ने नियम परिमाणित कर दिये हैं। जिनके भरोसे हर कोषादि तैयार किये जाते हैं उसके द्वारा ज्ञान होजाता है, इस वास्ते शब्द और अर्थ में संकेत का सम्बन्ध है।

प्रश्न—वैदिक और लौकिक शब्दों के अर्थों का भेद किस प्रकार मालूम होसकता है और किस प्रकार इस बात का ज्ञान होता है, कि यह शब्द लौकिक है और यह वैदिक है क्योंकि दोनों एक से मालूम होते हैं।

उत्तर—वेद में सब शब्द लौकिक हैं रूढ़ी नहीं और लोक में रूढ़ी और योग रूढ़ी शब्दों को देखकर मालूम होजाता है, कि यह शब्द वैदिक है और यह लौकिक है और उसी के अनुसार अर्थ भी लिया जाता है।

प्रश्न—लौकिक शब्द किसे कहते हैं?

उत्तर—जो वस्तु के गुण को बतानेवाला गुणी है जैसे प्रत्येक धनी पुरुष को धनी कहना यह उसके गुण से विरुद्ध नहीं है, यद्यपि वेद का संसार के आदि में परमात्मा की ओर से उपदेश होता है इसलिये उसमें संपूर्ण गुण विशिष्ट नाम

होते हैं। जो किसी विशेष पुरुष पर दलालत नहीं करते, किन्तु गुणों को वताते हैं।

प्रश्न—रूढ़ी शब्द किसे कहते हैं ?

उत्तर—जहाँ शास्त्र के नियमित किये हुवे अवयवों से अर्थ का ज्ञान न हो, किन्तु एक श्रेणी ने उसको मान लिया हो। लोक में किसी निर्धन पुरुष का नाम धनपति रख देवे हैं। इसप्रकार शब्द और अर्थ का सम्बन्ध संकेत से होता है। वैदिक शब्दों का अर्थ ईश्वर के संकेत से लिया जाता है और लौकिक शब्दों का अर्थ सोसाइटी अथवा समूह के संकेत से ग्रहण किया जाता है। ईश्वर के एक ही शब्द के दो नियमित अर्थ नहीं हो सकते, किन्तु सोसाइटी के अनूकूल यह नियम नहीं है। जगत् की सम्पूर्ण भाषायें सोसाइटी के बनाये हुवे नियम पर स्थित हुई हैं। संस्कृत भाषा के लौकिक ग्रन्थों में विशेषतया सोसाइटी के नियमित नियमों से लिया जाता है, किंतु वैदिक भाषा का सोसाइटी से कोई सम्बन्ध नहीं, वेदों में रूढ़ी शब्द है इसलिये उनमें कोई अर्थाभास भी नहीं। जो मनुष्य यह बात नहीं जानते, कि वेदों में केवल यौगिक शब्द है वह वेदों में भी अपनी अल्पज्ञता से इतिहास बतलाते हैं, किंतु जानने वाले यास्काचार्यादि ऋषि इस के विरुद्ध हैं। इन दो प्रकार के शब्दों के अतिरिक्त योगरूढ़ि शब्द भी होते हैं। जहां पर रुढी नाम में गुण भी वैसे ही पाये जायें जैसे कि विशेष धनी का नाम धनपति रखागया। यद्यपि धनपति उसका नाम रुढी है किन्तु उसमें गुण भी पाये जाते हैं। परमात्मा का संकेत जाति से रहनेवाला होता है और सोसायटी का संकेत जाति और व्यक्ति दोनों में पाया जाता है इस वास्ते उसके दो भेद यौगिक और लौकिक किये जाते हैं प्रभाकर आचार्य के विचार में वस्तु और व्यक्ति को बताने वाली शक्ति का नाम ही संकेत है और पुराने आचार्यों के विचार में वस्तु व्यक्ति और शकल, इन पदार्थों का ज्ञान जिस शक्ति से होता है वही संकेत है तात्पर्य यह है, कि शब्द और अर्थ का स्थायी नियम के अनुसार सम्बन्ध है। वैदिक शब्दों का ईश्वर के

नियम से और लौकिक शब्दों का सोसाइटी के नियम से। अब देश के प्रसंग से परत्व और अपरत्व में जांच होगी।

एक दिक्काभ्यामेककालाभ्यांसन्निकृष्ट विप्रकृष्टाभ्यां परमपरञ्च ॥ २१ ॥

अर्थ—परत्व और अपरत्व दो प्रकार से उत्पन्न होते हैं। एक देश सम्बन्ध से दूसरे काल सम्बन्ध से।

प्रश्न—दिशा एक है। ऐसा बतला चुके हैं, और काल भी एक है यह बतला चुके हैं अतएव एकही काल और दिशा से दूरी और नजदीकी दो प्रकार की मुतज़ाद (राय) किस प्रकार उत्पन्न हो सकती है ?

उत्तर—यद्यपि एक ही काल और दिशा से परत्व और अपरत्व उत्पन्न नहीं होता, किन्तु बीच में दूरी की न्यूनता विशेषता से यह कहा जाता है यथार्थ में परत्व और अपरत्व की उत्पत्ति नहीं मानी जाती। जिस प्रकार उपचारक शब्दों को दूसरे स्थान में देखते हैं। जैसे कोई कहते हैं आगरा आ-गया यद्यपि, आना, शब्द आगरे में कहा गया है, किन्तु कहने वाले का स्पष्ठ तात्पर्य यही है, कि हम आगरे आ गये हैं। इस प्रकार बीच के फासले को परत्व और अपरत्व कहा जाता है

प्रश्न—यदि परत्व और अपरत्व की उत्पत्ति मानी जावे तो उसका समवाय और असमवाय कारण क्या होगा ?

उत्तर—उस दशा में दिशाऔर कालतो असमवाय कारण होंगे अन्य स्थानमें और वस्तु का जो मिलाप है वह असमवाय कारण कहलायगा। जैसे कि पूरबी आदमी का पूरबकी वस्तु के साथ निकट का सम्बन्ध जियादा है और दूसरी वस्तु के साथ थोड़ा सम्बन्ध इसी अपेक्षा से पूरबी वस्तुका अपरत्व और दूसरी ओर की वस्तुका परत्व सम्बन्ध होगा। एक ओर की वस्तु में भी फासले से परत्व और अपरत्व का खि-याल होगा जब कि परत्व और अपरत्व की उत्पत्ति को मान लिया जावे। और इन्द्रियों का संयोग और उनको संयोग, न

होना दोनों के कारण बतलादिये। इस प्रकार विषय के प्राप्त करनेवाले ज्ञानका उपलक्षण बतलादिया। ऐसे ही सम्बन्धी ज्ञानको निमित्त कारण कहा। हम बतलाचुके हैं कि एक ही तरफ़ वाली दो वस्तुओं में भी परत्व और अपरत्व पायाजाताहै। जब सब का कारण केवल देखनेवाले का अपेक्षा ज्ञान ही है तो प्रत्येक अवसर पर उत्पन्न होना चाहिये, किन्तु यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि अपेक्षा बुद्धि के नियम होनेसे प्रत्येक स्थानमें परत्व और अपरत्व की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है। यह प्रत्यक्ष सेप्रमाणित है। कारण कार्यका एक दूसरे के आश्रय होना ठीकनहीं किन्तु कार्य सदैव कारण की सत्तापर निर्भरहै वरन कोई वस्तु उत्पन्न ही न होसकती क्योंकि कारण की सत्ताके लिये कार्य पहले चाहिये और कार्य के वास्ते कारण की आवश्यक्ता है क्योंकि परत्व और अपरत्व का भान होता है।और भान होना बिनाउत्पत्ति के सम्भव नहीं। एक कालमें उत्पत्ति बतलानेसे संसार में भान होनेवाले अपरत्व का वर्णन किया एक काल से दो वस्तुओंके उत्पत्ति समयमें परत्व और अपरत्व का विचार उत्पन्न होताहै जिसकी उत्पत्तिसे उससमय थोड़ा फासला है वह निकट है और जिसकी उत्पत्ति से विशेष फासला है वह दूर रहता है इस स्थान पर भी गुण और गुणी का नमूना दिखलायाहै। उससे दो स्थानों पर बि, भाजित वस्तु जो समवाय कारण और काल और वस्तु का संयोग असमवाय कारण है। उनमें जिसे सीमातक बुद्धिको जाने में विशेष काल लगाना पड़ता है वह दूर है। जहांकम फासला है वह निकट है। यह परत्व और अपरत्व का ज्ञान नियमित स्थान वाली वस्तु में भी उत्पन्न होता है। जो मकान सम्बन्धी परत्व और अपरत्व होता है, उसका सात प्रकार से नाश होता है और उत्पत्ति दोनों की एक साथ होती है वरन् अन्योऽन्याश्रय होजाता है। सम्बन्धी ज्ञान के नाश होने से असमवाय कारण संयोग का नाश होता है संयोग के नाशसे वस्तु का नाश होता है जोकि असमवाय कारण है। और निमित्त असमवाय कारणोंके नाशसे, निमित्त समवाय कारण

के नाश से निमित्त का नाश होता है। अपेक्षा ज्ञानके नाशसे, तब तक दूर की उत्पत्ति होती है। जब तक दूर ही का सामान्य ज्ञान होता है उससे अपेक्षा ज्ञान के नाश से अपरत्व वस्तु के ज्ञान के अवसर पर अपरत्व का नाश होजाता है। जिस प्रकार प्रथम संख्या के विचार करते हुये अपरत्व के सम्बन्ध में बतलाया गया है। ऐसा ही इस अवसर पर भी विचार लेना चाहिये। असमवाय कारण के नाश से भी वह जैसे कि अपेक्षा बुद्धि है ऐसे ही दूसरे के आश्रयं रहने वाले शरीर में कर्म है उससे जिस समय में दूरी की उत्पत्ति होती है उसी समय दिशा और शरीर में विभाग होता है। उससे जब ही परत्व का सामान्य ज्ञान होता है तब ही स्थान और शरीर के संयोग का नाश होता है। उस सामान्य ज्ञान से अपेक्षा बुद्धि का नाश होजाता है। वही स्थान और शरीर के संयोग के नाश होने से परत्व अपरत्व का नाश होता है, क्योंकि अपेक्षा बुद्धि और परत्व का एकही समय में नाश होता है। इस वास्ते अपेक्षा बुद्धि परत्व को नाश करने वाली नहीं।

प्रश्न—नहीं; समवाय कारण के नाश से भी, गुण का नाश होकर आत्मा और मन के संयोग के नाश से भी संस्कार और अवशिष्ट फल के नाश से आत्मा बहुत व्याकुल होता है ?

उत्तर—ऐसा नहीं क्योंकि दूरी दो प्रकार होने से घिर रही है इस दूरी का जो आधार है, उसके दूसरे स्थान जाने में प्रयत्न में विशेषता का अभाव है। अपरत्व का पृथक् होना आवश्यक है तब दूसरा नाश करने वाला उस विरुद्ध युक्ति से संयोग का नाश ही नाश करने वाला अनुमान कर लेना चाहिये। संस्कार और अवशिष्ट आदि कार्यों का स्मृति के मुख से बहुत देर पश्चात् भी प्रतीत होने से उसके नाश होने को मानना ही ठीक नहीं। जो कुछ ऊपर दिखलाया गया है वह केवल नमूना ही है वरन् इस अवसर पर और भी विशेष विचार होसकता है।

प्रश्न—काल के सम्बन्ध से जो परत्व होता है उसमें क्या विशेषता है?

उत्तर—कारणपरत्वात् कारणापरत्वाच्च ॥ २२ ॥

अर्थ—परत्व और अपरत्व के समय का कारण जो समय है उसके

परत्व और अपरत्व का समवाय कारण जमाने का संयोग अर्थात् परत्व का समवाय कारण काल का संयोग और अपरत्व का समवाय कारण जो काल संयोग में कहा गया है परत्व और अपरत्व से परत्व और अपरत्व उत्पन्न नहीं होता इस वास्ते परत्व और अपरत्व का कारण काल में है इस गुण का विचारना चाहिये ।

प्रश्न—परत्व और अपरत्व में परत्व और अपरत्व क्यों नहीं ?

उत्तर—परत्वापरत्वयोः परत्वापरत्वाभावोऽणुत्व महत्वाभ्यां व्याख्यातः ॥ २३ ॥

अर्थ—परत्व और अपरत्व में दूसरा पहला आदि नहीं रहता । जिस प्रकार अणुत्व और महत्वादि का न होना प्रथम प्रमाणिक कर चुके हैं ऐसा ही परत्व और अपरत्व में विचार लेना चाहिये । जिस प्रकार वहाँ पर युक्ति में दो सूत्र दिये थे वही अब बतलाते हैं ।

कर्मभिः कर्माणि ॥ २४ ॥

अर्थ—कर्म में कर्म नहीं होता इसका वर्णन भी प्रथम होचुका है इस लिये दुबारा जियादा नहीं लिखा जाता ।

गुणैर्गुणाः ॥ २५ ॥

अर्थः—गुणों में गुण नहीं । इसका वर्णन भी पहले कर चुके हैं ।

प्रश्न—परत्व और अपरत्व तो संपूर्ण वस्तु में समवेत हैं अर्थात् उसका समवाय कारण सम्पूर्ण वस्तु है । ज्ञानादि का समवाय कारण आत्मा है अब बतलाइये; कि यह समवाय क्या वस्तु है ?

उत्तर—इहेदमितियतःकार्यकारणयोःस समवायः ॥२६॥

अर्थः—यहां पर कार्य कारण केवल नमूने के लिये वर्णन किया गया है । अकार्य और कारण में भी समवाय होता है जब दो वस्तु अन्योऽन्याश्रय की रीति पर आधार और आधेय पाये जावें, और उनमें से एक बिना दूसरे के न हो सके तो उनका जो सम्बन्ध इस स्थान पर है । इस ज्ञान को प्रकाशित

करता है, वही समवाय संबन्ध है। जो विना सम्बन्ध दो वस्तुओं में न रहे और सम्बन्ध वालों में रहे। उसे युत सिद्ध कहते हैं। जैसे कहते हैं इस स्थान में कूँडी में दही बेर आदि हैं, इन तारों में कपड़ा है, ऐसे द्रव्य में द्रव्य गुण और कर्म जिस प्रकार गौ में गोपना है इसी प्रकार आत्मा में ज्ञान है, और आकाश में शब्द है। इस प्रकार के ज्ञान की उत्पत्ति विना संबन्ध के नहीं हो सकती। इससे अनुमान किया जाता है कि कोई संबन्ध है यही संयोग संबन्ध तो है नहीं, क्योंकि उसकी उत्पत्ति के कारण कर्मादि का यहाँ पर नास्तित्व है दूसरे विभाग का भी अवसर नहीं है, क्योंकि संबन्ध वाली वस्तु को अन्योन्याश्रय होने से और नियमित प्रमाण के न होने से अप्रत्यक्ष और नित्य होने से।

प्रश्न—यदि समवाय एक ही है तो द्रव्यादि में रहनेवाले द्रव्यत्व से गड़बड़ होगा, क्योंकि कर्म में रहने वाले कर्मत्व के समवाय का भी द्रव्य होना सम्भव होने से?

उत्तर—ऐसा मत कहो, क्योंकि आधार और आधेय के नियम होने से गड़बड़ नहीं। यद्यपि द्रव्य के द्रव्यत्व का समवाय है वही गुण और कर्म के गुण और कर्मपने का समवाय है किंतु उनका आधार द्रव्य नहीं, क्योंकि कर्म और गुण का कर्मत्व गुणत्व द्रव्य में पाया जाता है। द्रव्यत्व में रहने वाला द्रव्यत्व द्रव्य में ही प्रतीत होता है। और गुण में रहने वाला गुणत्व में प्रतीत होता है। और कर्म में रहने वाला कर्मत्व कर्म में पाया जाता है। उनके अतिरिक्त और कहीं नहीं पाया जाता। इस वास्ते अन्वय और व्यतिरेक से यह नियम स्पष्ट है। जैसे दही और कूंडी के विशेष संयोग होने पर भी कूंडी ही आधार है, दही नहीं। यह आधार आधेय का नियम है। ऐसे ही वर्णन किया हुवा और वर्णन करने वाली शक्ति के भेद से यहां भी स्थायी नियम है। जिस प्रकार द्रव्य का द्रव्यत्व द्रव्य को प्रकाशित करता है उस प्रकार कर्मत्व द्रव्य को प्रकाशित नहीं करता। आधार के आधारत्व के विरुद्ध सही ज्ञान नहीं हो सकता और द्रव्य कर्म नहीं होता और कपड़े में तारें

नहीं होती। इससे वायु के रूप का आधार होनेपर भी हवा का रूप नहीं दिखाई देता, क्योंकि रूप वायु का स्वभाव नहीं है। इसलिये स्वभाव शक्ति ही प्रत्येक स्थान पर नियम स्थायी करने वाली है और नित्य है, क्योंकि उसका कोई कारण नहीं और उत्पन्न हुई वस्तु का समवाय कारण से उत्पन्न होने का नियम है अर्थात् कोई उत्पन्न हुई वस्तु विना समवाय कारण के उत्पन्न नहीं हुई और उसके कर्म से निमित्त और असमवाय कारण भी होते हैं। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है, कि यदि समवाय को नित्य माना जावे तो उसका समवाय कारण कोई अन्य समवाय होगा अथवा यही समवाय ही अपना समवाय कारण होगा यदि दूसरा समवाय स्वीकार करें तो अनुस्मिता दोष होगा। यदि उस समवायको समवाय का कारण कहें तो आत्माश्रय (अर्थात् अपनी पीठ पर आप चढ़ना) दोष होगा जो कि सम्भव नहीं।

प्रश्न—तारों में कपड़ा समवाय है और कपड़े में रूप समवाय है यह वर्णन विना एक से ज़ियादा माने कैसे होगा?

उत्तर—यह स्वरूप सम्बन्ध से होता है दूसरा समवाय मानने से अनवस्था दोष होता है।

प्रश्न—तो यह कपड़े का रूप है यह भी स्वरूप सम्बन्ध से होगा या समवाय सम्बन्ध से?

उत्तर—समवाय सम्बन्धसे। क्योंकि यहां कोई रुकावट नहीं है।

प्रश्न—भूतल पर घड़ा नहीं है। इस स्थान पर समवाय संबंध होगा या स्वरूप संबंध?

उत्तर—यहां समवाय सम्बन्ध नहीं किन्तु स्वरूप सम्बंध से ही सम्भव है। वरन घड़े का अभाव और घड़े का कपड़े में अभाव और कपड़े का घड़े में, जो अनेक में रहने वाला नित्य है बराबर हो जायगा, और कुछ भेद ही न रहेगा। और प्राक्भाव के समवाय से पैदा न होने से उसका नाश न हो सकेगा। ऐसे अवसर पर सत्ता के विवादास्पद न होने से प्रमाणित न हो सकेगा। भट्टाचार्य वशिष्ट नामी, एक पृथक् सम्बन्ध मानते हैं किन्तु यदि सम्पूर्ण नास्तिकत्व है, केवल

एक विशिष्ट सम्बंध ही सम्बंध है तो घड़े की उपस्थिति से घड़े का अस्तित्व ज्ञान सम्भव हो जायगा क्योंकि घड़े के अभाव के विशिष्ट से ही घड़े के अभाव के विशिष्ट न होने से वहां घड़ा ही घड़े के अभाव को रोकने वाला है। यदि ऐसा हो तो विशिष्ट के सम्बंध से ही रोकने वाले के अभाव का भी न होना मानते। न तो आश्रय और आश्रित वस्तु ही इस प्रकार की है और नहीं घड़े के अभाव का वर्णन हो सकता है। घड़े के उठा ले जाने के पश्चात् उसी स्थान पर घड़े का अभाव मालूम होने से वहां भी रूप के नाश के पश्चात् क्यों न रूपवान् का ज्ञान समवाय के नित्य और एक होने से होता यदि ऐसा कहो तो रूप के नाश से ही उसका वर्णन नहीं होता। अगले सूत्र में द्रव्यादि पांच पदार्थों से पृथक् समवाय को प्रमाणित करते हैं।

द्रव्यत्व गुणत्व प्रतिषेधोभावेन व्याख्यातः ॥२७॥

अर्थः—जिस प्रकार द्रव्य गुणादि पदार्थों से सत्ता एक पृथक् वस्तु है वह केवल ज्ञान द्वारा ही मालूम होती है ऐसे द्रव्य गुण कर्मादि से पृथक् असमवाय है। वह न द्रव्य में रहता है न गुण में, नहीं कर्म में किन्तु अस्तित्व से पृथक् है। अब उसका एक होना प्रमाणित करते हैं।

उत्तर—तत्वम्भवेन ॥ २८ ॥

अर्थः—जिस प्रकार सत्ता संसार के सम्पूर्ण पदार्थों में रहने पर भी एक है। इसी प्रकार समवाय भी एक है। जिस प्रकार सत्ता से इस तरह का ज्ञान होता है इसी प्रकार एक ही समवाय प्रत्येक स्थान पर एक समय रह कर बहुत है। इस प्रकार के ज्ञान की उत्पत्ति का कारण ही अपने निशान में विशेषता होने से द्रव्यादि से पृथक् है और किसी प्रकार के भेद ज्ञान करने वाली विशेषता के न होने से वह एक ही है तात्पर्य यह है, कि समवाय का कोई ऐसा निशान नहीं है जिससे समवाय का एक से ज़ियादा होना प्रमाणित होसके इस वास्ते देश और काल के भेद से मिलने के कारण वह अतीत्य है अनित्य होने के योग्य न होने से।

प्रश्न—यदि समवाय सम्बन्ध ही है तो तार और कपड़े और रूप से पृथक् हो सकता है ?

उत्तर—आधार आधेय होने में उसका पृथक्त्व नहीं हो सकता क्योंकि रूप गुण, और रूप वाले द्रव्य अथवा सम्पूर्ण और विभाग में जहां सम्बन्ध नहीं, समवाय उपस्थित नहीं जिस से पृथक्त्व हों।

प्रश्न—आधार व आधेय ही भिन्न हों ?

उत्तर—ऐसा होना असम्भव है, क्योंकि यह अनुभव के बिल्कुल विरुद्ध होने से

प्रश्न—प्रभाकर आचार्य समवाय को एक से जियादा और अनित्य मानते हैं ?

उत्तर—यह ठीक नहीं, क्योंकि रूपनाश हुवा, यह ज्ञान होता है। किन्तु रूप का समवाय नाश हुवा है यह ज्ञान नहीं होता।

प्रश्न—बहुत से मनुष्य समवाय को प्रत्यक्ष मानते हैं ?

उत्तर—यह भी ठीक नहीं क्योंकि समवाय इन्द्रियों से अनुभव नहीं होता, किन्तु इन्द्रियोंकी शक्ति से कालादि की तरह बाहर है।

सातवां अध्याय समाप्त हुआ।

वैशेषिक दर्शन भाषानुवाद

आठवां अध्याय

आन्हिक पहिला

आरम्भ।

अब इस आठवें अध्याय में बुद्धि अर्थात् ज्ञान की जांच करते हैं क्योंकि आत्मा के साधन के समय बुद्धि का वर्णन हुआ है अब उस की जांच करते हैं।

द्रव्येषु ज्ञानं व्याख्यातम् ॥ १ ॥

अर्थः—द्रव्यों में ज्ञान बतलाया गया है अर्थात् जो विषयों को ग्रहण करने वाली बुद्धि है उसका वर्णन तृतीय अध्याय में आ चुका है और ज्ञात रहे, कि बुद्धि, उपलब्धि और ज्ञान ये पर्याय वाचक शब्द हैं।

प्रश्न—महात्मा मनु ने लिखा है, कि बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है। जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है, कि बुद्धि ज्ञान का नाम नहीं क्योंकि ज्ञान गुण है और सांख्य दर्शन में भी बुद्धि को प्रकृति का प्रथम कार्य अर्थात् द्रव्य माना है।

उत्तर—महात्मा मनु ने ज्ञान शब्द का अर्थ वेद लिया है, जिस का तात्पर्य यह है, कि जीव की बुद्धि अर्थात् ज्ञान परमात्मा के ज्ञान अर्थात् वेद से शुद्ध होता है। जीवात्मा की बुद्धि और ज्ञान एक ही है। सांख्यदर्शन में बुद्धि गुण है महत् नाम मन का था। जिस का अशुद्ध अर्थ बुद्धि करके भेद कर दिया देखो—सांख्य दर्शन अ० १ सू० ७१।

प्रश्न—कोई बुद्धि को नित्य मानते हैं कोई अनित्य उस का क्या कारण है?

उत्तर—बुद्धि अर्थात् ज्ञान दो प्रकार का है। १—स्वाभाविक २—नैमित्तिक। स्वाभाविक तो जीवात्मा का धर्म और नित्य है

और नैमित्तिक, अन्तःकरण अर्थात् मनकीवृत्ति और अनित्य है। जिस शास्त्र में बुद्धि को अनित्य बतलाया हो वहां समझ लेना चाहिये, कि शास्त्रकार नैमित्तिक ज्ञान का वर्णन कर रहे हैं। और जहां नित्य बतलाया हो वहां स्वाभाविक का वर्णन. ऐसा विचार कर लेना चाहिये। अब इसके आगे बुद्धि के भेद कहते हैं।

तत्रात्मामनश्चाप्रत्यक्षे ॥ २ ॥

अर्थः—बुद्धि तीन प्रकार की है। १-सत्विद्या २-विद्या ३-अविद्या।

प्रश्न—सत् विद्या किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो ज्ञान तीन काल में एकसा रहने वाला है अथवा तीन काल में रहने वाले पदार्थों का जो ज्ञान है वह सत्विद्या है। तात्पर्य यह है, कि जिससे परमात्मा, जीवात्मा और परमाणुओं से सत्ता का ठीक ज्ञान होता है वह ज्ञान बदलने वाला न होने से सत् विद्या कहलाती है।

प्रश्न—विद्या किसे कहते हैं ?

उत्तर—जिस से, जैसा पदार्थ हो वैसा ज्ञान हो जावे उसे विद्या कहते हैं। विद्या चार प्रकार की है। १-प्रत्यक्ष—अर्थात् इन्द्रियार्थ के सम्बन्ध से जो ज्ञान उत्पन्न होता है। दूसरे लिङ्ग ज्ञान जो अनुमान द्वारा होता है। तीसरे स्मृति—जो पहले देखे सुने के स्मरण होने से ज्ञान उत्पन्न होता है। चौथे आर्ष—जो आप्त उपदेश से ज्ञान प्राप्त होता है।

प्रश्न—अविद्या किसे कहते हैं ?

उत्तर—जब वस्तु के वस्तुत्व को न समझकर भ्रम से और को और समझता है, तब उसे अविद्या कहते हैं। वह भी चार प्रकार की है। १ संशयज्ञान, २ विरुद्धज्ञान, ३ स्वप्नज्ञान, ४ जिसका आत्मा में विश्वास ही न हो। उनमें जो पदार्थ इन्द्रियों से अनुभव नहीं होते उनका ज्ञान अनुमान से होता है। इस सूत्र में आत्मशब्द से जीवात्मा और परमात्मा दोनों का तात्पर्य है। "मन" और शब्द "च" से काल दिशा, आकाशादि, उनका ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं होता किंतु अनुमानादि से होता है यह सूत्र कार का तात्पर्य है। और

प्रत्यक्ष ज्ञान भी दो प्रकार का है । १ योगियों का दूसरा अन्यों का । योगियों का ज्ञान पदार्थों की ठीक २ योग्यता, का बतलाने वाला होता है और अन्यों के प्रत्यक्ष में भी अशुद्धि होना सम्भव है।

प्रश्न—औरों का प्रत्यक्ष अशुद्ध होना किस प्रकार सम्भव है ?

उत्तर—औरों के प्रत्यक्ष के वास्ते इन्द्रियों के अतिरिक्त सहायकों की अवाश्यका है यदि सहायकों में कमी है या वह ठीक नहीं तो ज्ञान में अशुद्धि हो जाती है। जैसे थोड़ी रोशनी और अंधेरे में रस्सीको साँप जानते हैं। तोआंख से सहायक रोशनी की कमी के कारण से यह भ्रम हुआ है, किन्तु योगियों को सहायक की आवश्यका नहीं होती । इस वास्ते उनका ज्ञान ठीक पूरा कहाता है

[illegible] सर्वज्ञ हो सकता है या नहीं ?

[illegible]—पुरुष से तात्पर्य जीवात्मा परमात्मा दोनों हैं। परमात्मा सर्वज्ञ है। जीवात्मा किसी अवस्था में एक देशी होने के कारण सर्वज्ञ नहीं हो सकता। योगी तत्वज्ञ होता है और साँसारिक जनों में विरुद्ध ज्ञान भी हो सकता है और इतरजनों का प्रत्यक्ष भी दो प्रकार का है एक संशय युक्त दूसरा संशय रहित । जो संशय युक्त है वह तो प्रमाण ही नहीं जैसे रस्सी में सर्प आदि ।

ज्ञाननिर्देशे ज्ञाननिष्पत्ति विधिरुक्तः ॥ ३ ॥

अर्थ—ज्ञान जिस कारण से जिस प्रकार उत्पन्न होता है उसी प्रकार का ज्ञान कहलाता है। अर्थात् जिस विषय का ज्ञान और जिस प्रकार का ज्ञान हो और जिस धर्मवाला ज्ञान हो उसके वर्णन करने में उसकी उत्पत्ति के कारण को साथ लेकर वर्णन होता है जैसे चक्षु द्वारा जो प्रत्यक्ष होता है उस का नाम चाक्षुक प्रत्यक्ष है इसीप्रकार और भेदोंमें भी विचार लेना चाहिये।

प्रश्न—उत्पत्ति की विधि किस प्रकार की है ?

उत्तर—गुणकर्मसु सन्निकृष्टेषु ज्ञान निष्पत्तेः द्रव्यं कारणम् ॥ ४ ॥

अर्थ—रूपादि गुण, और उत्क्षेपणादि कर्मों में जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसमें द्रव्य कारण है। गुण और कर्म द्रव्य में उत्पन्न ही अनुभव होते हैं। विना द्रव्य के अकेले गुण कर्म का ज्ञान कहीं नहीं होता। द्रव्य का अनुभव योग्य होना भी कारण है। यदि द्रव्य अनुभव योग्य न हो तो उसके गुण और कर्म अनुभव नहीं कर सकते। उनका द्रव्य में ही इन्द्रियों से सम्बन्ध होता है। यद्यपि कपूर और चन्दनादि के छोटे २ परमाणुओं से भी सुगन्ध का अनुभव करते हैं, किन्तु तौ भी उसमें इतना द्रव्य अवश्य है कि उसको अनुभव कर सकें यद्यपि शब्द के मालूम करने में द्रव्य अनुभव योग्य नहीं है तोभी द्रव्य में रहता हुवा ही शब्द मालूम होता है। आकाश से पृथक् शब्द का ज्ञान नहीं हो सकता।

प्रश्न—जो सम्बन्ध प्रत्यक्ष नहीं। उसकी कल्पना क्यों करते हैं?

उत्तर—ज्ञान की उत्पत्ति में कार्य से ही कारण का मानना आवश्यक है, क्योंकि विना कारण के कार्य होता ही नहीं ज्ञान के उत्पन्न होने की और विधि बतलाते हैं।

सामान्य विशेषेषु सामान्याविशेषभावात् तत एव ज्ञानम् ॥ ५ ॥

अर्थः—सामान्य और विशेष्य द्रव्य गुण और कर्म में स्थित अस्तित्व जो उनकी सत्ता को (महसूस) करता है। चुनता है। फिर उन द्रव्य गुण कर्ममेंभूमि, जल आदि में रहने वाला अस्तित्व जो सामान्य द्रव्यों से चुनता हैं। इस अवसर पर द्रव्य में स्थित सामान्यता और आधार की विशेषता से और उस के सम्बन्ध से समवाय सबन्ध से सम्पूर्ण इन्द्रियों के गुण के ज्ञान होने से संकेत समवाय सम्बन्ध से ज्ञान की उत्पत्ति होती है। तात्पर्य यह है कि सामान्य और विशेष में सामान्य विशेष के न होने से ज्ञान की उत्पत्ति होती है। जो द्रव्य अपने द्रव्यत्व से सामान्य है वही सत्ता की अपेक्षा विशेष है। इस वास्ते सत्ता के अतिरिक्त और कोई वस्तु सामान्य नहीं। सामान्य और विशेष अपेक्षा

से होना है यह अपेक्षा ज्ञान से सम्बन्ध रखती है। इस वास्ते बतलाया, कि ज्ञान इस प्रकार भी उत्पन्न होता है।

प्रश्न-क्या जिस प्रकार सामान्य और विशेषमें सामान्य और विशेषके न होने से विना दूसरे की आवश्यकता से ज्ञान होता है। ऐसे ही द्रव्य गुण कर्ममें भी विना आवश्यकताके ज्ञानहोता ?

सामान्य विशेषापेक्षं द्रव्य गुणकर्मसु ॥ ६ ॥

अर्थ—द्रव्य गुण कर्म में जो द्रव्य, गुण, कर्म का अस्तित्व से चुनी हुई बुद्धि अर्थात् विशिष्ट ज्ञान के साथ इन्द्रिय और वस्तु के सम्बन्ध उत्पन्न होता है। उसमें सामान्यता और विशेषता की आवश्यका अवश्य होती है। वह विना आवश्यका उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि यह द्रव्य है, यह गुण है, यह कर्म है यह विशिष्ट ज्ञान अपनी उत्पत्ति के वास्ते जरूरत रखता है। विना जरुरत उत्पन्न नहीं होता यह तात्पर्य है।

प्रश्न—क्या द्रव्य में भी सामान्य और विशिष्ट की आवश्यका ही से ज्ञान होता है ?

उत्तर—द्रव्ये द्रव्यगुण कर्मापेक्षम् ॥ ७ ॥

अर्थः—द्रव्य में द्रव्य, गुण और कर्म की अपेक्षासे ज्ञान उत्पन्न होता है। जैसे किसी ने कहा, कि घंटे वाली सफ़ेद गायजाती है इसमें गाय द्रव्य है,घंटा उसमे विशेषता उत्पन्न करनेवालाहै और सफेद गुण है और जाना कर्म है इस वास्ते विशेष को जाने विना विशिष्ट का ज्ञान नही होसकताऔर नहीं सम्बन्ध के बिना विशेष्य होसकता है। तात्पर्य यह है किद्रव्य ज्ञानमें द्रव्य गुण और कर्म की जरूरत रहती है विना उनके द्रव्यका ज्ञान नहीं होता,

प्रश्न—क्या गुण कर्मके ज्ञानमे भी गुण कर्मकी आवश्यका है यानहीं

उत्तर—गुण कर्मसु गुणकर्माभावाद् गुण कर्मापेक्षं न विद्यते ॥ ८ ॥

अर्थः—गुण, कर्म में गुण कर्म के न होने से उनके ज्ञान में गुण कर्म की आवश्यका नहीं, क्योंकि गुण में विशेष गुण के न होने

से और कर्म में किसी विशिष्ट कर्म का ज्ञान नहीं होता। इस से स्पष्ट प्रतीत है, कि गुण कर्म के ज्ञान में किसी गुण कर्म की जरूरत नहीं।

प्रश्न—गुण कर्म के अनुभव होनेसे गुण ज्ञान और कर्म ज्ञान होकर उन गुण कर्म की आवश्यक्ता नहीं?

उत्तर– समवायिनः श्वैत्या च्छ्वैत्य बुद्धेश्च श्वेते बुद्धिः ते एते कार्यकारण भूते॥ ६॥

अर्थः—समवाय सम्बन्ध के न होने से गुण कर्म के ज्ञान में गुण कर्म की आवश्यक्ता नहीं। जिस प्रकार द्रव्य में द्रव्य गुण का समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। ऐसे ही गुण कर्म में गुण कर्म समवाय सम्बन्ध से नहीं होता। इस वास्ते उनके ज्ञान में गुण कर्म की ज़रूरत नहीं। जैसे "संख" सफ़ेद है इस अव- सर पर संख जो द्रव्य है, उस में यह विशेष्य समवाय संबंध से रहते हैं। इस वास्ते संख के ज्ञान में उसकी आवश्यक्ता है, किन्तु गुण कर्म में कोई विशेषता नहीं रहती, क्योंकि विशेष्य के साथ विशिष्ट वस्तुका ज्ञान ही विधि ज्ञान का कारण है। इस वास्ते स्पष्ट प्रतीत है, कि गुण कर्म में गुण कर्म के सम- वाय सम्बन्ध से न रहने से उसकी आवश्यक्ता नहीं।

प्रश्न—गौ घंटेवाली है। इस स्थान में द्रव्य के ज्ञान में द्रव्य की आवश्यक्ता है। इसी प्रकार खंभा है और यह घड़ा है। इस अवसर पर द्रव्य की विशेषता जानने में द्रव्य का जानना कारण है। जिस स्थान पर प्रथम द्रव्य का ज्ञान न हो तो वहां किस प्रकार द्रव्य का ज्ञान होगा?

उत्तर–द्रव्येष्वनितरेतर कारणाः॥ १०॥

अर्थः—द्रव्यों के ज्ञान में एक दूसरे द्रव्यों को कारण नहीं कह सकते यद्यपि खंभे के ज्ञान के बाद भी घड़े का ज्ञान होतो भी खंभे का ज्ञान घड़े के ज्ञान का कारण नहीं।

प्रश्न—घड़े और कपड़े आदि का प्रसंग प्रतीत होता है और प्रसंग कारण और कार्य में होसकता है।

उत्तर—कारणाऽयौगपद्यात्कारणक्रमाच्च घटपटादि बु-
द्धीनामक्रमो, नहेतु फलभावात् ॥ ११ ॥

अर्थः—घड़े कपड़े आदि के ज्ञान के प्रसंग को जो कार्य और कारण के अधिकार में दिया है यह युक्ति ठीक नहीं। तात्पर्य यह है कि ज्ञानके प्रसंग के कारण कार्यका प्रसंग के कारण से नहीं, किन्तु मनका गुण है, कि वह एक समय में दो ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। इस वास्ते न तो ज्ञान के कारण एक साथ उत्पन्न हो सकते हैं और नहीं एक साथ दो ज्ञान उत्पन्न हो सकते हैं। मनके बिना ज्ञान होना असम्भव है। और मन एक समय में एक ही ज्ञान प्राप्त करता है। इसलिये ज्ञान का प्रसंगानुरूप होना उनके कारण कार्य का प्रसंग प्रमाणित नहीं कर सकता। इसके लिये प्रसंग की युक्ति हेतु नहीं, किन्तु हेत्वाभास है।

आठवें अध्याय का पहला आन्हिक समाप्त।

वैशेषिकदर्शन भाषानुवाद

आठवां अध्याय

आन्हिक दूसरा

प्रारम्भ।

पिछले आन्हिक में संकल्प अर्थात् शम्य और सन्देह से मिले हुवे प्रत्यक्ष की जांच करके अब विशिष्ट और विशेष्य प्रत्यक्ष की जांच करते हैं।

अयमेषत्वयाकृतं भोजयैनमिति बुद्ध्यपेक्षम्॥१॥

अर्थः—जिसवस्तु के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होता है उसमें, वह ही ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है। और जिस वस्तु के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध नहीं उसकी अपेक्षा, वह ही, ऐसा ज्ञान पैदा होता है। यह करने में स्वतंत्र है। यह ज्ञान में रखकर तूने किया है। इस प्रकार का ज्ञान होता है। कठिन काम के ज्ञान के काम की अपेक्षा से होगया। किया है कर्म यह ज्ञान उत्पन्न होता है। खाने के कर्म को ख्याल रखकर उस के कर्त्ता को कहते हैं, कि खाता है। इस प्रकार के सब सम्बन्ध ज्ञान की अपेक्षा से होते हैं। जिस प्रकार का ज्ञान होता है वैसे ही सम्बन्ध का शब्द से वर्णन किया जाता है। ऐसा प्रत्येक स्थान में विचार लेना।

दृष्टेषु भावाददृष्टेष्वभावात्॥ २२॥

अर्थः—जब बुद्धि के समीप विषय होता है तो "यह" जब लुप्त विषय होता है तो 'वह' बुद्धि में स्थित स्वीकार किया जाता है। तू है, इस ज्ञान में उपस्थित करने वाला क्या है इस ज्ञान में कर्म कहलाता है। इस ज्ञान में जिसमें लगाता है और लगाने वाला विषय नहीं। यह दोनों, इस ज्ञान में वह

दोनों का विषय है। जब उपस्थित होता है तब ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है। और लुप्त विषयों में इस प्रकार के ज्ञान उत्पन्न नहीं होते। यह केवल अन्वय और व्यतिरेकसे मालूम होता है। अब दूसरे प्रकरण अर्थात् विषयों को आरम्भ करते हैं।

अर्थ इति द्रव्यगुण कर्मसु ॥ ३ ॥

अर्थ—जिस अवसर पर अर्थ किया जावे त. ५५. * शेषिक शास्त्र के अनुसार द्रव्य, गुण और कर्म ही को समझना चाहिये, क्योंकि यह वैशेषिक शास्त्र का प्रचलित शब्द है। अर्थ शब्द से तीनों का वर्णन होने से परशिष्ट पादाचार्य ने भी लिखा है अर्थ शब्द से तीनों का वर्णन होता है।

दूसरा विषय—

द्रव्येषुपञ्चात्मकत्वं प्रतिषिद्धम् ॥ ४ ॥

०.—द्रव्यों में जो शरीर इन्द्रिय आदि कार्य द्रव्य हैं वह पांच भूतोंसे बनी हुई हैं उसकी (तरदीद) विरुद्धता करते हैं। जैसे एक शरीर के बहुत से उपादान कारण नहीं इस से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जो इन्द्रिय जिस भूत की बनी हुई है उसी के नियमित विषय को ग्रहण करती है दूसरे भूत की इन्द्रिय दूसरे भूत के विषय एक २ भूतके नियमित विषय हैं। इस वास्ते उनकी ग्रहण करने वाली इन्द्रियां भी एक भूत से उत्पन्न हुई स्वीकार करनी चाहिये। जिस मतलब से यह सूत्र कहा गया है, आगे उस मतलब को बताते हैं।

भूयस्त्वात् गन्धवत्त्वाच्च पृथिवी गन्धज्ञाने प्रकृतिः ॥ ५ ॥

अर्थः—गन्ध जिस इन्द्रिय से जानी जाती है, उसकी प्रकृति अर्थात् उपादान कारण पृथिवी है। क्यों उपादान कारण जमीन है? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं, गन्धवती होने से, क्योंकि बिना गन्ध के गन्धवती नहीं हो सकती। गन्धवती होने से घ्राणेन्द्रिय द्वारा स्पष्ट अनुभव होता है। इस नियम से स्पष्ट प्रमाणित है कि पृथिवी गन्धवती है।

प्रश्न--शरीर के अन्य अवयव गन्ध को ग्रहण नहीं करते केवल नासिका ही ग्रहण करती है इसका क्या कारण है ?

उत्तर--यद्यपि और जगह शरीर के अवयवों में अन्य इन्द्रियों को दवाने की शक्ति नहीं, किन्तु नासिका में पृथिवीके परमाणुओं द्वारा यह शक्ति है अर्थात् अन्य इन्द्रियों के दवाने योग्य गौणिक अवयवों से बने होने के कारण नासिका में गन्ध ग्रहण करने की शक्ति है।

तथापस्तेजोवायुश्चरसरूपज्ञानेऽविशेषात् ॥ ६॥

अर्थः--इसी प्रकार रसना इन्द्रिय की प्रकृति अर्थात् उपादानकारण जल, और चक्षु का उपादान कारण तेज अर्थात् अग्नि, और स्पर्श त्वचा का उपादान कारण हुवा, क्योंकि उसी भूत के विषय को नियमित तौर पर अनुभव करने वाली हैं।

प्रश्न--यह किस प्रकार नियम हो सकता है, कि सम्पूर्ण शरीर में अग्नि उपस्थित हो, परन्तु रूप का देखना केवल चक्षु द्वारा ही सम्भव हो अन्य अवयवों से न हो।

उत्तर--यहां भी वही दबाने योग्य अवयवों से उत्पन्न होने की अपेक्षा ही से नियम है। जैसा कि पिछले सूत्र में नासिका सम्बंधी बतलाया गया है। इसी प्रकार आकाश की इन्द्रिय कान को भी समझ लेना चाहिये।

आठवां अध्याय समाप्त हुआ !

नवाँ अध्याय

आन्हिक पहिला
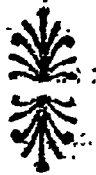
आरम्भ।

क्रियागुणव्यपदेशाऽभावात प्रागसत् ॥ १ ॥

अर्थः—कार्य अपनी उत्पत्ति से नहीं होता, क्योंकि उस समय में अपने उत्पन्न करने वाले के अभाव का होना उस में युक्ति है। कि क्रिया और गुण के न होने से यदि उस समय भी काय होता अर्थात् घड़ा कपड़ा आदि कार्य अपनी उत्पत्ति से प्रथम उपस्थित, होते तो जिस प्रकार उत्पन्न होने के पश्चात् घड़ा पड़ा हुवा, घड़ा चलता है. यह घड़ा खूबसूरत है। इस प्रकार का व्यौपार होता है। उत्पन्न होने से पहले होता किन्तु उत्पत्ति से प्रथम वैसा दृष्टिगत नहीं होता, जिससे स्पष्ट प्रतीत है, कि घड़ा उस समय मौजूद नहीं। कुम्भकार को चाकपर घड़ा बनाते हुवे देखकर और जुलाहे को तारों से ताना बाना बनाते हुवे देखकर इस जगह घड़ा बनेगा यह सब मनुष्य प्रत्यक्ष से अनुभव करके कहते हैं और वह हमारी आँखों के सामने पैदा होते नज़र आता है।

प्रश्न—उत्पत्तिसे प्रथम भी घड़ा उपस्थित था, कारण की क्रियाओंसे मालूम होगया। जैसे किसी मकान के अन्दर कोई वस्तु हो और वह दृष्टिगत न होती हो उसको कोई मकान खोल कर निकाल लावे तो निकालने से प्रथम उसका अभाव नहीं होगा।

उत्तर—यदि प्रथम ही मौजूद होता तो कपाल आदि के प्रसंग से नहीं बनता। जिसप्रकार अन्दर या से निकाल लाते हैं। उसी प्रकार पूरा निकल आता परन्तु सदैव इसके विरुद्ध दृष्टिगत

होता है। प्रथम कार्य के अवयव बनते हैं फिर उनके संयोग से कार्य बनता है।

उत्तर—यदि कारण में कार्य उत्पत्ति से प्रथम न होता तो उपादान कारण का नियम न होता, अर्थात् मट्टी से घड़ा बनजावे कपड़ा न बने, तारों से कपड़ा न बने घड़ा न बने यह नियम नहीं?

उत्तर—उपादान कारण में बनने की शक्ति और कर्ता में बनाने की शक्ति होती है, किन्तु कार्य मौजूद नहीं। कार्य इन दोनों शक्तियों के ज्ञान के अनुसार संयोग से उत्पन्न होता है।

प्रश्न—यदि उपादान कारण में बनने की शक्ति के स्थान में तिरोभाव माना जावे और कारण की क्रियाओं से उनका जाहिर होना माना जावे तो क्या हानि है?

उत्तर—इस प्रकार कार्य कारण में सांसारिक व्यवधान के स्थान में स्थानिक व्यवधान स्वीकार करना पड़ा अर्थात् कार्य यहां और कारण किसी अन्य स्थान पर, जोकि सिद्धान्त के विरुद्ध है। इस वास्ते कार्य उत्पत्ति से प्रथम उपस्थित नहीं ऐसा ही मानना ठीक है। कार्य के नाश के पश्चात् भी उस के अभाव को प्रमाणित करके उसका उत्पत्ति से प्रथम अभाव साबित करते हैं।

सदसत् ॥ २ ॥

अर्थः—जिस प्रकार कार्य अर्थात् उपादान कारण और कर्ताके बनाने से प्रथम प्रत्यक्ष और अनुमान से कार्य का अभाव साबित होता है। ऐसे ही नाश के कारण के सम्बन्ध और क्रियाओं के पश्चात् भी उस घड़े आदि कार्य का अभाव सिद्ध होता है। उत्पत्ति के प्रथम के अभाव का नाम प्रागभाव और नाश होने के पश्चात् के अभाव का नाम विध्वंसाभाव है।

प्रश्न—घड़ा ही विशेषावस्था में टूटने के व्यापार अर्थात् क्रिया को स्वीकार करता है, नकि घड़े के अतिरिक्त उसका विध्वंस अर्थात् नाश होता है?

असता क्रियागुण व्यपदेशाभावादर्थान्तरम् ॥ ३ ॥

अर्थः—सत्ता से अभाव किस प्रकार होजाता है उसके उत्तर में लिखते हैं, कि जिस प्रकार घड़े के नाश के पहिले घड़ा पड़ा हुआ, चलता हुआ नजर आता है और उसके रूप और आकार का भी ज्ञान होता या नाश के पश्चात् ऐसा नहीं होता। इस से स्पष्ट प्रतीत होता है कि घड़े का अभाव हो गया, क्योंकि जो वस्तु उपस्थित है उसके गुण का ज्ञान होता है और उस समय यह कहते हुये भी नहीं सुनते, कि इस घड़े को ले चलो यह घड़ा घड़ा खूबसूरत है। जिससे उसका अभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। प्राग्भाव और विध्वंसाभाव को बतलाकर अब अन्योऽन्याभाव भी अर्थात् एक का अभाव दूसरी वस्तु में है, इसको साबित करते हैं।

सच्चासत् ॥ ४ ॥

अर्थः—जहाँ घड़े की उपस्थिति में उसके अभाव का वर्णन किया जाता है, जैसे कहते हैं कि गौ ऊंट नहीं और ऊंट गौ नहीं। इससे गौ और ऊंट का अभाव तो साबित नहीं होता इससे " नहीं " शब्द से जाहिर है, कि उनमें तादात्म्याभाव अर्थात् उसमें उसका अभाव है और उसमें उसका अभाव है। यह अभाव दो प्रकार के अभाव से पृथक् तीसरे प्रकार का अभाव है। क्योंकि वस्तुकी उपस्थिति में उस का अभाव है। वस्तु की उत्पत्ति से प्रथम नहीं और नहीं उसके नाश के पश्चात् उसका नाम अन्योन्याभाव अर्थात् एक में दूसरे का अभाव है। और यह अभाव हमेशा रहने वाला है, क्योंकि घड़े का कपड़ा और कपड़े का घड़ा होना किस प्रकार असम्भव है। वह सर्वदा पृथक् २ ही रहेंगे। इस वास्ते जिस प्रकार पहली और दूसरी तरह का अभाव अनित्य है उसके विरुद्ध यह अभाव अनित्य है।

यच्चान्यदऽसदतस्तदऽसत् ॥ ५ ॥

अर्थः—उन तीन प्रकार के अभावों के अतिरिक्त जो अभाव है वह अत्यन्ताभाव है, क्योंकि प्राग्भाव के पश्चात् नाश होजाता है। अर्थात् वस्तु की उत्पत्ति से उसका अभाव नहीं रहता। और विध्वंसाभाव का नाश होने से प्रथम अभाव है। अर्थात्

जब तक किसी वस्तु का नाश नहीं हुआ तब तक उसका विध्वंसाभाव उपस्थित ही नहीं। और अन्योऽन्याभाव विपक्षी में रहता है और अपनी सत्ता में नहीं रहता। परन्तु अत्यन्ता भाव इन तीनों का विपक्षी अभाव है।

अब दूसरे विषय को आरम्भ करते हैं।

असदिति भूत प्रत्यक्षाभावात् भूतस्मृते विरोधि प्रत्यक्षवत् ॥ ६ ॥

अर्थः—नहीं है, यह कारण में प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। उससे घड़ा नहीं है, घड़ा नाश होगया अब घड़ा टूटगया इस प्रकार का प्रत्यक्ष का ज्ञान होता है। इससे विरुद्ध उदाहरण प्रत्यक्ष की तरह मालूम होता है। ऐसे ही उनके टूटने का भी प्रत्यक्ष से ज्ञान होता है। उसका कारण बतलाते हैं। गुज़रे हुवे के प्रत्यक्ष न होने से पृथिवी पर उत्पन्न हुये और नाश हुये घड़े आदि में प्रत्यक्ष न होने से घड़े का यथार्थ ज्ञान नहीं होता। उसमें यह तर्क उत्पन्न होती है कि यदि यहां घड़ा होतो जिस प्रकार पृथिवी दीखती है उसी प्रकार घड़ा भी दीखता, यद्यपि दिखाई नहीं देता इस वास्ते नहीं हैं। इसके अभाव का प्रमाण भूत का स्मरण होना भी घड़े आदि न रहने पर उसकी स्मृति अर्थात् याद आना उसके उपस्थित अभाव का प्रमाण है।

तथा भावे भावप्रत्यक्षत्वाच्च ॥ ७ ॥

अर्थः—यद्यपि यह अभाव का शब्द सामान्य है किन्तु विषय के कारण प्रागभाव है। जैसे होते समत प्रत्यक्ष ज्ञान होता है ऐसा ही प्रगभाव में ज्ञान होता है सत्ता के प्रत्यक्ष होने से मौजूदा तारआदिके संग्रहको प्रत्तक्ष देखनेसे अर्थात् इन्द्रियों द्वारा भास करने से, अथवा भाव का विरुद्ध जो अभाव है। उसका प्रत्यक्ष होवे से यद्यपि प्रागभाव अनादि है, किंतु उसका अंत है और विध्वंसाभाव जो वस्तु के नाश होने के पश्चात् होता है। यद्यपि उसका आदि है परंतु अन्त नहीं। इस वास्ते यह दोनों अभाव की अवस्था विचार लेनी चाहिये वरन् आदि वाली वस्तु का ही अन्त होता है। दूसरी का नहीं।

अब (अन्योन्याभाव) अर्थात् एक का अभाव दूसरे में को प्रत्यक्ष बतलाते हैं ।

एतेनाऽघटोऽगौऽधर्मश्च व्याख्यातः ॥ ८ ॥

अर्थः—उपरोक्त बातों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है, कि गौ के जो गुण हैं वह प्रत्यक्ष से घड़े में नहीं पाये जाते और जो घड़े के गुण हैं वह गौ में नहीं पाये जाते । इससे घड़े का गौ न होना और गौ का घड़ा न होना प्रत्यक्ष प्रमाण से साबित है इस वास्ते अन्योऽन्याभाव अर्थात् एक का अभाव दूसरे में प्रत्यक्ष होता है । अन्योन्याभाव के मालूम करने में विपक्षी की योग्यता की आवश्यक्ता नहीं, परंतु जिस आधार में वह गुण रहते हैं उसकी योग्यता ज़रूरी है । गौ में घड़े के आका-रादि का गुण मौजूद नहीं इस वास्ते गौ घड़ा नहीं हो सकती ऐसे ही और वस्तुओं में विचार लेना चाहिये ।

प्रश्न—दो विरुद्ध वस्तुओं के मालूम होने पर ही (अन्योऽन्याभाव) अर्थात् एकका दूसरे में अभाव का ज्ञान हो सकता है

उत्तर—नहीं, अवयवी कारण अर्थात् आश्रय में रहने वाला जाना हुवा अधर्म ही उसको पृथक करने वाला है न कोई दूसरी वस्तु उसको उससे पृथक् अर्थात् उसका उसमें अभाव साबित करने वाली है । अब अत्यन्ताभाव की बाबत बयान करते हैं

अभूतं नास्तीत्यनर्थान्तरम् ॥ ९ ॥

अर्थः—(गुज़र गया) (अब नहीं है) यह ज्ञान विध्वंसाभाव को जाहिर करता है । और गुजर गया न कह कर केवल यह कहना, कि नहीं है । इस अभाव से अत्यन्ताभावका ही प्रत्यक्ष होता है । तात्पर्य यह है, कि जहां उत्पत्ति व नाश को न बतला कर केवल अभाव का वर्णन किया जाता है वह अत्यन्ताभाव ही होता है । और (अनर्थान्तरम्) कहने से अन्योन्याभाव को भी पृथक् कर दिया है । तात्पर्य यह है, कि जो वस्तु न कभी हुई हो और न होने की आशा हो । उस वस्तु का उस अवसर पर अत्यन्ताभाव मानना चाहिये । भूत काल और भविष्यत कहने से तो प्रागभाव

और विध्वंसाभाव से पृथक् किया और उस आश्रय में नहीं यह ज्ञान का कारण बतलाया। इस वास्ते यह तीन काल में रहनेवाला अभाव अर्थात् अत्यन्ताभाव है स्पष्ट प्रतीत होता है

प्रश्न—घर में जो घड़े का अभाव है। वह अत्यन्ताभाव नहीं और इस अवसर पर दूसरे स्थान पर घड़ा होने से प्रगभाव भी नहीं है। और घड़े के नाश का प्रमाण न होने से विध्वंसाभाव भी नहीं है। क्योंकि वह समवाय कारण में रहने वाले हैं और जिसकी उत्पत्ति और नाश हो वह अत्यन्ताभाव नहीं, क्योंकि उत्पत्ति और नाश वाले का अत्यन्ताभाव का हठ है। और नहीं चौथा अर्थात् अन्योऽन्याभाव है।

नास्ति घटो गेहे इति, सतोघटस्यगेह संसर्ग प्रतिषेधः ॥ १० ॥

अर्थः—घर में घड़े का जो संसर्ग अर्थात् संयोग है, उसका होना आदि क्या है। यदि कभी भी घड़ा नहीं तो अत्यन्ताभाव है यदि कहा होगा तो प्रागभाव है, यदि कहो था वह नाश हो गया तो विध्वंसाभाव है तो भी घरसे घड़े का संयोग नहीं है। कहने से होना चाहिये। तो यहां कहने से होना चाहिये इसके क्या अर्थ होंगे। यदि उस सम्बन्धी जो कहना है उससे होना चाहिये। इस उपादान कारण से बतलाओ तो ठीक है। तो उसकी शकल का घर में उपस्थित होना संयोग कहला सकता है। तो इस शरीर का जो अभाव है तो धर्म सम्बन्ध का आकार होने से क्या यहां घड़ा ही है उसका क्या अर्थ है। वहां समवाय संबन्ध से रहता है या संयोग सम्बन्ध से। समवाय सम्बन्ध से तो रहता ही नहीं क्योंकि घड़े के समवाय का वहां अभाव होने से और नहीं दूसरा है क्योंकि संयोग के इन्कार करने से।

प्रश्न—इस प्रकार से तो घड़ा आदि समस्त वस्तु केवलान्वयी हो जायगे। किन्तु अन्वय और व्यतिरेक से जाने जानेका नियम शास्त्रों में पूरा मिलता है, क्योंकि संयोग और समवाय के बिना और सब सम्बन्ध के विरुद्ध होने से ?

उत्तर--उन दोनों सम्बन्धों का रद्द करना ही घड़े की सत्ताके विरुद्ध है। क्या केवल घड़े का संयोग ही एक तत्व है? जिससे उनकी सत्ता के वर्णन से ही घडे की सत्ता की तरदीद हो जावे। अथवा क्या घड़े का संयोग और समवाय ही एक तत्व है, जिससे उनकी सत्ता के कथन से घड़े की सत्ता साबित होजावे। जहां इन दोनों की विरुद्धता होती है। वहां घड़े का अन्वय नहीं जिससे घड़े की सत्ता केवलान्वयी कहला सके। इसलिये कहा है। जो जिस की विधि है उसकी विरुद्धता ही उसका रोकना है। अथवा घड़े के समवाय सम्बंध से घर में बिल्कुल न होना यही घर में घड़ा नहीं है इस वर्णन का विषय है अथवा कपालों का संयोग है (इस वर्णन का विषय है), इस प्रकार होने से केवलान्वयी के अत्यन्ताभाव के विरुद्ध होने से घड़ा नहीं है और यह होगा। कि ऐसा हो। यदि संयोगत्व और समवायत्व सब का एक स्थान पर अभाव हो। इस प्रकार अभाव और सत्ता की अपेक्षा सांसारिक प्रत्यक्ष को बतलाकर योगी लोगों के प्रत्यक्ष को बतलाने के वास्ते यह दूसरा प्रकरण आरम्भ करते हैं।

आत्मन्यात्ममनसो संयोग विशेषादात्म प्रत्यक्षम् । ११ ।

अर्थः--आत्मा, में आत्मा और मन के विशेष प्रकार के संयोग से प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। योगी दो प्रकार के होते हैं एक वह जिनका मन एकाग्र हो गया है। दूसरे जिनका अन्तःकरण अभी एकाग्र नहीं हुवा है। उनमें पहले जिस वस्तु का प्रत्यक्ष करना हो उसमें मनको स्थित करके निदिध्यासन कर के उनकी आत्मा में परमात्मा का ज्ञान उत्पन्न होता है। आत्मा के प्रत्यक्ष का तात्पर्य यह है कि जिस समय ज्ञान आत्मा को साफ २ होजावे। यद्यपि हम लोगों को भी आत्मा का कुछ २ ज्ञान है, किन्तु वह अविद्या से ढका हुवा है। जिससे सत ही असत् है। इस प्रकार का ज्ञान संदेह जनक है। योगियों के आत्मा और मन से विशेष

प्रकार का संयोग होने से उससे आत्मज्ञान ठीक होता है।

प्रश्न—क्या योगियों को केवल आत्मा का ही ज्ञान होता है। हम तो सुनते हैं कि उनको प्रत्येक वस्तु का तत्वज्ञान होजाता है?

उत्तर—तथाद्रव्यान्तरेषु प्रत्यक्षम् १२

अर्थः—योग की उत्पन्न हुई धर्म की सहायता से मनमें द्रव्योंके परमाणु आदिका भी ज्ञान हो जाता है और काल, दिशाओंका आदि के तत्व से भी जानकार हो जाता है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक पदार्थ की योग्यता को योगी जान सकता है।

प्रश्न—यदि योगी सर्वज्ञ होगया, तो योगी और सर्वज्ञ ईश्वर में क्या भेद है?

उत्तरः—ईश्वर एक समय में प्रत्येक वस्तु की योग्यता को जानता ह योगी को इन्द्रिय शक्ति है, कि जिस वस्तु के जानने में मन लगावे उसको जान सके। वह एक काल में समस्त पदार्थों का ज्ञान नहीं रखता। उसको केवल प्रत्येक पदार्थ के जानने की शक्ति है। एक प्रकार के योगियों का वर्णन करके अब दूसरी प्रकार के योगियों का वर्णन करते हैं।

असमाहितांतःकरणा उपसंहृत समाधय स्तेपांच

अर्थः—जिनका अन्तःकरण एकाग्र नहीं, जिन्होंने समाधि को दूरकर दिया है अर्थात् जिन्होंने निधिध्यासन करना छोड़ दिया हैं। समाधि के अभाव से आत्मादि शुद्ध है। जिसके द्वारा सूक्ष्म वस्तु देखने की शक्ति होजाती है। और दूसरे श्रवण शक्ति प्राप्त करके समाधि में भी ज्ञान को अभाव अनुभव करता है। जब तक मोक्ष नहीं होजाती तब तक उसका शरीर रहता है। पूर्वजन्म के कर्मों के फल भोगके स्वतन्त्र होकर उस २ देशमें जहाँ का जल वायु भोगना है। और उस २ जन्म में हाथी घोड़ा गौ आदि होता है। जब तक कर्मफल शेष है तब तक प्रत्यक्ष करता है। तात्पर्य यह है कि यदि योग भ्रष्ट होजावे तो संसार चक्र में कर्मों का फल भोगता हुआ विचरता है।

प्रश्न—उनमें बाहर स्वतंत्र होने से मानसिक प्रत्यक्ष नहीं है और नहीं बाह्य शक्तियों से उत्पन्न होने वाला ज्ञान है। उनके सम्बन्ध से उपस्थित अर्थ को ग्रहण करने वाला होने से

यथा समय सूर्यादि की अपेक्षा से उलूकादि को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है ?

उत्तर—तत्समवायात्कर्मगुणेषु ॥ १४ ॥

अर्थः—उसके समवाय से कर्म और गुणों का प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। यदि भौतिक सम्बन्ध की आवश्यकता है। तो परमाणु आकाश दिशा और काल में रहने वाले सामान्य गुणोंका अपने मनके संयोग समवाय से ज्ञान होता और दूसरे द्रव्यों में जो उपयोग के वास्ते शरीर संग्रह होता है अर्थात् सूक्ष्म कारण और स्थूल शरीर उनके साथ मनके संयोग से और उसी मेलहुई के सम्बन्ध से ज्ञान उत्पन्न होताहै बिना मन के सम्बंध के बाह्य शक्तियों से किसी अवस्था में ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। और योगी को शक्तियों का ठीक २ ज्ञान होने से समस्त अयुक्त संदेह दूर होजाते हैं।

आत्मसमवायादात्म गुणेषु १५

अर्थः—क्या अब नहीं बुद्धि आदिमें मन के दूसरे द्रव्यों के संयोग सम्बन्ध से प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है ?

हम लोगों की तरह। तात्पर्य यह है, कि जिस प्रकार हम लोगों को ज्ञान उत्पन्न होना कहा, योगियों को उसी प्रकार ज्ञान होता है या अन्य प्रकार से। इसका उत्तर यह है कि इन्द्रिय और अर्थ से जब सम्बन्ध होता है अर्थात् आत्मा मन से और मन इन्द्रिय से और इन्द्रिय अर्थ से मिलती है। तब जो नहीं बदलने वाला ज्ञान होता है वह लौकिक प्रत्यक्ष है। और जो अर्थ से या योगी की समाधि की अवस्था में जिन पदार्थों का ज्ञान होता है। वह प्रत्यक्ष है अर्थात् एक तो इन बाह्य इन्द्रियों से जो ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष है। दूसरे योगियों को जो मनके अन्दर प्रत्येक पदार्थ की योग्यता का ज्ञान होता है वह मानसिक प्रत्यक्ष है बस। वह लौकिक और अलौकिक योगियों को समाधि अवस्था में होने वाला दो प्रकार का प्रत्यक्ष है।

नवमें अध्याय का पहिला आन्हिक समाप्त।

वैशेषिक दर्शन भाषानुवाद

नवमां अध्याय

आन्हिक दूसरा

आरम्भ ।

प्रथमान्हिक में एक तो योगियों का मानसिक प्रत्यक्ष, दूसरे लौकिक का इन्द्रियार्थ सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाला प्रत्यक्ष, स्वरूप और लक्षण द्वारा बतलाया, और दो प्रकार के परमाणुओं में से प्रत्यक्ष को तो बतला ही दिया अब अनुमान को जो लिंग द्वारा होता है, वर्णन करते हैं।

अस्येदंकार्य, कारणं, संयोगि, विरोधि समवायि चेति लैंगिकम् ॥ १ ॥

अर्थः—जो लिंग को देखकर ज्ञान उत्पन्न होता है उसे अनुमान कहते हैं, सदैव व्याप्ति से होता है। जब तक किसी वस्तु का किसी दूसरी वस्तु के साथ नियमित संबन्ध साबित न हो जावे तब तक व्याप्ति नहीं कहला सकती। प्रथम तो व्याप्ति के वास्ते कार्य और कारण का सम्बन्ध है। उसकी आवश्यक्ता है जिन पदार्थों में कार्य कारण का सम्बन्ध होगा तो उनमें से एक को देखकर दूसरे के होने का अनुमान होना सम्भव है। जैसे पिता पुत्र में कारण कार्य सम्बन्ध है। तो पुत्र को देखकर उसके पिता के होने का अनुमान हो सकता है, क्योंकि बिना पिता के कहीं पुत्र उत्पन्न नहीं हो सकता। दूसरे नदी में बढ़े हुवे मैले पानी को देखकर पर्वत पर वर्षा होने का अनुमान हो सकता है इसी प्रकार अन्य अवसरों पर भी विचार लेना चाहिये। दूसरा सम्बन्ध संयोग से उत्पन्न होता है। जैसे शरीर और त्वचा का, दूर से ही शरीर को देखकर त्वचा का होना अनुमान से साबित हो सकता है। दूर ही से सर्प को क्रोध में भरकर फुंकाये हुवे झाड़ी

की तरफ देखता हुवा मालूम करके झाड़ी में नेवले के होने का अनुमान होता है। समवाय से अनुमान इस प्रकार होता है। कि जल को गर्म देखकर उस में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाली अग्नि का अनुमान होता है। व्याप्ति से जो अनुमान करना बतलाया वह ठीक नहीं। क्योंकि धुँए और अग्नि को मालूम करके दूर से धूलि को धुआँ मालूम करके उससे आग के होने का अनुमान होता है जो कि ठीक नहीं।

उत्तर—जब तक लिंग का ठीक ज्ञान न हो, तो उसके द्वारा जो अनुमान किया जाता है। वह अनुमान ही नहीं कहला सकता क्योंकि लिंग के ठीक ज्ञान से व्याप्ति अर्थात् सम्बन्ध द्वारा अनुमान करना बतलाया। यदि लिंग का यथार्थ ज्ञान है नहीं तो वह अनुमान किस प्रकार कहला सकता है। अथवा व्याप्ति नहीं हुई तो भी उसको अनुमान नहीं कह सकते। इस वास्ते इस उदाहरण से अनुमान के प्रमाण होने में कोई दोष नहीं आता।

प्रश्न—जहां धूएं आदि के भूत भविष्यत का ज्ञान हो वहाँ किस प्रकार अनुमान होगा ?

उत्तर—उस स्थान पर साध्य का भी भूत व भविष्यत होने का अनुमान होने से ऐसा होना सम्भव है।

प्रश्न—जहां किसी रुकावट से धुएँ आदि का वृत्तान्त भूत व भविष्यत प्रतीत न हो। वहां किस प्रकार अनुमान होगा ?

उत्तर—वहां अनुमान ही नहीं, क्योंकि वहां साध्य की सत्ता में ही संदेह है।

प्रश्न—पूर्वापर विचारने से मध्यान्ह के समय जो धुएँ का संदेह होता है। उसमें अनुमान किस प्रकार होगा ?

उत्तर—उसी दिन के धुएँ से उसी दिन की अग्नि अनुमान करने में ऐसे ही व्याप्ति अर्थात् सम्बन्ध है। इस प्रकार के अन्य भी आक्षेप हो सकते हैं। किन्तु या तो व्याप्ति अथवा लिङ्ग ज्ञान में दोष होने की अवस्था में ही अनुमान में खराबी आसकती है। वह अनुमान ही नहीं। इस वास्ते अनुमान के ज्ञान के यथार्थ होने में कोई संदेह ही नहीं।

प्रश्न—उपरोक्त उदाहरणों से व्याप्ति है, किन्तु उससे अनुमान नहीं होता जैसे समुद्र के चढ़ने से चन्द्रमा की कला में विशेषता जल के कारण अगस्त सितारे का प्रकाशित होना, फूलोंके प्रकाश से चांद चढ़ने का, चौदह तारों के निकलनेसे दूसरे चौदह सितारों के छिपने का, रस से रूप का या विशेष प्रकार के रस का अनुमान रस से किया जाता।

उत्तर—अस्येदं कार्यं कारणं सम्बन्धश्चावयवाद्भवति॥२॥

अर्थ—इन धुये आदि साधनों से अग्नि आदि साध्य का या अग्नि आदि व्यापक वस्तु में जो व्याप्य धूमादि है। ऐसे अवसर पर केवल घिरे हुवे की विशेषता ही आवश्यक है कार्य्य कारण का सम्बन्ध आवश्यक नहीं। इस विचार को दूर करने के वास्ते प्रथम सूत्र में लिखे हुवे कार्य्य कारण के सम्बन्ध को भी इस सूत्र में वर्णन किया इस सम्बन्ध को नमूने की तरह उपस्थित करने से अन्य प्रकारके संबंध भी सम्मिलित हो जाते हैं। संबंध शब्द से अनुभव करने वाला अथवा पकाने वाला तात्पर्य है और वह संबंध किस से मालूम करना चाहिये उसके संबंध में बतलाया, कि अवयव से अवयवी के संबंध को ही मालूम करके अनुमान हो सकता है। और जो सीमा के गुण वाला है। उसका तात्पर्य यह है कि जिसका किसी के साथ स्वाभाविक संबंध हो वह ही सीमा के गुण वाला हो सकता है। यह सीमा का गुण दो प्रकार का होता है। एक स्वाभाविक दूसरा नैमित्तिक। वह किसी २ प्रत्यक्ष में साध्य में घिरे हुवे न होने से और किसी २ अवसर पर साधन के घिरे होने का गुण विश्वास होने से, किन्तु प्रत्यक्ष के विरुद्ध जो वस्तु इन्द्रिय से अनुभव होने योग्य नहीं और प्रमाण से साबित है। जिन की सत्ता में प्रतिषेध हो नहीं सकता, उनकी चार अवस्था हैं। कोई २ साध्य और साधन दोनों में व्यापक हैं और कोई २ दोनों में व्यापक नहीं है और कोई केवल साधन और कोई साध्य में व्यापक है। उनमें से पहला साधन में व्यापक होने से और दूसरा साध्य में उपस्थित न होने से। चौथा साधनमें व्यापक न होनेसे। यह तो नैमित्तिक नहीं, किन्तु स्वाभाविक मानना

चाहिये। तीसरे में भी व्यापक का केवल उसीमें व्यापक होना सम्भव न होनेसे दूसरे का केवल उस में व्यापक होना किस प्रकार हो सकता। यहां इस आक्षेप पर विचार करना चाहिये जिसके स्वाभाविक और नैमित्तिक होने में युक्तियां बराबर हों अथवा हानि लाभ बराबर हों, उसे स्वाभाविक गुण ही ख्याल करना चाहिये। इसमें किस प्रकार की उपाधि होगी इस प्रकार की बिना प्रमाणकी शङ्का, जो प्रत्येक अच्छे काम करने और बुरे काम को छोड़ देने में रुकावट डालने वाली है, न हो इस वास्ते जिसगुणका द्रव्यके पश्चात् आरम्भ हो वह नैमित्तिक। जो गुण और द्रव्य के साथ अनादि हो वह स्वाभाविक है। अब व्याप्ति और नैमित्तिक का वर्णन करके बतलाते हैं, कि अनुमान दो प्रकार का है - एक स्वार्थ दूसरा परमार्थ।

प्रश्न—स्वार्थ अनुमान क्या है?

उत्तर—जो आपही, व्याप्ति पक्ष और गुण से जांच करने से अनुमान होता है वह स्वार्थ अनुमान है।

प्रश्न—परमार्थ अनुमान किसे कहते हैं?

उत्तर—जो दूसरे से प्रेरणा किये हुए न्याय से उत्पन्न हुए व्याप्ति के ज्ञान से अर्थात् न्याय के बतलाए हुए पांच अवयव अर्थात् अनुमान के अंगों से अनुमान किया जाता है वह परमार्थ अनुमान है।

प्रश्न—न्याय के बतलाये हुए पांच अंग कौन से हैं?

उत्तर—प्रथम प्रतिज्ञा, दूसरे हेतु, तीसरे उदाहरण, चौथे अवयवी जहां हेतु को प्रतिज्ञा में साबित किया जावे, पांचवें निगमन, जिसमें प्रतिज्ञा के हेतु की उपस्थिति को दिखलाकर प्रतिज्ञाके साबित करने का परिणाम निकाल दिया जाता है। जैसे कहा, कि शब्द अनित्य है यह प्रतिज्ञा। अब उसका हेतु उपस्थित करता है कि उत्पन्न होने से यह उदाहरण दिया, कि जिस प्रकार घड़ा उत्पन्न होने से अनित्य है, क्योंकि संसार में जो २ वस्तु उत्पन्न हुई २ हैं सब अनित्य हैं। कोई भी उत्पन्न हुई वस्तु नित्य नहीं। क्योंकि एक किनारे वाला दरिया किसी ने नहीं देखा। इस वास्ते जिसका आदि है उसका

शब्द भी है इस वास्ते जो २ उत्पन्न हुई वस्तु हैं सब ही अनित्य हैं । पहले यह हो गया । अब दिखलाते हैं । चूँकि प्रत्येक उत्पन्न हुई वस्तु में अनित्यत्व रहता । और यह उत्पन्न हुआ है । इस वास्ते यह भी अनित्य है । इस प्रकार जो अवयवों से अनुमान किया जाता है । वह परमार्थ अनुमान कहलाता है । और उसकी जांच में भी वाद जल्प, वितण्डा तीन प्रकार का शास्त्रार्थ होता है । शेष प्रमाणों का अनुमान में शामिल करना साबित करनेके वास्ते दूसरे प्रकरण को आरम्भ करते हैं ।

एतेन शाब्दं व्याख्यातम् ॥ २ ॥

अर्थः—जो शब्द के द्वारा ज्ञान उत्पन्न होता है जो न्याय आदि शास्त्रों में आप्त उपदेश से संगत करके कहा है वह भी इसी अनुमान में शामिल है, क्योंकि लिंग एक शब्द के अंदर आजाता है । जिस प्रकार अनुमान प्रमाण, व्याप्ति ग्रह अर्थात् सम्बन्ध के मालूम होने से होता है । बिना व्याप्ति को मालूम किये नहीं हो सकता । ऐसे ही शब्द प्रमाण भी शक्ति ग्रह अर्थात् शब्द और अर्थों के संबंध के मालूम होने से ही साबित होता है इसके बिना नहीं हो सकता, क्योंकि जब शब्द का अर्थ के साथ संबंध मालूम होजाता है । तब ही उस शब्द से वह अर्थ मालूम होता है जिस प्रकार अनुमान दो तरह का वर्णन किया गया है ऐसे ही शब्द और अर्थ का संबंध भी दो ही तरह से लिया जाता है एक शब्द के अंदर जो अर्थ बताने वाली शक्ति रहती है । दूसरे लक्षण और व्यञ्जनादि से । जैसे पहले किसी ने धूम के साथ अग्नि का संबंध पाकशाला में देखा हो तब ही वह दूर से धूम को देखकर अग्नि के होने का अनुमान कर सकता है । ऐसे हो जिसने शब्द और अर्थ का संबंध पहले गुरु से मालूम करलिया है वही इस शब्द से ठीक अर्थ मालूम कर सकता है । बिना इसके कोई नहीं कर सकता । जिस प्रकार व्याप्ति के ठीक २ मालूम होने पर और लिंग के केवल ज्ञान होने पर यथार्थ अनुमान हो सकता है ।

प्रश्न- बहुत अवस्थाओं में एक ही वाक्य का तात्पर्य भिन्न २

समझ लेते हैं, किन्तु अनुमान के अन्दर ऐसा सम्भव नहीं ?

उत्तर—वाक्य संयुक्त है। शब्द से यदि शब्द के ठीक २ अर्थों को समझने में किसी प्रकार की हानि हो तो उसका तात्पर्य दूसरा हो जायगा। परन्तु जो मनुष्य शब्दों के अर्थ और उनके संबंध सबको ठीक २ समझते हैं उनके समझने में भेद नहीं होता इसी प्रकार अनुमान में पांच अवयवोंके विरुद्ध समझने से अनुमान विरुद्ध हो सकता है एक शुद्ध और कई प्रकार के अशुद्ध मिलकर अनुमान से भी अलग २ परिमाण निकल सकते हैं

प्रश्न—वाक्य का अवयव शब्द तो कई अर्थों के साथ सम्बन्ध रखता है। जैसे सैंधव शब्द घोड़ेको और नमकको ज़ाहिर करता है. परन्तु अनुमान में दो अलग २ सम्बन्ध नहीं होते। इसलिये अनुमान के साथ शब्द का मुकाबला ठीक नहीं ?

उत्तर—जिस प्रकार शब्द का अर्थ मालूम होता है उसी प्रकार अनुमान। जिस प्रत्यक्ष से व्याप्ति अर्थात् सम्बन्ध को मालूम करके उस प्रत्यक्ष के अन्दर व्याप्ति करते समय किसी प्रकार दोष होने से। उदाहरणतः जिस प्रकार एक शब्द के दो अर्थ होने पर भी प्रकरण को जानने वाले के वास्ते किसी प्रकार की खरावी उत्पन्न ही नहीं करते, क्योंकि वह प्रकरण से ठीक अर्थ को मालूम करलेता है। प्रकरणको न जानने वाला ही भ्रम में पड़ता है। ऐसे प्रत्यक्ष में प्रकाश की कमी से, एक ही रस्सी पानी की धार, डण्डा और रस्सी चार चीज़ों को ज़ाहिर करती है। जिससे चार आदमी चार अलग २ परिणाम निकालते हैं। जिसने उसको सांप ख़याल किया वह इससे डरता है और जिसने उसे पेशाब की धार समझा है वह गंदा ख़याल करके हट कर चलता है; और जिसने डण्डा ख़याल किया है वह उठाने को तय्यार हो जाता है। जिसने रस्सी ख़याल किया है वह इस ख़याल से अलग फेंक देता है, कि कोई सांप समझ कर न डरे। जिस प्रकार अज्ञानी आदमी एक शब्द के दो अर्थ होने से संदेह में पड़ सकता है। इसी प्रकार अज्ञानी प्रत्यक्ष और अनुमान को भी गलत परिणाम उत्पन्न कर सकता है।

प्रश्न—लक्षणा आदि का व्यवहार किस प्रकार से हो जिस से शब्द का ज्ञान ठीक हो सके ?

उत्तर—जहां आकांक्षा, योग्यता और अस्ति आदि उत्पन्न हों वही लक्षणा हो सकती है।

प्रश्न—जो पद, और अर्थों का सम्बन्ध बतलाया वह खराब है क्योंकि शब्द और अर्थों में संसर्ग नहीं और शब्द और अर्थ आगे केवल नियत किया हुआ सम्बन्ध पहले प्रमाणित कर चुके हैं।

उत्तर—जिस प्रकार कारण कार्यादि के सम्बन्ध भी संसार में उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार शब्द और अर्थ का सम्बन्ध भी ईश्वर के नियमित नियम से होना है। यह पहले प्रमाणित कर चुके हैं। इस वास्ते जिस प्रकार कार्य कारण से अनुमान खराब नहीं। ऐसे ही शब्द को विचार लो।

प्रश्न—बहुत से मनुष्य लक्षणा आदि को जो तात्पर्य को पूरा करनेके वास्ते शब्दों के अर्थ में व्यवहार में लाई जाती हैं, अप्रमाण कहते हैं ?

उत्तर—लक्षणा आदि दो प्रकार से हो सकती है एक आवश्यकता के समय, जब शब्दों से कहने वाले का मतलब समझमें न आता हो। दूसरे अपने मतलब को पूरा करने के वास्ते खींच तान कर कहने वाले के मतलब को बिगाड़ने के लिये। उनमें से प्रथम शास्त्रानुसार होनेसे और सृष्टि में बराबर मानी जानसे ठीक प्रमाण और जो ठीक नहीं है उस के प्रमाण होने से जो असली लक्षणा है नहीं, कोई हानि नहीं।

प्रश्न—क्या लक्षणादि दूसरे ज्ञान को उत्पन्न नहीं करतीं ?

उत्तर—लक्षण से केवल कहने वालेके मतलबका स्मरण होताहै कोई नवीन अर्थ उत्पन्न नहीं होता जैसे किसी ने कहा कि जब शंख बजे तब तुम चले आना, अथवा जिस समय अंगुली उठे तब तुम उसको सज़ा देना अब शंख बजने से उसको शब्द के अर्थ से कोई पता नहीं लगा। जो प्रथम उपदेश किया गया था वही स्मरण होगया, जिस पर उसने काम किया। ऐसे ही अंगुली उठाने से कोई नवीन ज्ञान उत्पन्न नहीं हुवा किन्तु पुराना बतलाया हुवा याद आगया। इसप्रकार विचार

लेना चाहिये, कि शब्द और लिङ्ग केवल पहले सम्बन्ध को स्मरण कराकर उसकी सत्ता को बताते हैं । किसी नवीन अर्थ को नहीं बतलाते । इस वास्ते शब्द प्रमाण अनुमान के अन्दर ही सम्मिलित है ।

प्रश्न—शब्द कैसे लिङ्ग हो सकता है । शब्द का अर्थ करने वाला होने से और लिङ्ग से पृथक् होने से

उत्तर—हेतुरपदेशोलिंगं प्रमाणं करणमित्यनर्थान्तरम् ॥४॥

अर्थः—जिससे अर्थ अर्थात् मतलब को कहदे वह उपदेश कहलाता, और वह हेतु अर्थात् कारण और लिङ्ग अर्थात् निशान बोधक हैं । निशान के नियम से प्रेय अर्थात् यथार्थ ज्ञान के कारण को ही प्रमाण कहते हैं । इस प्रकार करण या कारण को अनुमान करते हैं । लिङ्ग अर्थात् निशान या लक्षण का बोध ही विचार लेना चाहिये । दोनों ही का कारण अर्थात् करण या हेतु से ज्ञान होता है । कुछ सम्बन्ध के कारण जो इन्द्रिय और अर्थ का मेल होता है उससे व्याप्ति अर्थात् सम्बंध को मालूम करके किया जाता । और कुछ यहां एक के बिना दूसरा न हो सके, इस नियम के बल से किया जाता है

प्रश्न—जब कि शब्द का न तो मतलब से मेल है और नहीं ऐसा सम्बन्ध है कि जहां एक के बिना दूसरा न रह सकता हो । इस अवस्था में शब्दार्थ का वर्णन किस प्रकार कर सकता है ?

उत्तर—पहले प्रमाणित कर चुके हैं, कि शब्द का अर्थ से संकेत अर्थात् बंधे हुवे नियम से सम्बन्ध है । इस वास्ते शब्द से उस अर्थ का वर्णन होजाता है ।

प्रश्न—संकेत भी शब्दार्थ को प्रकाशित नहीं कर सकता, क्योंकि संकेत पद के अर्थ में है न कि सम्बन्ध में संकेत है । यदि कहो सम्बन्ध में भी संकेत है तो भी नहीं, क्योंकि सम्बन्ध अनेक प्रकार का होने से संकेत का जो विषय है । उसकी सत्ता के यथार्थ ज्ञान न होने से । यदि कहो शब्द और अर्थों के संकेत के कारण वाक्यों का अर्थ भी मालूम हो जाता है, तो यह भी नहीं, क्योंकि दूसरे के संकेत से, दूसरे की उपस्थिति से, अति प्रसक्ति दोष होता है । अर्थात् नियम भंग हो जाता है ?

उत्तर—जब कि वाक्य शब्दों का संग्रह है और संग्रह में वही गुण होता है जो उस के अवयव में होता है। इस वास्ते शब्दों के अर्थ जानने से वाक्य का अर्थ मालूम होजाता है। इस वास्ते शब्द भी एक प्रकार का लिंग है, जिससे उस अर्थ का अनुमान हो सकता है। अब उपमानादि शेष प्रमाणों को अनुमान में सम्मिलित करते हैं।

अयेदमितिबुद्ध्यपेक्षितत्वात ॥ ५ ॥

अर्थः—उपमान, अर्थापत्ति अभाव ये सूत्र में शेष है। इस व्यापक का यह व्याप्य है, इस प्रकार की जो बुद्धि है, वह उत्पन्न करनेवालेकी आवश्यक्ता रखती है। जिसकी उसको आवश्यक्ता होती है उसकी सत्ता को उसके लिये आवश्यक कहते हैं। उसका यह कारण है अथवा कार्य है इस ज्ञान वा सम्बन्ध की आवश्यक्ता वाले होने से यह चारों प्रमाण अनुमान के अंदर आजाते हैं। इनमें से उपमान तो शब्दके द्वारा अनुमान ही है। जैसे गौ के सदृश नीलगाय होती है. यह किसी वनवासी ने जनपदसे कहा, कि गौ की सदृश नीलगाय होती है इस साधिकरण होनेके कारण से इस शब्द के सुनने के बाद वह जंगल में गया और उस प्रकार के शरीर को देखकर यह विचार हुवा कि वही नील गाय शब्द का अर्थ है अर्थात् नील गाय हैं, विश्वास करता है। उस शब्द के सुनने के समय नीलगाय की प्रवृत्ति का कारण न जाना। इससे किस प्रकार नाम का विभाग हो? उत्तर यह है, कि लक्षण से उसकी प्रतीति होना सम्भव होनेसे ज्ञानानुसार नीलगाय है।

प्रश्न—जब वाक्य में अन्वय से अर्थ न निकलता हो तब लक्षणा हो सकती है। जहां अर्थ निकलता है वहां किस प्रकार लक्षणा होगी?

उत्तर—यथार्थ तया मतलब न समझने से गौ के अनुसार गुणों का बिना दर्शन के समझना लक्षणा से हो सकता है। अथवा यह समझो, कि नीलगाय शब्द नीलगाय को बतलाने वाला है, किसी दूसरे के वास्ते व्यवहार न होने से विद्वानों ने इसका व्यवहार किया है इससे भी, दूसरी जगह व्यवहार न होने से जो शब्द जिस स्थान पर विद्वानों ने व्यवहार

किय है वह उसी का वाचक है अर्थात् उसे शब्द के वही अर्थ हैं। जैसे गाय शब्द है। गाय यह शब्द अनुमान से भी नीलगाय से पृथक् और कुछ मिलता हुआ मालूम होता है। हेतु यही है, कि जो तुमने उपमान की सहायता में कहा है वह अच्छा है। और यह अनुमान प्रमाण के अंदर आ भी जाता है इसकी बाबत विशेष अनुमान भाष्य में देखना चाहिये।

अर्थापत्ति प्रमाण भी अनुमान नहीं है। जैसे कहते हैं। कि देवदत्त दिन को नहीं खाता, किंतु मोटा है। इससे पता लगता है, कि रात को खाता है, क्योंकि मोटा होना बिना खाये संभव ही नहीं। शरीर के संपूर्ण अवयव भोजन से बनते हैं। बिना भोजनके शरीरके अवयव उन्नति कर ही नहीं सकते। और बिना अवयवों के उन्नति किये शरीर मोटा हो ही नहीं सकता जब दिन को खाने को निषेध किया अर्थात् बतलाया, कि दिन को नहीं खाता तो स्पष्ट अनुमान हो जाता है। कि रात को खाता है।

प्रश्न--यहां किस प्रकार का अनुमान होगा?

उत्तर--यहां अनुमित अनुमान अर्थात् अनुमान से उत्पन्न होनेवाला अनुमान होगा।

अर्थात् प्रथम तो यह विश्वास करना होगा, कि बिना खाये मोटा होना असम्भव है। फिर जब मालूम होगया, कि खाने से मोटा होता है तो दिन को खाने का निषेध होने से रात को खाना प्रमाणित हो जावेगा, क्योंकि बिना खाये मोटा होना असम्भव है। सम्भव प्रमाण भी अनुमान ही है। जैसे कहें कि सम्भव है, कि मन में सेर रहता है, सेर में छटांक रहती हैं। ऐसे ही हज़ार मन में सौ का होना सम्भव है।

प्रश्न--यदि सम्भवको अनुमान माना जावे तो ब्राह्मण में विद्या होना सम्भव है। क्षत्रिय में शूरवीरता सम्भव है, इस से प्रत्येक ब्राह्मण विद्वान और प्रत्येक क्षत्रिय शूरवीर होना चाहिये। जो नहीं होता, इससे अनुमान ठीक नहीं?

उत्तर--यह सम्भव प्रमाण ही नहीं क्योंकि किसी सम्बन्ध से विश्वास दिलाने वाला नहीं, अभाव भी कोई पृथक् प्रमाण

नहीं वह भी अनुमान नहीं है। कारण से कार्य की सत्ता के अनुमान की तरह कारण के अभाव से कार्य के अभाव का अनुमान हो जायगा, क्योंकि इस में व्याप्ति का उत्पन्न होना ठीक है। क्योंकि जिस प्रकार कारण की सत्ता कार्य की सत्ता के उत्पन्न होने का कारण है इसी प्रकार कारण का अभाव कार्य के अभाव का कारण है। इसलिये अभाव प्रमाण अनुमान में ही सम्मिलत करना चाहिये। पृथक् प्रमाण समझना बे फ़ायदा है। भट के स्थान में भूतल पर अभाव को प्रतीत करने वाला प्रमाण अनुपलब्ध नामी है। यह कहीं प्रत्यक्ष में आजाता है, कहीं अनुमान में। चक्षु आदि इन्द्रियों से ही अभाव के मालूम होनेसे इन्द्रियोंका प्रतीति करनेवाला होनेसे उसको छोड़ना न चाहिये क्योंकि इन्द्रिय अभाव तक अनुभव कर सकती हैं। रहा ऐतह्य प्रमाण, जिसकी तारीफ़ यह है, कि जिसको हम नहीं जानते, किन्तु दूसरे प्रकाशकों के लेख से उसका पता लगता है। यह शब्द प्रमाण के अन्दर होने से अनुमान ही है, क्योंकि शब्द में जो पूरा कल्प बाद के अन्दर आया है वह अभास का दूसरा नाम ही है यदि गलत है। तो प्रमाण ही नहीं इस वास्ते स्पष्ट प्रमाणित होगया कि केवल प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण हैं इनसे सब काम चल सकते हैं। अनुमान प्रमाण का वर्णन करके अब दूसरे विषय को आरम्भ करते हैं।

आत्ममनसोः संयोग विशेषात् संस्काराच्च स्मृतिः ॥ ६ ॥

अर्थः—आत्मा अर्थात् जीवात्मा और मन के विशेष प्रकार के सम्बन्ध और संस्कारों के होने से स्मृति उत्पन्न होती है अर्थात् स्मृति जो विद्या का एक भाग बता चुके हैं। उसका समवाय कारण तो आत्मा है और आत्मा और मन का विशेष प्रकार का संबन्ध असमवाय कारण है और संस्कार निमित्त कारण है और शब्द 'च' से यह मालूम होता है कि जिसका पहिले कर्म होते हुवे अनुभव हो चुका है उसकी स्मृति होती है। यदि अनुभव यथार्थ हुआ है तो उसके संस्कार से ठीक

स्मृति होगी यदि यथार्थ अनुभव नहीं हुआ तो उसके संस्कार से स्मृति भी अशुद्ध होगी। जैसे रस्सी में सांप सोचने के द्वारा ही उसकी वैसी स्मृति होगी यह नहीं, कि स्मृति यथार्थ होजावे। क्योंकि इसका होना संस्कार पर निर्भर है। वह किसी अवस्था में संस्कार के विरुद्ध नहीं होसकती इस वास्ते प्रशस्त देवजी ने अपने भाष्य में कहा है अर्थात् लिंग दर्शन, इच्छा के दो चार स्मरण करने पर जो आत्माका मनसे संयोग होता है वही विशेष्य संयोग है। बहुत दफे बार बार इच्छा से उत्पन्न हुये ज्ञान से जो संस्कार उत्पन्न हुआ है, देखे, सुने अथवा अनुभव किये पदार्थों में जो दुबारा स्मर्ण करने के कारण इच्छा, घृणा में उनसे जो व्यतीत हुवे विषय का विचार है वह स्मृति कहलाती है। आर्ष ज्ञान सूत्रकार ने पृथक् बताया है। यह योगी प्रत्यक्ष के अन्दर आ जाता है। उसको उसी स्थान में बतला दिया है। जैसे कि जिन ऋषियों पर वेद प्रकाशित हुवे, भूत, भविष्यत और वर्तमान की और इन्द्रियों से प्रतीति होने के अयोग्य धर्मादि में जिसका वर्णन अनेक पुस्तकों में है। लिंगादि की आवश्यक्ता न कहकर जो आत्मा और मन के संयोग से विशेषतया धर्म की विशेषता से मन के शुद्ध होने के कारण जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह आर्ष ज्ञान है यहां तक चार प्रकार की विद्या का वर्णन करके अब अविद्या का वर्णन करते हैं सांदेहिक ज्ञान का प्रथम वर्णन हो चुका है। अब स्वप्न का वर्णन करते हैं

तथा स्वप्नः ॥ ७ ॥

अर्थ:—जिस प्रकार आत्मा और मनके विशेष प्रकार के संयोग और स्मृति होती है उसी प्रकार स्वप्न होता है। जब इन्द्रियं बाहरी सम्बन्ध को छोड़ दें और मन भी अपने सम्बन्ध को बाह्य विषयों से हटाकर अन्दर चला जावे। उस समय जो इन्द्रिय और मन से ज्ञान होता है वह स्वप्न है। और यह तीन प्रकार का है। प्रथम संस्कार की विशेषता से अथवा जो काम सोते समय करो वह कार्यादि जिस प्रकारके विचार करता हुवा सोता है, उसका उस अवस्था में भी प्रत्यक्ष की शक्ल का ज्ञान होता है। दूसरे जो पुराणादि के सुनने के संस्कारों के

कारण उत्पन्न होता है। जैसे कर्ण और अर्जुन का यह युद्ध हो रहा है। तीसरे, विचारों की खराबी से जो उत्पन्न होता है। यहां वादी के दोष से आकाश में उड़ना, पृथिवी का भ्रमण करना, सिंहादि के डर से भागना और गरमी की खराबी के कारण अग्निमें कूदना, अग्निकी शिखाको पकड़ना सोने के पहाड़ बिजली की बेल और अंगारों और सितारों का दिशाओं को चलना आदि देखता है। और कफ की खराबी से समुद्र से पार होना, दरिया में स्नान करना, पानी का बड़े ज़ोर से बरसता, इसके अतिरिक्त पूर्व जन्म के कर्म फल से भी स्वप्न होता है अर्थात् पूर्व जन्म के अनुभव किये हुवे विषय जिनका मन पर फोटू खिंच रहा है उन से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उस में पूर्व जन्म के धर्म से शुभ अर्थात् सुख देनेवाला देखता है। हाथी की सवारी, पहाड़ से पार होना, सर पर ताज का रखा जाना, खीर का खाना, राज का भोग करना आदि, अधर्म से दुःख देने वाले। जैसे तेल का शरीर पर मर्दन, ऊंट की सवारी अंधे कूप में गिरना, कीचड़ में स्नान करना, अपना विवाह आदि देखना, इस प्रकार का स्वप्न ज्ञान होता है यह कारण तीनों प्रकार के स्वप्नों का मिला हुवा भी जानना।

प्रश्न—जो ज्ञान स्वप्न में स्वप्न के जाने हुवे अर्थों का स्मृति रूप होता है उसमें स्वप्नत्व तो है नहीं, स्वप्नके अनुभव रूप होनेसे उसकी उत्पत्ति किस प्रकार होती है?

स्वप्नान्तिकम् ॥ ८ ॥

अर्थः—जिस प्रकार आत्मा और मन के विशेष प्रकार के सम्बन्ध से स्वप्न उत्पन्न होता है। उस से ही स्वप्न के अन्दर दूसरा स्वप्न उत्पन्न हो जाता है। उस में केवल इतनी विशेषता है, कि स्वप्नका ज्ञान तो प्रथम प्रतीति किये हुवे संस्कारके कारण उत्पन्न होता है, किन्तु स्वप्न में जो स्वप्न उत्पन्न होता है वह उस समय के अनुभव किये हुये ज्ञान के संस्कारों से उत्पन्न होता है। यह प्रशस्त देव आचार्य जी ने भी कहा है, कि पिछले ज्ञान के अनुभव करने से ही स्मृति ही स्वप्न है, और वृत्ति लिखने वालेने भी कहा है अनुभव की हुई वस्तु को जो

मन अनुभव करता है वह स्मृति न हो तो स्वप्न ज्ञान है और स्वप्न के बीच में जो प्रत्यक्ष रीति से अनुभव होने वाला ज्ञान है वह स्वप्नान्तक है ।

अब स्वप्नादि का कारण बतलाते हैं।—

धर्म्माच्च ॥ ९ ॥

अर्थः—मतलब यह है, कि धर्म और अधर्म के संस्कारों से ही स्वप्न उत्पन्न होता है जब धर्म के संस्कारों से स्वप्न होगा तो सुख देने वाले पदार्थ दृष्टिगत हूंगे। जिससे इस समय में सुख अनुभव करेगा। जब अधर्म के संस्कारों से स्वप्न होगा तो डराकर दुःख देनेवाली वस्तु को देखेगा। जिससे दुःख प्रतीत होगा। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार की फोटू इन्द्रियों द्वारा मन पर उतरी है उन ही के देखने का नाम स्वप्न है। और यदि वह अच्छे कामों के हैं तो सुख उत्पन्न होगा; यदि पाप कर्मों के हैं तो दुःख देंगे।

प्रश्न—अविद्या की उत्पत्ति का कारण क्या है?

इन्द्रियदोषात् संस्कारदोषाच्चाऽविद्या ॥ १० ॥

अर्थः—अविद्या अर्थात् विरुद्ध ज्ञान दो प्रकार उत्पन्न होता है। एक इन्द्रिय में किसी प्रकार की खराबी आने से और इन्द्रिय के सहायक में खराबी आने से अविद्या उत्पन्न होती है जैसे थोड़ी रोशनी में, जहां अंधेरा जियादा है तो रस्सी में सांप का ज्ञान होता है। ऐसे और भी इन्द्रियों के सहायकों की आवश्यका से जियादा या कमें सहायता मिलने के कारण विरुद्ध ज्ञान उत्पन्न होता। दूसरा संस्कार के कारण भी विरुद्ध ज्ञान हो जाता है जैसे संखिया अथवा अफीम बुरी वस्तु है किन्तु जिनको स्वभाव हो वह उनको अपने जीवनका कारण समझते हैं। इस प्रकार और स्थानों पर विचार लेना, कि प्रत्येक प्रकार की अविद्या इन्द्रिय और संस्कार की खराबी के कारण उत्पन्न होती है।

प्रश्न—अविद्या का लक्षण क्या है?

तद् दुष्ट ज्ञानम् ॥११॥

अर्थः—यह अविद्या दोष खराबी वाले ज्ञान का नाम है। तात्पर्य यह है, कि दुष्ट ज्ञानको अविद्या कहते हैं। अथवा विरुद्धज्ञान का नाम विद्या है। बदलने वाला ज्ञान अथवा और में और का। इसी प्रकार प्रत्येक प्रकार के दुष्ट ज्ञान का नाम अविद्या है।

प्रश्न—क्या अज्ञान अर्थात् ज्ञान का न होना अविद्या नहीं ?

उत्तर—ज्ञानके अनुभव न होनेका नाम अविद्या नहीं, किन्तु दुष्ट और विरुद्ध ज्ञान का नाम अविद्या है। इसी वास्ते चार प्रकारकी अविद्या बतलाई। सांदेहिक ज्ञान, विरुद्ध ज्ञान, स्वप्न का ज्ञान, अविश्वास योग्य ज्ञान, और बदलने वाला ज्ञान यह सब अविद्या में सम्मिलित है।

प्रश्न—विद्या क्या है ?

उत्तर—अदुष्टं विद्या ॥ १२ ॥

अर्थः—दोष अर्थात् प्रत्येक प्रकार की खराबी से अतिरिक्त ज्ञान का नाम विद्या है अर्थात् जिस ज्ञान में न तो किसी प्रकार का इन्द्रियों का दोष कारण हो और नहीं संस्कार से उत्पन्न हुई किसी की खराबी है। उस ज्ञान को विद्या कहते हैं। अर्थात् जो पदार्थ जैसा हो उससे उसी प्रकार का जान लेना अविद्या है।

प्रश्न—प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त आर्ष ज्ञान को भी पृथक् प्रमाण मान लेना चाहिये क्योंकि न तो वह प्रत्यक्ष के अंदर आ सकता, न ही वह इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है। और न ही अनुमान के अंदर है। क्योंकि किसी प्रकार की व्याप्ति अर्थात् सम्बन्ध को प्रमाणित किये बिना उत्पन्न होने से। इस वास्ते यह तृतीय प्रमाण है।

आर्षं सिद्धदर्शनञ्च धर्मेभ्यः ॥ १३ ॥

अर्थः—जो गौत्तम आदि ऋषियों का केवल योग से भूत भविष्य के सम्बन्ध का ज्ञान है। वह आर्ष है अर्थात् ऋषियों का ज्ञान है। और जो सिद्ध लोगों को दूरबीन और अंजन खुर्दबीनादि से जो बारीक और दूर की वस्तु का ज्ञान है। अर्थात् दूर और छुपी हुई सूक्ष्म वस्तु का जो देखना है। इन दोनों

प्रकार के धर्म से यथार्थ ज्ञान प्रमाणित होता है । वह योगी के प्रत्यक्ष अंदर आजाने से तीसरा प्रमाण नहीं । वह सूत्रकार कहते हैं । आर्ष ज्ञान चतुर्थ विद्या है वह ऋषियों को लोक में होती है उसी का नाम मानसिक प्रत्यक्ष है । या तो मन के अंदर जिज्ञासा रखते हुवे प्रत्यक्ष होती है । अथवा नियमादि के यथार्थतया देखने से लिंग उत्पन्न हुआ है पूथम कृत संस्कारही इसस्थान पर व्याप्ति अर्थात् सम्बन्ध का ज्ञान है। जिस पूकार पूथम संस्कारों से बछड़ा अपनी माता के स्तनों से दूध चूसने लगता है और उसको सिखलाने वाला पूथम संस्कारों के अतिरिक्त कोई नहीं होता पूशस्त पादाचार्य कहते हैं जो ज्ञान खुरदबीन आदि के कारण से सिद्ध लोगों को होता है वह प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य पूकार का ज्ञान नहीं किंतु पूत्यक्ष ही है । यदि वह सूर्य चन्द्रादि की चालों के कारण होने वाला हो तो अनुमान है इस वास्ते पूत्यक्ष और अनुमान दो ही पूमाण हैं आर्ष ज्ञान तीसरा पूमाण नहीं ।

वैशेषिक दर्शन भाषानुवाद अध्याय नवमें का

दूसरा आन्हिक समाप्त हुवा ।

दशवाँ अध्याय

आन्हिक पहिला

आरम्भ ।
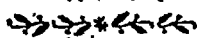
अथ आत्मा के गुणों का विचार करना दसवें अध्यायका विषय है और बहुत से लोगों का यह विचार है, कि सुख कोई वस्तु नहीं दुःख के न होने का नाम ही सुख है और बहुत से मनुष्य कहते हैं कि दुःख कोई वस्तु नहीं। सुख के न होवे का नाम दुःख है। इस प्रकार पृथक् २ विचारों को दूर करने के वास्ते विचार करते हैं।

इष्टानिष्ट कारणविशेषाद्विरोधाच्चमिथः सुख दुःख योरर्थान्तर भावः ॥ १ ॥

अर्थ—सुख और दुःख दोनों एक दूसरे से पृथक् गुण वाले हैं। क्योंकि सुख तो इष्ट, कारण से उत्पन्न होता है अर्थात् जो इष्ट पदार्थ हैं उन के संग से सुख उत्पन्न होता है। तात्पर्य यह है, कि दोनों कारणों का संग्रह है अथवा पृथक् २ है और उनमें विरोध है। जहाँ दुःख होगा वहां सुख नहीं होगा और जिसे सुख होगा उस समय उसे दुःख नहीं। एक समय में दोनों एक स्थान पर नहीं रहते। और शब्द "च" से यह बतला दिया कि जिस प्रकार उनके कारण पृथक् २ हैं जैसे सुखी मनुष्य का मुखड़ा प्रफुल्लित और आंखें रोशन और शरीर फूला हुवा मालूम होता है। और दुःखी मनुष्य का मुखड़ा मलीन और निर्बलसा प्रतीत होता है। यह प्रशस्त देवाचार्य ने भी अपने भाष्य में कहा है। जिस से मुख पर प्रफूल्लता मालूम हो वह सुख है। वह चन्दनादि इच्छानुसार विषय प्राप्ति मेरे लिये इष्ट है। ऐसा जानकर इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध से धर्मादि की आवश्यका

रखता हुआ आत्मा और मन के संयोग से जो मुखपर प्रफुल्लता उत्पन्न करने वाला है वह सुख है । जो गौतम जी ने अपने न्यायदर्शन में इस प्रकार के सुख को भी समझना बतलाया है । उसका मतलब केवल वैराग्य उत्पन्न करता है ।

प्रश्न—इन सुख दुःख के जो कारण में पृथक २ हैं । ज्ञानादि भी, स्मृति के अनुभव होने से पृथक २ होंगे ?

उत्तर—सशंय निर्णयान्तरा भावश्च ज्ञानान्तरत्वे हेतुः ॥ २ ॥

अर्थः—सुख दुःख में पृथक २ ज्ञान होने से संदेह और जांच से पृथक्त्व का कारण है । उस का मतलब यह है । सुख दुःख यह ज्ञान नहीं वह संदेह रूप होगा या जांच करने योग्य होगा । संदेह रूप नही हो सकता क्योंकि उसके वास्ते दो प्रकार का विचार होना आवश्यक है । जैसे कहते हैं, खंभा है या आदमी और नही जांचके योग्य होगा, क्योंकि यह एक ही होता है । इस वास्ते कहा है, कि जब तक विशेषता के रोकने से सामान्य में अनुरोध है । ज्ञान में दोही प्रकार की विशेषता है । साँदेहिक हो व अनुमानिक । वेदोनों सुख दुःख में हो नहीं सकते, क्योंकि सांदेहिक और वैश्वासिक ज्ञान सुख दुःख में नहीं होता । "च" शब्द से बतलाया कि अनुभव भी नहीं हो सकता । सुख दुःख में, सुखी हूं अथवा दुःखी हूं । यह मनमें अनुभव होता है । ऐसा अनुभव नहीं होता, कि मैं सुख को जानता हूं या संदेह करता हूँ या विश्वास करता हूं । इसमें दूसरा भेद करने वाला बतलाते हैं ।

तयोर्निष्पत्तिः प्रत्यक्षलैङ्गिकाभ्याम् ॥३॥

अर्थः—संदेह और विश्वास की उत्पत्ति उन पदार्थों में होती है ? जो प्रत्यक्ष और अनुमान से साबित हों । यह सुख दुःख दोनों न तो प्रत्यक्षकी साक्षी से उत्पन्न होते हैं न अनुमान से उत्पन्न होते हैं । अथवा अनुमान के कारण से उत्पन्न होते हैं । विषयों से उत्पन्नहोने वाला सुख चार प्रकार का है । प्रथम मनोरथ अर्थात् मन में बड़ी २ आशा तृष्णा बढ़ाने से जो

सुख उत्पन्न होता है। दूसरे मानिक, जो अपने को दूसरे से बड़ा समझने से उत्पन्न होता है। तीसरा अभ्यास से उत्पन्न होने वाला। इन तीनों का तो इन्द्रियों के सम्बन्ध से उत्पन्न होना सम्भव ही नहीं।

प्रश्न—यदि प्रथम सुख को इन्द्रियार्थ के सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ सुख मानो तो क्या हानि होगी?

उत्तर—कार्य के कारण एक देशसे एक अस्तित्व के उत्पन्न न होने से अर्थात् अवयव और अवयवी एक नहीं वरन दिशा और काल तो प्रत्येक कार्य के साथ कुछ सम्बन्ध रखते हैं सब के साधिकरण हो जाँयगे। क्या वह सुख जो इन्द्रिय के सम्बन्ध से उत्पन्न नहीं होना सो विकल्प अर्थात् जिसमें संदेह शेष रहे ऐसा होगा वा निर्विकल्प अर्थात् संदेह से खाली होगा? पहला नहीं क्योंकि इन्द्रियों से अनुभव होने के अयोग्य मानना पड़ेगा। दूसरा भी नहीं, क्योंकि विशिष्ट और विशेष्य द्वारा दोनों का वर्णन के योग्य न होने से किन्तु सुख दुःख के आवश्यक जानने योग्य, होने से और ज्ञान के आवश्यक यथार्थ जानने योग्य होने से अनवस्था दोष होगा। और अनुमान होता है, यह लिङ्ग से ही जाना जाता है। सुख दुःख ऐसा भी नहीं। वृत्तिकार यह कहते हैं, कि ज्ञान और सुख की उत्पत्ति प्रत्यक्ष और अनुमान से अर्थात् प्रत्यक्ष और अनुमान के व्याख्यानों से वर्णन की गई। प्रत्यक्ष का ज्ञान इन्द्रिय से होता है। अनुमान लिङ्ग द्वारा होता है। सुख दुःख ऐसे नहीं है। अनुमान से होने वाले ज्ञान और सुख आदि के भेद के विभाग में एक और भेद बतलाते हैं।

अभूदित्यपि ॥ ४ ॥

अर्थः—जिस प्रकार अनुमान के विषय में भूत और भविष्यत का व्यवहार होता है ऐसा सुखादि में नहीं होता। जैसे कहा जाता है कि पर्वत में अग्नि लगी थी, क्योंकि जले हुवे वृक्षों से मालूम होता है। लगेगी, क्योंकि वायु से बाँस रगड़ खा रहे हैं। अनुमान ज्ञान में इस प्रकार का व्यवहार दृष्टिगत होता है, किन्तु सुख उत्पन्न हुआ मैंने पाया, अथवा दुःख उत्पन्न हुआ मैंने पाया, ऐसा नहीं होता। तात्पर्य यह है,

कि उपस्थित सुख दुःख का ही ज्ञान होता है । इससे सुख दुःख अनुमान ज्ञान से पृथक है । एक और भेद करने वाले का वर्णन करते हैं ।

सतिचकार्यादर्शनात् ॥ ५ ॥

अर्थः—इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध होने पर या व्याप्ति का विचार होने पर भी सुख दुःख कार्य को न देखने से, क्योंकि न दुःख और सुख का केवल प्रत्यक्ष होता है और नहीं अनुमान होता है । इस वास्ते सुख दुःख ज्ञान के अनुकूल नहीं हो सकते । विशेष प्रकार का ज्ञान या तो प्रत्यक्ष ज्ञान होसकता है या अनुमान । इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध की अवस्था कपूर वा चंदनादि का प्रत्यक्ष है । अस्तित्वका अनुभव होने से और न हीं दूसरा अर्थात् चन्दनादि का अनुमान होने से अथवा अग्नि आदि का अनुमान होनेसे । सुख दुःख के अस्तित्व का अनुभव होने से विशेष प्रकार का ज्ञान भी सुखका एकार्थ नहीं । और भेद करने के वतलाते हैं ।

एकार्थसमवायिकारणान्तरेषु दृष्टत्वात् ॥ ६ ॥

अर्थः—सुख दुःख में समवायि कारण के अतिरिक्त कारण में एकार्थ अर्थात् सम्मिलित देखने से भी ज्ञान सुख दुःख से पृथक् है तात्पर्य यह है, कि सुख का असाधारण कारण जो एक ही अर्थ में समवेत है । वह धर्म है, सुख में राग अर्थात् सुख के कारण की इच्छा और उस के उपादान चन्दन कपूर आदि के वास्ते पुरुषार्थ किया जाता है । ऐसा ही दुख का असाधारण कारण अधर्म है । दुःख में द्वेष होता है इस वास्ते इस के कारणों को अर्थात् कांटे आदि में हानि है । इस प्रकार का जान कर दूर करने का यत्न करता है । तात्पर्य यह है कि सुख दुःख के धर्म और अधर्म का अनुमान में स्थिति से रहने वाला देखने से सांदेहिक ज्ञान के वास्ते एक ही वस्तु में रहने वाला होने के अतिरिक्त अन्य किसी असाधारण कारण की आवश्यकता नहीं । सांदेहिक ज्ञान में विशेषता के जानने की आवश्यकता होती है । वह दूसरा कारण नहीं होता । केवल मन का संयोग साधारण रीति से

आवश्यक होता है। यद्यपि स्मृति और संस्कार की सामान्यतया आवश्यकता है तो भी ज्ञान से भेद होना स्पष्ट प्रतीत होता है। इसी प्रकार के अनुभव से इस भेद को विचारने से अनुमान ज्ञान में यद्यपि सम्बन्ध की स्मृति की आवश्यक्ता है। और पक्ष और विशेष आदि का जानना भी आवश्यक है। तो भी दूसरा कहने मात्र से आजाता है। सो यह प्रमाण का मतलब सुख दुःख में पृथक् २ अनुभव होने में अपने साधिकरण और सजातीय का विशेष कारण से उत्पन्न होने से स्मृति की तरह है।

प्रश्न—यदि कारण के विभाग पर ज्ञान के अधिकार होने से सुख दुःख का अर्थात् सुख से दुःख का घड़े और खंभे की तरह भेद है, तो शरीर और उसके अवयव सिर, पैर, पीठ आदि का आपस में भेद न होना चाहिये क्योंकि उनके कारण परमाणु दोतक आदि अथवा रज वीर्य और रक्त आदि बराबर ही हैं।

एकदेशे इत्येकस्मिन् शिरः पृष्ठमुदरंमर्माणि तद्विशेषस्तद्विशेषेभ्यः ॥ ७ ॥

अर्थः—एक शरीर में पृथक् २ अवयव का जो विभाग है। वह भी उनके कारणों में विभाग के कारण से है। जैसे शिर एक भाग है पेट दूसरा, पीठ तीसरा ऐसे नाड़ि आदि उनके कारण हैं। एक से दूसरे में विशेषता और अजातित्व उपस्थित है। मतलब यह है कि जिन परमाणुओं से शिर बना है पैर उस से नहीं बने क्योंकि किसी भाग में अग्नि ज़ियादा कहीं जल ज़ियादा कहीं मट्टी ज़ियादा कहीं वायु ज़ियादा। मतलब यह है कि इन कारणों में भेद है। यद्यपि घड़ा और कपड़ा जिन परमाणुओं से बनते हैं उन में परमाणुपन सामान्य होने से उनका कारण एक ही है किन्तु परमाणुओं के विभागों में भेद है। किसी में और किसी प्रकार के परमाणु विशेष और किसी प्रकार के कम होने से उनमें भेद है। इसी कारण शरीर के अवयवों में जो भेद है वह कारण के भेद से है।

दशवां अध्याय का प्रथम आन्हिक समाप्त।

वैशेपिकदर्शन भाषानुवाद

दशवां अध्याय

आन्हिक दूसरा

आरम्भ।

अब प्रसंगानुसार यथावसर तीनों कार्यों का विशेष प्रकार से विभाग का विचार करते हैं।

कारणमितिद्रव्ये कार्य समवायात्॥ १॥

अर्थः—यह समवाय कारण है, इसका व्यवहार द्रव्य में मालूम करना चाहिये। यह किस प्रकार है, इस पर कहते हैं। द्रव्य ही में गुण और कर्म समवाय सम्बन्ध से रह सकते हैं। गुण और कर्म में द्रव्य नहीं रह सकता। जिसमें रह सकें, वही समवाय कारण होसकता है। और जिस में आधार होने की योग्यता नहीं, किन्तु वह दूसरों में ही रहने वाला है वह समवाय कारण नहीं होसकता। तात्पर्य यह है कि द्रव्य में ही समवाय कारण होता है।

प्रश्न—क्या द्रव्य केवल समवाय कारण ही होसकता है या कोई अन्य कारण भी?

उत्तर—जिस प्रकार कपड़े की उत्पत्ति में सूत की तारें समवाय कारण हैं उसी प्रकार तारों के संयोग के कपड़े के कारण से जुलाहे के अस्त्र जो इस संयोग के कारण हैं, वह निमित्त कारण है। क्यों कि संयोग जो समवाय कारण है उसकी उत्पत्ति वस्त्रों के बिना नहीं होसकती, इस वास्ते द्रव्य समवाय कारण और निमित्तकारण होता है, और समवाय कारण कर्म होता है अब यह बतलाते हैं कि कर्म किस प्रकार के कारण होते हैं।

कारणे समवायात् कर्माणि॥ २॥

अर्थः—कर्म असमवाय कारण होते हैं। समवाय कारण किसे कहते हैं? जिसमें कारण और कार्य के सम्बन्धको एक ही में मिल दे वह असमवाय कारण है वह कार्य में मिला देने से अथवा कारण में मिला हुवा रहने से इसमें कार्य में रहने वाला हो तो छोटा, और कारण में रहने वाला वैशेषिक शास्त्र में बड़ा कहा है।

प्रश्न—किस प्रकार संयोग, विभाग और संस्कार का कर्म कारण होता है?

उत्तर—कारण में रहने से कारण अर्थात् संयोगादि के समवाय कारण में रहने से। और कार्य में मिलने से संयोगादि का कर्म समवाय कारण है।

प्रश्न—रूप आदि गुण जो अवयव में रहते हैं। अवयवी के गुणों के किस प्रकार के कारण होते हैं।

तथा रूपे कारणैकार्थसमवायात् ॥ ४ ॥

अर्थः—यहां रूप उदाहरणों के वास्ते उपलक्षण अर्थात् नमूना उपस्थित कियागया है अर्थात् रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण पृथक्त्व, भार, स्यन्दन और द्रवत्व होने का उपलक्षण है। इसी प्रकार समवाय कारण में मिलने से रूप होता है। समस्त जो रूपादि गुण हैं उनका समवाय कारण जो अवयवी अर्थात् सम्पूर्ण द्रव्य है। उसके साथ मिले रहने से घड़ा होने से रूपादि को उत्पन्न करता है। ऐसा प्रत्येक स्थान में विचार लेना चाहिये। शब्द "च" से यह बतलाया कि कहीं रूपादि निमित्त से होते हैं। द्रव्य के उत्पन्न करने में संयोग, जो समवाय कारण है उस के और कारणों से निर्बलता को बतलाते हैं।

कारण समवायात् संयोगः पटस्य ॥ ५ ॥

अर्थः—कारण अर्थात् समवाय कारण में रह कर संयोग भी कपड़े आदि कार्य में मिलकर रहने से उसका समवाय कारण है अर्थात् कपड़े का असमवाय कारण संयोग भी है। यहां कपड़े से कुल कार्य को जानना चाहिये। यदि अवयव और

अवयवी का संयोग भी कपड़े आदि के बनने में असमवाय कारण है और कोई ऐसा मानते हैं, कि कारण में सम्मिलित होकर रहता है। अब यह बतलाते हैं कि संयोग कहीं बहुत बड़े कारण का होता है।

कारणाकारण समवायाच्च ॥ ६ ॥

अर्थः—मट्टी के गोले के अवयव में जो संयोग है। जिस का नाम परिचय है। वह गोलेमें महत्व उत्पन्न करता है और कारणमें मिलकर रहने से ही वह संयोग महत्व को उत्पन्न करता है। तात्पर्य यह है, कि परमाणुओं के संयोग से महत् पदार्थों में महत्व पाया जाताहै। इस प्रकार समवाय कारण की विशेषता को बतलाकर अब निमित्त कारण का वर्णन करते हैं।

संयुक्त समवायादग्ने वैशेषिकम् ॥ ७ ॥

अर्थः—अग्नि में जो विशेष गुण गरमी है वह पाकज अर्थात् निमित्त गरमी वाली वस्तु में निमित्त कारण है यह उपलक्षण केवल ज्ञान के लिये है। सब निमित्त कारण की विशेषता वाले हैं। बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, घृणा प्रयत्न, धर्म, अधर्म, विश्वास आदिनिमित्त कारणकी विशेषता सुख आदिमें है। इस भेदको दिखलाते हैं। अब सम्पूर्ण शास्त्र को समाप्त करने से प्रथम वेदों के प्रमाण को दृढ़ करने के वास्ते दिखलाते हैं। यद्यपि यह दोनों सूत्र प्रथम भी आचुके हैं। इनकी पुनरावृत्ति इस लिये है, कि न तो कोई वैदिक कर्म निष्फल जाता है और नहीं बिना वेद के तत्व ज्ञान मालूम हो सकता है।

दृष्टानां दृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोगोऽभ्युदयाय ॥ ८ ॥

अर्थः—जो कर्म प्रमाण से मालूम हुवे हैं, यज्ञ, दान, स्नान, संस्कार आदि जो शास्त्र ने प्रयोजन दिखलाया है। उसको मालूम करके जैसे कहा, कि जिसको स्वर्ग की इच्छा हो वह देव यज्ञ करे। अथवा सुख की इच्छा वाला अग्नि होत्र करे। इस प्रकार की शिक्षा में बुद्धि के अनुसार फलता हो। और किसी स्थान पर अर्थवाद होता है, जिसका इच्छा, स्तुति निन्दा, प्रकृति और पुराकल्प रूप से अच्छे, कर्मों का संचार करना

होता है। जिसकी स्तुति की जाती है उसका फल सदैव लाभकारी होता है। यदि संसार में लाभकारी न हो तो समझ लेना चाहिये, कि यह मोक्ष का साधन है इसी प्रकार जिसकी निन्दा की जाती वह हानि कारक होता है। यदि यहाँ उसकी हानि मालूम न हो तो मोक्ष में अनुरोधक हो। जैसे वेद में कहा है, कि निष्काम दूसरों का भला करो अब इससे संसार में कोई फल नहीं मिलता, तो यह कर्म निष्फल न होगा, किन्तु, अन्तःकरण को शुद्ध करके मोक्ष की तरफ ले जायगा, और मोक्ष के कारण विना ईश्वर उपासना और ज्ञान के योग्य बनावेगा। वेदों ने बतलाया, कि जीव की हिंसा मत करो माँस मत खाओ, सुरापान मत करो। यदि इन बातों से संसार में कोई हानि दृष्टिगत न होवे तो भी मन को खराब करके ईश्वरोपासना और ज्ञान के योग्य नहीं रहने देता। जिससे लाभ के स्थान में जीव हानि कारक परमाणुओं को प्राप्त कर दुःख पाता है। तात्पर्य यह है, कि वेदका बतलाया हुआ कर्म निष्फल कभी नहीं जाता। इसलिये वेदोक्त कर्म करने चाहियें॥

प्रश्न—वेदोक्त कर्म निष्फल क्यों नहीं जाता?

उत्तर—यद्यपि मन और इन्द्रियों के दोष से, भ्रम, आलस्य, राग, द्वेषादि के कारण अशुद्धि होती है, किन्तु ईश्वर में कोई इस प्रकार का दोष नहीं है इस वास्ते वेदों में किसी प्रकार की खराबी का होना असम्भव है।

प्रश्न—ईश्वर ने वेद बनाया है इसमें भी सन्देह है?

उत्तर—तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यमिति ॥ ९ ॥

अर्थः—यह सूत्र प्रथम भी आया था अर्थात् प्रतिज्ञा विषयक था अब जाँच करने के पश्चात् परिणाम विषयक दिखलाते हैं। उस ईश्वर अर्थात् सर्वव्यापक परमात्मा का उपदेश होने से आम्नाय जो वेद है उसको तत्व ज्ञान अर्थात् मोक्ष के वास्ते प्रमाण स्वीकार करना चाहिये। विना वेद के बतलाये हुये नियमों के ईश्वर, जीव, प्रकृति के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान न होने से। और यथार्थ ज्ञान न होने के कारण कर्म से मोक्ष होना सम्भव नहीं। वेद किसी मनुष्य के बनाये हुये नहीं

यदि कहो वाक्य होने से मनुष्य का बनाया हुआ है तो वेद के अन्दर जो आध्यात्मिक विद्यायें हैं। उनका बनाने वाला कोई मनुष्य होना असम्भव है जिस प्रकार सूर्य का बनाने वाला कोई मनुष्य नहीं हो सकता क्योंकि मनुष्य इन्द्रियों द्वारा जान कर ही उपदेश कर सकता है किन्तु वेदों में ऐसी बातें हैं जो जो प्रमाणों से साबित होने पर भी इन्द्रियों से अनुभव नहीं हो सकती। इसलिये वेद ऐसे सर्वज्ञ का बनाया वाक्य है, जो प्रत्येक शारीरिक, आत्मिक और बाहर के ज्ञान का पूरी तरह जानने वाला हो क्योंकि ऐसा कोई मनुष्य संसार में हो ही नहीं सकता जो कि सर्वज्ञ हो। क्योंकि किसी सीमा वाले विषय में अनन्त गुणों का होना सम्भव ही नहीं क्योंकि प्रत्येक प्रमाण के विरुद्ध हैं। और न ही कोई ऐसा सीमा वाला पदार्थ दृष्टिगत होता है, कि जिस में अनन्त गुण हों। इस वास्ते वेदों में जो प्रत्येक यथार्थ ज्ञान का भण्डार है। वह किसी मनुष्य के मस्तिष्क का परिणाम नहीं किन्तु ऐसे सर्वशक्तिमान् का वाक्य है जिसका सर्व विद्याओं पर प्रभाव हो। किन्तु प्रत्यक्ष और परोक्ष के ज्ञानमें भेद होता है। परन्तु उपदेश से मालूम होता है कि उसके कर्त्ता को सब ज्ञान प्रत्यक्षवत् मालूम होते हैं। जिससे केवल सर्वव्यापक परमात्मा के अतिरिक्त किसी किसी जीव को सर्वपदार्थ प्रतीत नहीं हो सकते। इस वास्ते वेद का उपदेश करने वाला सर्व व्यापक परमात्मा ही है। जो स्वर्ग, नर्क, आत्मा, प्रकृति आदि सम्पूर्ण विषयों को प्रत्यक्षवत् मालूम कर रहा है।

वैशेषिक दर्शन भाषानुवाद का दसवां अध्याय समाप्त।

परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८ स्वामी अनुभवानन्द सरस्वती जी के शिष्य श्री स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती का किया हुवा वैशेषिक दर्शन का भाषानुवाद समाप्त हुवा।

वैदिक पुस्तकालय मुरादाबाद का सूक्ष्म सूचीपत्र।

शास्त्र

सांख्य दर्शन

स्वर्गीय श्री स्वामी दर्शनानन्द जी कृत अनुवाद सहित इस की उत्तमता का प्रमाण यही है कि इस का यह चौथा संस्करण है। मूल्य १)

न्याय दर्शन

इसका भी अनुवाद स्वामी जी की ही ओजस्विनी लेखिनी से निकला है। इससे स्वामी जी की प्रौढ तर्क शैली का अच्छा [प]रिचय मिलता है मूल्य० १॥)

वैशेषिक दर्शन

इसका अनुवाद भी स्वामी [द]र्शनानन्द जी ने ही किया है जो [वि]चारशीलों के देखने योग्य है [मू]ल्य १॥)

योगदर्शन

व्यासभाष्य संस्कृत भाषा और भोजवृत्तिसहित

यह अनुवाद स्वर्गीय पं० रुद्रदत्त जी संपादकाचार्य का किया हुआ है। इसका क्रम इस प्रकार है:-

पहले सूत्र फिर उसका पदार्थ फिर भावार्थ पुनः उसी सूत्र पर व्यासकृत भाष्य फिर उसका अनुवाद पुनः भोजवृत्ति फिर उसका अनुवाद इस रीति पर यथासम्भव सूत्र का आशय व्यक्त और सरल किया गया है। चतुर्थ संस्करण का मूल्य ३)

ध्यानयोगप्रकाश

इस में अष्टाङ्ग योग और उसकी क्रियाओं का बड़ी ही उत्तम रीति से निरूपण किया गया है। योग की क्रिया का अभ्यास करने के लिये यह पुस्तक बड़ी उपयोगी है। जो एकवार इसको पढ़ेंगे उनको योग सम्बन्धी सभी हाल ज्ञात होजायगा। मूल्य १॥)

अष्टोपनिषद्

ईश से लेकर ऐतरेय पर्यन्त ८ उपनिषदों का सरल भाषानुवाद है। मूल श्लोक के पश्चात् पदार्थ अन्वय पूर्वक प्रत्येक पद का

अर्थ दिया गया है। पुनः भावार्थ में उसका भलीप्रकार स्पष्टीकरण किया गया है। व्याख्या सरल और हृदय ग्राहिणी है। मू० २)

वैदिक विवाहादर्श

इस में वैदिक विवाह का आदर्श युक्ति और प्रमाण पूर्वक दिखलाया गया है। यह पुस्तक श्री मास्टर आत्माराम जी राय बाहदुर बड़ोदा की रची हुई है मूल्य १।)

बाल सत्यार्थप्रकाश

सत्यार्थप्रकाश के गूढ़ सिद्धान्त सरल भाषा में दिये गये हैं। बालकों के लिये बड़ा उपयोगी है प्रत्येक पाठशाला में यह पढ़ाना उचित है मूल्य ॥=)

शुद्धनामावलि

इस पुस्तक में चारों वर्णों के स्त्री पुरुषों के लिये ३४०० नाम ऐसे ललित और मधुर दिये गये हैं जो श्रुति प्रिय होने के अतिरिक्त भाव बोधक भी हैं। हर घर में यह पुस्तक रहनी चाहिये मूल्य ॥=)

भीष्मपितामह

कौन हिन्दू है जो आज इस महाभारत के हीरो के नाम से अपरिचित होगा। उन्हीं का यह जीवनचरित्र महाभारत से बड़ी खोज के साथ लिखा गया है। भाषा बड़ी रोचक और प्रभावउत्पादक है। मूल्य ।=)

॥ छत्रपति शिवाजी ॥

इस महाराष्ट्र वीर के नाम को आज कौन भारतवासी है, जो गर्व के साथ नहीं लेता। हिन्दू धर्म की रक्षा के लिये जिस वीरता व दृढ़ता और साहस से हिन्दू धर्म पर आक्रमण करनेवालों का मुकाबला किया वह इतिहास पाठकों से छिपा नहीं है। उसी शिरोमणि का यह जीवन चरित्र और वह भी देश भक्त लाला लाजपतराय की कलम का लिखा हुवा किस हिन्दू को अवाँछनीय होगा मूल्य सिर्फ ॥=)

श्रीकृष्ण का जीवन चरित्र

गीतोपदेष्टा भगवान श्रीकृष्ण के नाम को कौन हिन्दू नहीं जानता उन्हीं का यह प्रभावोत्पादक जीवन चरित्र श्रीमान् परमदेश भक्त ला० लाजपतराय की ओजस्विनी लेखनी से निकला है। कृष्ण जैसे चरित्र नायक और लाजपतराय जैसे लेखक फिर भला किसके लिये आदरणीय न होगा मूल्य१)